प्रसाद के नाटक

रचना और प्रक्रिया

डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

स्कन्द

श्रौर

देवसेना

के

लिए

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक प्रसाद के अध्येताओ एवं विचारकों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है। हिन्दी-नाटक को प्रसाद ने बहुत कुछ दिया है—साहित्य के रूप में भी और सिद्धान्त के स्तर पर भी। मैंने उनका आकलन अपनी ही दृष्टि से किया है। अपनी सीमा पहले ही निवेदित कर दूँ। मुझे प्रसाद के कवित्व ने आकर्षित किया था। हो सकता है कि उनके नाटकों के काव्य-गुण ने ही मेरे अवचेतन को बाँध लिया हो। जो भी हो, कृति आपके सामने है और आप ही उसके वास्तविक निर्णायक है। संभव है बहुत-सी बातें परम्परा से अलग, नवीन या कि विरोधी लगें। मेरी निश्चित धारणा है कि प्रसाद के नाटको की सही समझ के लिए न तो शास्त्रीयता का सलीब ढोना ही अपेक्षित है और न ही आधुनिकता और सर्जनात्मक समीक्षा के नाम पर निर्मक्त और निस्संग होना। स्वयं प्रसाद भी इन दोनो अतिवादो से मुक्त थे। यह नही कि दोनो दिशाओ मे उनकी पैठ गहरी नही थी बरन् यह कि दोनो को थहाने के बाद उन्होने अपना निजी अभिव्यक्ति-पथ निर्मित किया था। वे राहो के अन्वेषी थे, सन्तोषी तैर्थिक नही। उनका एक 'मिशन' जरूर था, किन्तु वे धारणाग्रस्त या कि प्रतिबद्ध 'मिशनरी' नही थे। यही कारण है कि सुखान्त और ट्रैजिक, रूढ रस-वादिता और दायित्वहीन अतियथार्थ, पुराणेतिहास और आधुनिकता, शास्त्रीयता और स्वैराचरण आदि के एकान्त कटघरो में उन्हे रखने में काफी दिक्कत का सामना करना होता है, जिसके साक्ष्य कम नही है। है भी यह गलत 'एप्रोच'। मैंने प्रयत्न किया है कि प्रसाद के सही मन्तव्य और उनकी वास्तविक विधा-दृष्टि को उभार सकूँ। मैंने विरोध-तत्व और नाटकीय क्रियाशीलता को केन्द्र में रखकर उनके नाटको पर विचार किया है। अन्तिम रास्ता यह न भी हो, तो भी वह पथ कही इसी ओर से गुज़रता है। इस दिशा मे अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है। प्रसाद के ही शब्दो में—'मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो, तो ज्ञान की वृद्धि असम्भव हो जाय।'

मेरी योजना सम्पूर्ण प्रसाद-साहित्य के आकलन की थी। सम्प्रति उसका एक अंश ही दे पा रहा हूँ। देखूँगा कि अपने सकल्प में कहाँ तक कृतकार्य होता हूँ। कृतज्ञ उस पूरे माहौल के प्रति हूँ जिसने मुझे दिशा और दृष्टि दी। आचार्य डॉ० भगीरथ मिश्र का आशीर्वाद मेरे कर्मपथ का अक्षय पाथेय है। डॉ० केसरी नारायण शुक्ल और डॉ० भगवती प्रसाद सिंह का निर्व्याज आत्मीयतापूर्ण सद्भाव मेरे लिए गौरव और सन्तोष का विषय है। आदरणीय मित्रवर डॉ० रामचन्द्र तिवारी का प्रेरणापूर्ण सम्मर्थ मुझे सदैव बल देता रहा है। कृतज्ञता-ज्ञापन की धृष्टता न करूँगा उसे मै अपना अधिकार समझता हूँ—स्नेहाधिकार, जिसकी मुझे सदैव अपेक्षा रहेगी।

प्रसाद-साहित्य विशद है और उसके विचारक अध्येता विपुल। यदि किसी एक को भी इस कृति से कुछ मिल सका तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

—जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

अनुक्रम

●

हिन्दी नाटक और प्रसाद : एक पूर्व भूमिका

हिन्दी-साहित्य मे प्रसाद एक बहुत बडा नाम है। प्रसाद का विराट् व्यक्तित्व अपने आपमे एक साहित्यिक संस्थान जैसा है। उनके जैसी प्रखर और बहुमुखी प्रतिभा बहुत कम साहित्यकारो मे देखने को मिलती है और इस दृष्टि से वे विश्व के कुछ गिने-चुने साहित्य-कर्मियो की शीर्षपक्ति में स्थान रखते है। उन्होने न केवल हिन्दी की समस्त प्रचलित साहित्य-विधाओ मे सर्जना की, वरन् उनके विशिष्ट रचनात्मक कीर्तिमान भी स्थापित किये और सर्जन के अनेकानेक नये आयाम भी प्रस्तुत किये। वे ऐसे साहित्य-स्रष्टा हे जिन्हे छूकर इतिहास का प्रवाह यो ही आगे नही बढ जाता, प्रत्युत् जिनके पास रुककर उसे नवीन जीवन-सामग्री को आत्मसात् करना होता है। मूलत· वे कवि थे और एक समूचा काव्य-युग उनसे प्रेरित और प्रवर्तित हुआ है किन्तु नाटक, कहानी, उपन्यास और निबन्ध के क्षेत्रों में भी उनका कम योगदान नही। हर विधा में उन्होने नये अध्याय जोडे और युगपुरुष के दायित्व का वहन करते हुए उसके नवयुग की नीव रखी। नाटक के क्षेत्र में उनका प्रदेय महान् एव सर्वतोमुखी है। उन्हें हिन्दी के साहित्यिक नाटको का प्रथम रचनाकार कहा जा सकता है। यो, उनसे पहले भारतेन्दु ने इस दिशा मे भगीरथ प्रयास किया था और जीवन्त साहित्यिकता का एक स्पष्ट प्रतिमान भी सामने रखा था, किन्तु उसमे साहित्य की वैसी उदात्त प्राणवत्ता प्रायः नही थी। वस्तुत· भारतेन्दु का युग संघर्ष और सक्रमण का था। पारसी-स्टेज को प्रतिस्थापित करने की धुन में उन्होने तथा उनके समसामयिक नाटककारो ने वैविध्यपूर्ण सर्जनाएँ की और स्वाभाविक रूप से ही इस होड में प्रवेग की प्रधानता है गहराई की नही। एक प्रकार से वे हिन्दी नाटक के प्रथम प्रयोक्ता थे। परम्परा के रूप मे 'रुक्मिणीहरण', 'पारिजातहरण' (विद्यापतिः चौदहवी शती), 'विज्ञानगीता' (केशवदास), 'करुणाभरण' (लछिराम), 'हनुमन्नाटक' (हृदयराम), 'प्रबोधचन्द्रोदय' (यशवन्त सिंह), 'शकुन्तला' (निवाज), 'देवमायाप्रपंच' (देव), 'माधवानल कामकन्दला' (आलम), 'आनन्द रघुनन्दन' (विश्वनाथ सिंह), 'रामलीला विहार नाटक' (कृष्ण शर्मा), 'जानकीरामचरित नाटक' (हरिराम) और 'प्रबोधचन्द्रोदय' (ब्रजवासीदास ' उन्नीसवी शती) के माध्यम से जो कुछ मिला था, उसमें कथात्मकता और पद्यात्मक वर्णन की ही विशेषता थी—नाट्य-कर्तृत्व की कोई अवधारणा उससे नही बन सकी थी। इस दिशा मे पहले गोपालचन्द्र (भारतेन्दु के पिता) के 'नहुष' (१८५९) से होती है, जिसे हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक कहा जाता है। इसके अनन्तर भारतेन्दु ने अनेकानेक मौलिक एव अनूदित नाटक प्रस्तुत किये। उनके समसामयिको मे श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, कृष्णदेवशरण, देवकीनन्दन त्रिपाठी, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, ज्वाला प्रसाद मिश्र,

दुर्गाप्रसाद मिश्र, बलदेव प्रसाद मिश्र तथा तोताराम वर्मा ने इस दिशा मे उल्लेखनीय योगदान किया। भारतेन्दु अपने समक्ष एक साहित्यिक प्रतिमान रखकर नाट्य-रचना मे अग्रसर हुए थे, किन्तु वे सामाजिक व्यग्य और जनात्मक प्रहसन के स्तर से ऊपर नही उठ सके। उनके सहयोगियो की रचनाशीलता उनसे बेहतर नही। सस्कृत, बँगला और अंग्रेजी नाटको के अनुवाद अवश्य अच्छे किये गये। भारतेन्दु, राजा लक्ष्मण सिंह, सीताराम, देवदत्त तिवारी, रामेश्वर भट्ट, शीतलाप्रसाद, बालमुकुन्द गुप्त, ज्वालाप्रसाद मिश्र, कृष्णदेव शर्मा, रत्नचन्द्र आर्या, पुरोहित गोपीनाथ, मथुरा प्रसाद, रामकृष्ण वर्मा, उदितनारायण आदि ने इस क्षेत्र में बहुत काम किया, किन्तु इनके अनुवादो से हिन्दी-साहित्य की ही समृद्धि हुई, हिन्दी-नाटक की नही। इस साहित्यिक नाट्यधारा के समानान्तर पारसी रंगमचीय पद्धति की रचनाएँ लिखी जाती रही, जिनकी शृङ्खला रौनक बनारसी, हुसेन मियाँ जरीफ, विनायक प्रसाद तालिब, नारायण प्रसाद बेताब, आगा हश्र, राधेश्याम कथावाचक, हरिकृष्ण जौहर आदि लेखको के माध्यम से प्रसाद के युग तक चली आयी है। इनकी मिश्रित भाषा, भोड़े अभिनय, भद्दे गीत-नृत्य तथा निम्नस्तरीय कथ्य के विरोध में तो भारतेन्दु ने रंगान्दोलन ही छेडा था, अत इनसे हिन्दी के साहित्यिक नाटक का दूर का भी सम्बन्ध नही। भारतेन्दु, जनार्दन भट्ट, शिवपूजन सहाय, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा प्रसाद ने पारसी स्टेज की बराबर भर्त्सना की है। विडम्बना यह है कि पारसी रगमंच के विरोध के बावजूद हिन्दी-नाटक के आरम्भिक रचनाकार उसकी स्थूल प्रवृत्तियो से मुक्त नही हो पाये। द्विवेदी-युग मे बदरीनाथ भट्ट, मिश्रबन्धु, माधव शुक्ल, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि ने अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक नाट्य-कृतियाँ प्रस्तुत की, किन्तु उनसे भी हिन्दी-नाटक का साहित्यिक मानदण्ड नही बन पाया। फिर, वे मंचीयता की दृष्टि से बहुत लचर भी हैं। उनका स्तर साहित्य और मच—दोनो ही दृष्टियो से साधारण ही रहा। इस प्रकार प्रसाद को विरासत के रूप में जो कुछ मिला—उनके अनुसरण के योग्य नही था। अपनी प्रकृति के अनुरूप उन्होने भारतेन्दु और पारसी स्टेज के कुछ सूत्र प्रारम्भिक अवलम्ब के रूप में चुन लिये और धीरे-धीरे उन्हे नगण्यतर बनाते हुए अपनी साहित्यिक रचनाशीलता का सम्मूर्तन किया। उन्होने हिन्दी-नाटक में सास्कृतिक अभिरुचि और बौद्धिकता का अभिनिवेश किया, उसके जनात्मक स्तर को सुरुचिपूर्ण उदात्तता, विदग्धता, कवित्व और कल्पना की ऊँचाइयो तक उठाया। उनका आविर्भाव हिन्दी-नाटक के कथ्य और रंगशिल्प—दोनो ही क्षेत्रों मे एक साहित्यिक क्रान्ति का समारम्भ करता है, जिसकी विकास-परम्परा उदयशकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रागेयराघव, रामकुमार वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर आदि के कर्तत्व में निजी दीप्तियो के साथ विद्यमान है।

प्रसाद को हिन्दी-नाटक के कुछ विशिष्ट रूपो के प्रवर्तन का भी श्रेय दिया जाना

चाहिए। 'कामना' को हिन्दी का प्रथम अन्यापदेशिक नाटक कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती 'विज्ञानगीता' (केशव), 'देवमायाप्रपच' (देव) तथा 'पाखड-विडम्बन' (भारतेन्दु) नाटक इस क्षेत्र मे कोई प्रतिमान नही स्थापित कर सके थे। भारतेन्दु वैसा कर सकते थे, किन्तु उन्होने 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीयाक का अनुवाद भर किया। प्रसाद ने पहली बार 'कामना' के रूप मे अन्यापदेश की पद्धति को हिन्दी-नाटक मे रूपायित किया। आगे चलकर इसकी परम्परा का विकास 'छलना' (भगवती प्रसाद वाजपेयी), 'नवरस' (सेठ गोविन्ददास), 'नक्शे का रग' (कुमार हृदय), 'मादा कैक्टस' (लक्ष्मीनारायण लाल) आदि श्रेष्ठ प्रतीकवादी कृतियो मे हुआ।

'एक घूंट' को आधुनिक एकाकी की प्रवर्तक कृति कहा जा सकता है। यो, भारतेन्दु ने 'विषस्य विषमौषधम्' के द्वारा इस दिशा मे पहल की थी, किन्तु वह सस्कृत 'भाण' की ही परम्परा को अधिक प्रस्तुत करता है। एकाकी के आधुनिक रूप में बौद्धिकता एव मानसिक विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रधान है और वह जीवन के किसी सघन पक्ष की समस्याओ पर केन्द्रित होता है। कहना न होगा कि एकाकी का यह रूप पाश्चात्य ढंग का है, जिसका हिन्दी में प्रथम पूर्ण निदर्शन भुवनेश्वर के 'कारवाँ' (१९३५) मे हुआ। इससे पूर्व रामकुमार वर्मा ने १९३० मे 'बादल की मृत्यु' नामक एकाकी लिखा था, जिसमे पाश्चात्य नाट्यविधि का अनुसरण किया गया था। प्रसाद ने 'एक घूंट' की रचना इससे एक वर्ष पूर्व १९२९ मे की थी। इसमें आधुनिक एकाकी की समूची परिकल्पना तो चरितार्थ नही हुई, किन्तु यह उसके बहुत निकट अवश्य है। इस प्रसंग में अज्ञेय का मत (हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य) महत्वपूर्ण हो सकता है—'प्रसाद का 'एक घूंट' भी एकाकी है। . ... रूपविधान की दृष्टि से वह आधुनिक एकाकी के बहुत निकट है और ऐसा माना जा सकता है कि आधुनिक एकाकी की परम्परा वही से आरम्भ होती है।' डा० सोमनाथ गुप्त ने भी 'एक घूंट' से ही हिन्दी-एकाकी का आरम्भ माना है। इस प्रकार प्रसाद को आधुनिक एकाकी के प्रवर्तन का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए—कम-से कम इस दिशा मे निर्दिशायामी प्रयोग सबसे पहले उन्ही ने किया। कथ्य की दृष्टि से इसे हिन्दी का पहला 'थीसिस प्ले' कह सकते है, जिसमे गोष्ठीनुमा बौद्धिक बहस का वातावरण प्रधान होता है।

गीतिनाट्य भी आधुनिक नाटक का एक विशिष्ट रूप है, जिसका आरम्भ प्रसाद के 'करुणालय' से होता है। इसकी रचना १९१२ में हुई थी। निराला ने 'पचवटी प्रसंग' की रचना बहुत बाद में की। 'अनघ' (मैथिली शरण गुप्त), 'उन्मुक्त' (सियाराम शरण गुप्त), 'स्वर्णविहान' (हरिकृष्ण प्रेमी), 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा', 'कालिदास', (उदयशकर भट्ट), 'तारा' (भगवतीचरण वर्मा) तथा 'अन्धा युग' (भारती) उसी परम्परा को आगे बढानेवाली कृतियाँ हैं, जिसका समारम्भ 'करुणालय' से हुआ था।

'ध्रुवस्वामिनी' इसी प्रकार समस्या-नाटक की दिशा मे एक प्रारम्भिक प्रयास है।

अपने आपमें यह समस्या नाटक तो नहीं है, किन्तु उसकी कुछ प्रवृत्तियो को यह अवश्य हिन्दी मे सर्वप्रथम प्रस्तुत करता है। 'एक घूंट' की भाँति इसमे भी 'थीसिस प्ले' जैसा वातावरण है। कह सकते है कि प्रसाद ने इस नाट्यकृति के माध्यम से समस्या नाटक और थीसिस प्ले का एक समन्वित रूप प्रस्तावित किया है, जो पाश्चात्य पद्धति पर अधिकतर आधृत होते हुए भी भारतीय नाट्यदृष्टि की अवहेलना नही करता। आगे चलकर लक्ष्मीनारायण मिश्र, उग्र, गोविन्ददास, अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी आदि नाटककारो ने इस क्षेत्र मे श्रेष्ठ रचनाएँ प्रस्तुत की। कहना न होगा कि प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' के माध्यम से समस्या-नाटको के पनपने के लिए जो जमीन तैयार कर दी थी—उसी पर परवर्ती फसल अपने निजीपन के साथ उगी है। प्रसाद को इस दिशा मे प्रवर्तन का श्रेय नही, किन्तु साहसिक प्रयोग की प्राथमिकता का गौरव अवश्य दिया जाना चाहिए।

हिन्दी के नाट्यविधि में भी प्रसाद ने बहुमुखी क्रान्ति उपस्थित की। उन्होंने हिन्दी नाटक को भारतीय शास्त्ररूढि एव पारसी-स्टेज के जडताचक्र से मुक्त करके उसे यथोचित यथार्थ और स्वाभाविकता का नाट्य-स्तर दिया। अपनी प्रकृति के अनुरूप वे आरम्भ मे इनकी प्रमुख प्रवृत्तियो को अपनाकर सर्जनरत हुए और क्रमश उन्हे प्रतिस्थापित करते गये। उनके आरम्भिक नाटको मे नान्दीपाठ, सूत्रधार-नटी सवाद, भरतवाक्य की रूढियाँ मिल जायेंगी और पारसी स्टेज का भाषिक सस्तापन, जनात्मक गीतबाहुल्य, साधारण प्रहसन एव सवादीय हल्कापन भी उनमें विद्यमान है—किन्तु यह सब मानो परम्परा का नमूना पेश करने के लिए ही है, प्रसाद की प्रकृत रुचि का प्रतिनिधित्व इनसे नही होता। उनकी एतद्विषयक अवधारणाएँ बहुत कुछ 'अजातशत्रु' में समग्रत. 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' मे चरितार्थ हुई है। उनमे भाषा, संवाद, हास्य, गीत-सृष्टि आदि की स्तरीयता है और रूढिगत अस्वाभाविक अभिनय-युक्तियों के स्थान पर वास्तविकता और यथार्थता की नाट्यभूमि है। आदर्शवादी धारा की नाट्यपद्धति की निर्जीवता और निष्क्रियता दूर करने के लिए उन्होने विरोध-तत्व को अपने कथ्य के केन्द्रीय कर्मसूत्र के रूप मे रखा। इससे हिन्दी-नाटक को सक्रियता का एक जीवन्त आधार प्राप्त हुआ। द्वन्द्व को दुहरा बनाकर उन्होने उसे आन्तरिक क्रियाशीलता भी दी। अतः संघर्ष की जैसी मार्मिक भावभूमि उन्होने चारित्रिक वैचित्र्य के माध्यम से प्रस्तुत की है, वह उनकी निजी देन कही जा सकती है। यथार्थवाद की कृत्रिमता और एकपक्षीयता का स्पष्ट विरोध करते हुए उन्होने उसके व्यक्तिवैचित्र्य को जितने सौष्ठव के साथ अपने नाटकों में चरितार्थ किया है, वह देखते ही बनता है। 'स्कन्दगुप्त' इसीलिए उनका कीर्ति-स्तम्भ बन गया है। प्रसाद मूलतः रसवादी थे, जिसका आदर्शवाद के साथ सनातन सम्बन्ध है, फिर भी पाश्चात्य यथार्थवादी पद्धति के वैशिष्ट्य का तिरस्कार उन्होने कभी नही किया। यही कारण है कि जहाँ उनके नाटकों मे उच्च सास्कृतिक

आदर्शों का सम्मूर्तन हुआ है, वही हत्या, आत्महत्या, मद्यपान, श्मशान आदि के रोमान्चक दृश्य भी विद्यमान है। एक ओर उनके नाटक आदर्शविधायक फलागम का रूप चरितार्थ करते है, तो दूसरी ओर वे ट्रैजिक वातावरण की सरचना करना भी नही भूलते। न उनकी नाट्य-सर्जना एकान्त सुखात्मक है और न ही निविड त्रासद। उसे तो बस प्रसादीय ही कहा जा सकता है। प्रसाद किसी भी प्रकार की रूढि के अन्धभक्त नही। नाट्य-क्षेत्र मे भी उनके व्यक्तित्व की यह मौलिकता विद्यमान है। यह पूर्वाग्रहमुक्त उदार नाट्यदृष्टि उनका विशिष्ट प्रदेय है।

ऐतिहासिक वृत्ति-भूमि को युगीन सन्दर्भ देना प्रसाद का एक निजी गुण है। उनके पूर्ववर्ती नाटककारो ने भी ऐतिहासिक और पौराणिक वस्तुविषयो को लेकर प्रभूत नाट्यसृष्टि की थी, किन्तु वे उन्हे अपने युग से नही जोड सके थे। उनके पास कैसी व्यापक दृष्टि का अभाव था। प्रसाद ने सर्वप्रथम अतीत की वर्तमानता को पहचाना और उसे नाटको मे अभिव्यक्ति दी। उनके युग का राष्ट्रीय जागरण उनकी सभी प्रमुख कृतियो में पात्रो और घटनाओं के माध्यम से प्रतिबिम्बित होता रहा है। जनतन्त्र की उद्दाम लहर, नारी के जाग्रत स्वाभिमान की तेजोमयी मुद्रा, वैज्ञानिक सभ्यता की बौद्धिकता एव गाधीवादी समाजदर्शन की छाप उनके नाटको मे अपनी औचित्यपूर्ण वास्तविकता के साथ उभरती रही है। प्रसाद जीवन की वास्तविक सनातनता को पहचानते थे, अतः इतिहास उनके लिए मृत और अतीत देशकाल तक ही सीमित नही था। अपनी पारगामी दृष्टि से उन्होने काल की अखण्डता को देखा था और अपनी अनुभवसिद्ध गहन मनीषा से चिरन्तन मानवीय सत्य को समझा था। यही कारण है कि उनके नाटको के पात्र एव उनकी प्रमुख घटनाएँ अपने विशिष्ट नामरूप के बावजूद प्रसाद के युग से जुडी हुई हैं और सशक्त व्यजना का सौन्दर्य उत्पन्न करती हैं। प्रसाद के समसामयिक और परवर्ती रचनाकारो ने इस युगीन सन्दर्भ को आत्मसात् करके सभी विधाओ मे श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत की है। साहित्य की प्राणवत्ता के इस गौरवपूर्ण अनुष्ठान का समारम्भ प्रसाद ने ही अपनी नाट्यकृतियो के माध्यम से किया था।

भाषा और रंगमंच के स्तर को उठाने का दृढ सकल्प भी प्रसाद की निजी विशेषता है। उन्होने अपने को साधारण सामाजिक के स्तर तक कभी नही गिराया। उनका दृढ मन्तव्य था कि नाट्यविधि और रगमंच को नाट्यकृति के अनुरूप विकसित होना चाहिए और उसके माध्यम से प्रेक्षक की रुचि का संस्कार किया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होने अपने निबन्धो मे सैद्धान्तिक बहस भी प्रस्तुत की और नाट्यकृतियों मे अपनी मान्यताओ को चरितार्थ भी किया। भाषा की एकतन्त्रता बनाये रखने के वे कट्टर हिमायती थे। उनके मतानुसार चारित्रिक विशिष्टता भावो और विचारों के आधार पर समझी जा सकती है, न कि भाषिक बहुरूपता के द्वारा। निश्चय ही इसके सही प्रस्तुतीकरण के लिए प्रशिक्षित एवं कुशल अभिनेताओ की आवश्यकता है, जिसके

लिए रगकर्मियो को प्रयास करना होगा। अपनी कटु आलोचनाओ के बावजूद प्रसाद अपने इस विचार पर दृढ रहे और उनकी इसी दृढता ने हिन्दी मे अभिनेयता से सम्पन्न सुरुचि-पूर्ण पाठ्य नाटको की परम्परा को जन्म दिया।

कवित्व प्रसाद के नाटको का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम है। उनके प्रमुख नाटको का रूपबन्ध महाकाव्यो जैसा है। वैसी ही भावात्मक उच्चता, वैसे ही जीवन की समग्रता और वैसी ही रसात्मकता नाटको में भी है, जैसी कि महाकाव्यो मे होती है। विशुद्ध प्रगीतो के अभिनिवेश से इस विशेषता को अधिकाधिक सम्पोषण मिला। प्रसाद पहले कृती है, जिन्होने नाट्य-गीतो का औचित्य सिद्ध कर दिया है। उनके पूर्ववर्ती रचनाकारो के नाटकीय गान साहित्यिक तो हैं ही नही, चरित्र अथवा घटना के सन्दर्भ मे भी उनकी कोई विशेष भूमिका नहीं रही। वे तो बस हीन स्तर के सामाजिको की वाहवाही लूटने के साधन-भर है। प्रसाद ने हिन्दी नाट्य-गीतो की इस कमजोरी को पहचाना और उसे सशक्त अर्थवत्ता देन की दिशा मे अनवरत प्रयास किये। उनके नाट्यगीतो के वैविध्यपूर्ण रूप-रंग उनकी इस साधना और प्रयोगशीलता का परिचय भली-भाँति दे देते है। शायद ही हिन्दी का कोई दूसरा नाटककार हो, जिसके गीत चरित्र, युग और वस्तु-स्थिति की इतनी सघन व्यंजना करते हुए भी अपनी विशुद्ध साहित्यिकता पर कायम रह सके। इसमें दो मत नही कि प्रसाद के श्रेष्ठतम प्रगीत उनके नाटको में है और उनकी सर्वाधिक जीवन्तपात्र-सृष्टि याकि प्रबुद्ध युगचेतना इन प्रगीतो के भावरस से ही अपनी जीवनीशक्ति ग्रहण करती रही है।

प्रसाद ने हिन्दी-नाटक को बहुत कुछ दिया है। भारतेन्दु ने नाटक का एक ढांचा खडा किया था—प्रसाद ने उसमे प्राणप्रतिष्ठा की और उसे सौष्ठवमयी आगिक परि-पूर्णता भी प्रदान की। उन्होने हिन्दी की नाट्यविधि मे सर्जनात्मक आयामो की सरचना की और उसकी सीमाओ का परिविस्तार किया। उनका सर्जन देशकाल से बद्ध और बाधित नही। अपने युग के प्रतिनिधि प्रणेता होकर भी वे सर्वकालिक है, भारतीय संस्कृति के प्रबल पक्षधर होते हुए भी वे विश्वमानव की परिकल्पना के निर्मायक हैं। हिन्दी-नाटक को उनके उदार व्यक्तित्व का अवदान सर्वाधिक मिला है। हिन्दी के अपने नाट्यशास्त्र की एक सर्वांगीण अवधारणा उनके नाट्यसाहित्य के आधार पर प्रस्तुत की जा सकती है।

नाट्य-वस्तु और विन्यास-शिल्प

प्रसाद स्वच्छन्दतावादी नाट्यकार है और आपाततः यह एक विसगति ही है कि उन्होने 'कामना' और 'एक घूंट' को छोडकर सभी नाटकों की कथावस्तु प्राचीन इतिहास से ली है। यो, पश्चिम के स्वच्छन्दतावादी कवियो मे से अनेक ने अपने नाट्यवृत्त इतिहास से चुने है और रूस मे तो स्वच्छन्दतावाद का उदय ही ऐतिहासिक नाटको के क्षितिज पर हुआ है। वहाँ ऐतिह्य वस्तुविषयवाले नाटको को जनता में साहस, पराक्रम एवं त्याग की भावना जगाने के लिए सर्वोत्तम माध्यम माना गया है। वस्तुत स्वच्छन्दतावादी मनो-दृष्टि जिस स्तर की रोमानी व कल्पनाश्रयी आदर्शात्मकता के लिए अपने को प्रतिबद्ध अनुभव करती रही है, उसकी अवतारणा के लिए अतीत की गहराइयों में उतरना उसकी अनिवार्य नियति बन जाती है। हेगेल ने कुछ ऐसा ही अनुभव करते हुए इतिहास की गत्यात्मक शक्ति को युगचेतना और स्वातन्त्र्य-भाव की अभिव्यक्ति कहा था। उसका यह कथन कि इतिहास मे नाटक का प्रमुख प्रयोजन निहित होता है—एक विस्मयकारी किन्तु अकाट्य समाजशास्त्रीय सत्य का उद्घाटन करता है। यह आवश्यक नही कि इतिहासाश्रयी नाटककार समकालीन जीवन के प्रति उपेक्षाशील ही हो। वास्तविकता तो यह है कि रचनाकार मे जितनी अधिक सर्जनात्मक प्रतिभा होती है, उतना ही वह अपनी सम-कालीनता के प्रति जागरुक रहता है और अपनी इस जागरुकता को अधिकाधिक प्रभाव-शाली अभिव्यक्ति देने के लिए ही वह बहुधा इतिहास की शव-साधना करता है। सम-सामयिक वस्तुविषय भी वह अपना सकता है, किन्तु उसमें प्रासगिक और साधारण रह जाने का खतरा उसे अक्सर मुडने के लिए विवश कर देता है। यीट्स का यह कहना गलत नही कि आधुनिक जीवन के साधारण पहलू प्रस्तुत करनेवाले नाटक भावोन्नयन में अशक्त प्रमाणित होते है। अत वर्तमान के प्रति जागरुक सर्जक यदि उसे अतीत के आलोक में उभारना ठीक समझते है, तो इसमे विस्मय की कोई बात नही। 'वास्तविक ऐतिहासिक चिन्तन वर्तमान से ही अधिक सम्बद्ध होता है और अतीत के अध्ययन से वर्तमान को अधिक सूझबूझ के साथ समझा जा सकता है।' प्रसाद की दृष्टि ऐसी ही थी। अब यदि परम्परावादियो को सर्जन का यह यथार्थ असुविधाजनक लगे, तो चारा ही क्या है।

यह सही है कि प्रसाद ने अपने ढंग से यथार्थवाद का प्रत्याख्यान किया है, किन्तु उन्हें आदर्शवाद का हिमायती भी नही कहा जा सकता। इस तथ्य के बावजूद कि उनकी वृत्त-सरचना में स्वच्छन्दतावादी कल्पना का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, उन्हे समन्वयशील

तथ्यवादी ही कहना अधिक संगत होगा। इतिहास मे रुचि रखनेवाला साहित्यकार तथ्य-वाद का मोह त्याग भी नही सकता। यदि उसे आदर्श और यथार्थ मे से एक को चुनना ही पडे, तो वह यथार्थ के ही पक्ष मे अधिक रहेगा। यह और बात हे कि उसकी यथार्थ-दृष्टि तथाकथित यथार्थवाद से कहाँ तक साम्य या मतभेद रखती हे। यथार्थ का भी अपना एक आदर्शवाद होता है। प्रसाद का अभिमत कुछ इसी प्रकार का हे। 'यथार्थवाद और छायावाद' निबन्ध मे वे लिखते है—'यथार्थवाद क्षुद्रो का ही नही अपितु महानो का भी है। × × × कुछ लोग कहते है कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। × × × यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता, क्योकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। × × × साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्रप्रणेता। इन दोनो के कर्तव्य स्वतन्त्र है। साहित्य इन दोनो की कमी पूरा करने का काम करता है। × × × इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमे विश्वमगल की भावना ओतप्रोत रहती है।' प्रसाद के नाट्यवृत्त साहित्य के इस आदर्श को चरितार्थ करते है। इतिहास के माध्यम से उन्होने अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने का प्रयास किया है और यह प्रयास साहित्य में तथ्यवाद का सहायक ही हैं। वे अपने समय की अपेक्षाओ के प्रति जागरुक थे, जिनकी पूर्ति के लिए अतीत की ओर दृष्टिपात करना एक अनिवार्य आवश्यकता थी। 'विशाख' के प्रथम सस्करण को भूमिका मे वे लिखते है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श सगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है × × × क्योकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढकर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नही इसमें हमे पूर्ण सन्देह है। × × × मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अश मे से उन प्रकांड घटनाओ का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" स्पष्ट है कि प्रसाद की दृष्टि व्यापक और गंभीर यथार्थ को पकड़ना चाहती है, जो अपनी सनातनता मे स्वयं आदर्श बन जाता है और भविष्य के लिए मार्गदर्शन करता है। उनका निश्चित मत है कि अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, अत साहित्य में एकागीलक्ष्य नहीं रखना चाहिए। प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए। विश्व प्रगतिशील अवश्य है, किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। नाटक में इस किस्म की जल्दबाजी बहुत ही अवाछनीय है, क्योंकि यह कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करनेवाली विधा है और इसका दायित्व बृहत्तर है। आज का नया नाटक भी इसी आधारभूत वैशिष्ट्य के आग्रहस्वरूप अपने ढंग से इतिहास की ओर अग्रसर हो गया है। ड्यूक लेज़ली, थाम्पसन, पीट्स, पाउण्ड, कॉक्तू, जीद आदि

नवीन सशक्त नाट्यकारो ने अपनी कृतियो मे ऐतिह्य वृत्त रखे है, किन्तु उन्हे पुरातनपथी या पलायनवादी नही कहा जाता है। इसके विपरीत वे आधुनिक मंच के प्रगतिशील सर्जक के रूप में ही प्रतिष्ठित हुए है। प्रसाद की भी प्रतिष्ठा इसीलिए है कि उन्होने नाटक के इस दायित्व का भली प्रकार निर्वाह किया है। उन्होने यथार्थवादी आदोलन की उपेक्षा भले ही कर दी हो, किन्तु जीवन के यथार्थ के प्रति वे बराबर जागरूक और प्रतिबद्ध रहे हैं।

जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करने की आधारभूत वृत्ति के कारण प्रसाद की नाट्यवस्तु मे भी वैसी ही व्यापकता और समग्रता मिलेगी। यह कहना असंगत न होगा कि उनके नाटको मे महाकाव्यो के आयाम विद्यमान है। उन्होने प्राचीन भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओ को चुना है, जो अतीत का एक गौरवशाली एवं पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सके और अपनी व्यंजकता मे जीवन को उसके विस्तार के साथ समेट सकें। 'आरभिक पाठ्य काव्य' निबन्ध मे वे लिखते है—'मानव के सुख-दुख की गाथाएँ गायी गयी। उनका केन्द्र होता था धीरोदात्त लोकविश्रुत नायक। महाकाव्यों में महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है। नाटक में, जिसमें कि आनन्दपथ का, साधारणीकरण का, सिद्धान्त था, लघुतम के लिए भी स्थान था। प्रकरण इत्यादि मे जनसाधारण का अवतरण किया जा सकता था, परन्तु विवेक परम्परा के महाकाव्य मे महानो की ही चर्चा आवश्यक थी।' प्राचीन साहित्य के ऐतिहासिक विश्लेषण से प्राप्त इस मानवीय सत्य को उन्होने अपने नाटको मे चरितार्थ किया है। उनके कथानायक अपने युग के सर्वोत्तम एव प्रातिनिधिक व्यक्तित्व रखते है। जनमेजय परीक्षित के युग से आरंभ करके वे बौद्ध, मौर्य और गुप्त कालो से होते हुए सम्राट् हर्षवर्धन के शासनकाल तक आये है। अतीत की इस लम्बी जीवन-यात्रा मे उन्हे अनेक प्रकाण्ड घटनाएँ मिली, जिन्हे उन्होने अपनी कल्पना के ताजें रगो से जीवन्त बनाकर प्रस्तुत किया है। आदर्श पुरुषत्व की महिमा से मण्डित सम्राटो, कर्मठ सेनानियो, महत्व प्रिय सामन्तो, उग्र महत्वाकाक्षिणी राजमहिषियो एव विकट राष्ट्रघातियो से सम्बद्ध ये इतिवृत्त निश्चय ही बडे भव्य एव प्रभावशाली हैं और महाकाव्योचित महत् का वातावरण रचने मे सक्षम हैं। जीवन की परिपूर्णता के लिए साधारणत्व या लघुत्व की भी प्राण-प्रतिष्ठा आवश्यक थी। अत- उन्होने वैविध्यपूर्ण एवं व्यजक पात्रो व घटनाओ की सटीक कल्पनाएँ प्रस्तुत की। यही कारण है कि प्रसाद के नाट्यवृत्त केवल महानता का प्रशस्ति-पाठ नही करते, मानवीय संवेदना भी जगाते हैं। पूरा नाटक पढने या देखने के बाद जो बच रहता है, वह मानवीय करुणा से ओतप्रोत कोई उदात्त जीवनादर्श होता है, जो न केवल अभिजात और उच्चवर्ग की विरासत है वरन् जिस पर सामान्य मानवता का सास्कारिक एवं नैतिक हक है। शौर्य, आत्मदान, राष्ट्रप्रेम, अध्यात्म, प्रणय, सौहार्द्र, विश्वमैत्री आदि ऐसी ही उच्च मानव-भूमियाँ हैं, जो उनकी नाट्यकृतियो मे बराबर उभर

कर सामने आती रही है। इनके समानान्तर काफी दूर तक साथ चलनेवाली कुचक्र, देशद्रोह, हत्या आदि के विकट दुष्प्रवृत्तियाँ भी मिलेंगी, जो जीवन के निर्मल चित्र मे वास्तविकता की चटकीली रगरेखाएँ उरेहती हैं। यह कटु यथार्थ अन्ततः पराजित होता है, क्योकि प्रसाद के मतानुसार इनकी अपराजेयता दिखाने का कोई उदात्त प्रयोजन नही और यह प्रवृत्ति अपनी सहज प्रक्रिया मे अनजाने ही अपराधों को कृत्रिम पाप करार देकर उन्हे प्रोत्साहन देने लगती है। प्रसाद मानवीय जीवन की एक व्यवस्थित परिकल्पना सामने रखकर चलनेवाले साहित्यकार है, अत प्रकृत्या नैतिक होना उनके व्यक्तित्व की मूल आकाक्षा है। फिर, जिस युग मे वे साहित्यसर्जन कर रहे थे, उसका भी कुछ प्रभाव पडना अवश्यम्भावी था। गाधी के द्वारा प्रचारित नैतिकता का प्रभाव उनपर थोडा बहुत अवश्य पडा था। सास्कृतिक अवधारणाओ से उसका तालमेल बैठने के कारण प्रसाद के लिए वह और भी सहज ग्राह्य हो सकी।

अतीत के प्रति प्रसाद का यह लगाव एक महत्वपूर्ण सीमा तक सास्कृतिक है। उनके साहित्य मे व्याप्त उनका जीवनदर्शन जिस आनन्दभाव को केन्द्र मे रखकर चला है, उसका आदि-स्रोत उन्हे आर्यों की पुरातन सस्कृत मे मिला है। इसी प्रकार नियति, करुणा और कर्मण्यता के व्यावहारिक जीवनादर्श उन्होंने शैव, बौद्ध और ब्राह्मण दर्शन से ग्रहण किये है। भारतीय सस्कृति की यह गौरवमयी चिन्तनपरपरा प्रसाद के काव्यग्रन्थो, निबन्धो और उपन्यासो मे देखी जा सकती है। नाटक में इसके लिए अपेक्षाकृत कम अवकाश था, फिर भी उसके अभिनिवेश का मोह उनसे त्यागा नही जा सका। इसके लिए उन्हे प्रसंगानुरूप पात्रों और घटनाओ की सृष्टि प्रत्येक नाटक मे करनी पडी है। नाटक की सक्रियता में यह प्रवृत्ति कभी-कभी व्याघात भी उत्पन्न करती रही है, किन्तु यही प्रसाद का प्रातिनिधिक वैशिष्ट्य भी तो है। कहा जा सकता है कि इन उदात्त अवधारणाओं के व्यावहारिक निदर्शन के लिए उन्हे नाटक सर्वाधिक सशक्त माध्यम प्रतीत हुआ, अत' उन्होने इतिहास से तदनुरूप कथाप्रसग चुन लिये। 'राज्यश्री' मे उन्हे ब्राह्मणधर्म की करुणा के दिग्दर्शन की कथाभूमि मिली, तो 'विशाख' मे बौद्धधर्म की। 'अजातशत्रु' 'विशाख' की ही चिन्तन-परम्परा को अधिक समुज्ज्वल रूप मे उपस्थित करता है, क्योंकि इसमे स्वयं तथागत को चारित्रिक भूमिका दे दी गयी है। बुद्ध करुणा और विश्वमैत्री का जो आदर्श सिद्धान्त के स्तर पर प्रस्तावित करते है, उसे मल्लिका जीवन में उतारती है। 'कामना' में प्रसाद के समक्ष पूर्व और पश्चिम के सास्कृतिक द्वन्द्व की समस्या आकर खडी हो गयी है। कथ्य की आकांक्षा के अनुरूप उन्हे पूरा कथानक कल्पना के आधार पर खडा करना पड़ा है। इसमें नाटककार ने पश्चिम की औद्योगिक और तथाकथित प्रगतिशील संस्कृति का खोखलापन दिखाते हुए भारतीय मनीषियो के द्वारा प्रतिपादित संतोष, विवेक, करुणा, आस्था और शान्ति के सनातन मानवीय आदर्शों की स्थापना की है। 'नागयज्ञ' में उनके सामने आर्य-अनार्य की सास्कृतिक समस्या थी, जिसका समाधान

उन्होने आर्यो के आदर्श ब्राह्मणत्व की धारणा के सहारे किया है। 'स्कन्दगुप्त' मे ब्राह्मण-बौद्ध-सघर्ष की भूमिका रचकर यज्ञबलि की कुत्सित प्रथा का प्रतिषेध कराया है और आत्मत्याग का सर्वोच्च कीर्तिमान प्रस्तुत किया है। 'एक घूंट' मे वे व्यावहारिक जीवन की सामाजिक नैतिकता पर केन्द्रित है, अत उन्हे समूचे नाट्यवृत्त की कल्पना करनी पडी है। 'चन्द्रगुप्त' की विचारणा मानो 'स्कन्दगुप्त' की प्रतिक्रिया या संतुलन-प्रक्रिया के रूप मे प्रकट हुई है। 'स्कन्दगुप्त' मे प्रख्यातकीर्ति के रूप मे उन्होने आदर्श बौद्ध की परिकल्पना प्रस्तुत की थी। 'चन्द्रगुप्त' मे वे चाणक्य और दाड्यायन के रूप में ब्राह्मणत्व की तेजोमयी गरिमा का उपस्थापन करते है। अन्तिम कृति 'ध्रुवस्वामिनी' भी इसी परम्परा की एक सशक्त कडी है। पुरोहित की निर्भीक विवेकमयी व्यवस्थापकता पाठक या दर्शक के अन्त-करण पर आदर्श ब्राह्मणत्व की एक गहरी छाप छोडती है। इस प्रकार प्रसाद के नाट्य-वृत्तो का इतिहास प्रकारान्तर से उनकी वैचारिकता का इतिहास है। वे जिस विराट् सास्कृतिक सामरस्य का आदर्श सामने रखकर साहित्यसर्जन मे अग्रसर हुए थे, वह उनके नाटकीय कथाप्रसंगो मे सर्वाधिक चरितार्थ हो सका है। आर्य और अनार्य, ब्राह्मण और बौद्ध, पूर्व और पश्चिम, व्यक्ति और समाज, सिद्धान्त और प्रयोग के जो भी द्वन्द्व उनके आगे प्रश्नचिह्न बनकर आये, उन्हे उन्होने नाट्यवृत्तो मे समाधान दिया। रहा उनके नाटकीय औचित्य का प्रश्न, तो उन्होने उसे भी यथासभव बरकरार रखने का प्रयास किया ही है। बौद्ध और ब्राह्मण—दोनो ही देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे है—कभी पक्ष मे तो कभी विपक्ष मे। उनकी यह पक्षधरता एक ओर भयानक षड्यंत्रो की सरचना करती है और दूसरी ओर जटिलतम चक्रव्यूहो का मर्मभेदन कर डालती है। न 'स्कन्दगुप्त' जैसा भयावह कुचक्र कही मिलेगा और न 'चन्द्रगुप्त' जैसा अपराजेय कूट-कौशल ही। 'अजातशत्रु' के क्रिया-व्यापार को उलझाव के साथ अग्रसर करने वाली मागन्धी भी बुद्ध से असम्पृक्त नही। 'राज्यश्री' और 'विशाख' के सघर्ष-तत्व के मूल में पतनशील बौद्ध धर्मतन्त्र ही है। 'नागयज्ञ' का तो सारा उपप्लव ही आर्य-अनार्य के द्वन्द्व से परिप्रेरित है। अस्तु, प्रसाद ने सतर्कतापूर्वक अपनी सुचिन्तित सास्कृतिक गवेषणाओ को मुख्य नाट्यक्रिया से सन्दर्भित रखने का प्रयास किया है। यो, कुछ स्थल अवश्य ऐसे मिल जायेगे, जहाँ वे अपनी बात कह डालने के आग्रही हो उठे है—जैसे नागयज्ञ के आरम्भ मे कृष्णार्जुन-सवाद या कि 'स्कन्दगुप्त' मे धातुसेन के लम्बे सास्कृतिक प्रवचन। लोकोत्तर-कोटि के प्राय. सभी महामानवो की वाणी में वक्तृतातिरेक मिलेगा। इन प्रसंगो मे एकाधिकार बार नाटकोचित कथाप्रवाह बाधित हो गया है और मचन के स्तर पर उनमे काफी काटछाँट की अपेक्षा अनुभव की जाती रही है।

इतिहास के प्रति प्रसाद की दृष्टि का एक और भी पहलू है, जिसे नाटक के संदर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। वे अतीत को गौरवशाली किन्तु वर्तमान जीवन से कटी हुई अमूल्य धरोहर मात्र नही मानते। उनकी गहन भावमयी अन्तर्दृष्टि उसमे

मानवीय जीवन के उन सनातन सत्यो की अभिव्यक्ति देखती है, जिनसे वर्तमान और भविष्य उतने ही जुडे हुए है जितना कि अतीत। इतिहास के अन्धकार मे वास्तविक जीवन की खोज का प्रयत्न वे बराबर करते रहे है और इसके लिए उन्हे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति का आश्रय लेना पडा है। 'कामायनी' के आमुख मे वे लिखते है—
"आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते है। तब भी उसके तिथिक्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल मे क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव मे परिणत हो जाती है। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।" प्रसाद मूलत कवि थे, अत. स्वाभाविक रूप से ही वे बाह्य तथ्य की अपेक्षा आन्तर सत्य या भावसत्य को अधिक महत्व देते हैं। अपने नाटको के ऐतिह्य वृत्तो को उन्होने इसी भाव-दृष्टि से देखा-परखा और विश्लेपित किया है। इतिहास केवल बडी-बडी घटनाओ की तथ्यपरक सूचना देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है, किन्तु साहित्य उसमें जीवन की प्राणप्रतिष्ठा करके ही अपना वैशिष्ट्य प्रमाणित कर सकता है। साहित्य का यह वैशिष्ट्य प्रसाद के नाटको मे सुरक्षित है। उनके नाट्यवृत्त इतिहास प्रसिद्ध मानवो एव घटनाओ को तो प्रस्तुत करते ही है, ये अन्तर्वर्तिनी सूक्ष्म मानवीय सवेदनाओ को भी उभारते है, जो ऐतिहासिक तथ्य के क्षेत्र में न आने पर भी संभाव्य भावसत्य होने के कारण विश्वसनीय लगतो है। कहना न होगा कि इतिहास की स्थूल रेखाओ में जीवन-शिराओ को उरेहने का दायित्व कल्पना पर है और प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक कल्पना के इस अवदान से भरेपुरे है। सूक्ष्म विवरणो की समूची रूप रचना उत्पाद्य है और ये अंश प्रसिद्ध और नाटक की प्रमुख घटना के कारण-परम्परा को आश्चर्यजनक रूप से सशक्त बनाते है। 'ध्रुवस्वामिनी' मे कोमा का शकराज का शव माँग कर ले जाना इतिहास का सत्य भले ही न हो, किन्तु मानवीय भावना का तो एक निदारुण सत्य है ही। यह अवान्तर प्रसग ध्रुवस्वामिनी को उत्तेजित करके उसे मुख्य घटना तक पहुँचने के लिए अतिरिक्त त्वरा देता है। 'चन्द्रगुप्त' मे मालविका का आत्मदान एक ओर अपरिसीम मानवीय करुणा जगाता है और दूसरी ओर चाणक्य के प्रति चन्द्रगुप्त की वितृष्णा की ठोस भावभूमि रचता है। 'स्कन्दगुप्त' में विजया की अतृप्त प्रणय-पिपासा क्या कुछ नही कराती। अनन्तदेवी की आँखो में पडने वाले लाल डोरो का रहस्य कोई भटार्क से पूछे। देवसेना का स्वाभिमान, स्कन्द की राजविरक्ति, भटार्क की महत्वाकाक्षा और पर्णदत्त की त्याग-तपस्या जीवन के जीवन्त सत्य से इतर कुछ नही और वे पूरी तरह मुख्य नाट्य-व्यापार से सम्बद्ध है। षड्यन्त्र, हत्या, महत्वाकाक्षा, लोभ, प्रेम, क्षमा, सहानुभूति, सेवाभावना, औदार्य, वीरता आदि हमारे दैनन्दिन जीवन के व्यावहारिक सत्य

है, जो प्रसाद के नाटको मे सर्वाधिक आकर्षण के प्रसंग रचते है और कथा की मुख्य धारा को अतिरिक्त प्रवेश देते हैं। प्रसाद का यह इतिहास-दर्शन अपने आप मे साहित्य की एक महती उपलब्धि है। 'कामायनी' मे उन्होने जिस मनोवैज्ञानिक अन्वेषण को रूपकीय सरणि दी थी, वही नाटको मे सम्भाव्य विवरणशीलता के रूप मे प्रकट हुआ है। दोनों ही इतिहास-दर्शन की समर्थ शैलियाँ हैं और दोनो के ही माध्यम से कालबद्ध घटना-प्रसग को सनातन मानवीय जीवन के विशद आयाम उपलब्ध होते है।

मानवीय सत्यो की इस आवर्तक प्रकृति पर आधृत प्रसाद का इतिहास-दर्शन समकालीनता की भी अभिव्यक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर देता है। 'अजातशत्रु' के कथा-प्रसग मे उन्होने बताया है कि इतिहास मे घटनाओ की पुनरावृत्ति होती रहती है। असाधारण नयी घटना भी भविष्य मे पुन. होने की सम्भावना से युक्त होती है। मानव-कल्पना का कोष अक्षय है, क्योकि वह अनन्त स्रोतवाली अभिलाषा या इच्छाशक्ति का विकास है। जब तक अदम्य इच्छाशक्ति से प्रेरित कल्पना इयत्ता को नही प्राप्त होती, तब तक वह रूप परिवर्तन करती हुई पुनरावृत्ति करती ही जाती है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नयी कल्पना उसका विरोध करने लगती है और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहरकर पुन' प्रकट होने के लिए अपनी भूमिका बना लेती है। इस प्रकार इतिहास क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में आधारभूत मानवीय प्रवृत्तियो का पुनरावर्तन करता रहता है। इस व्यावर्तन मे ही उसके नये अध्याय भी खुलते रहते है। प्रसाद के युग में भी इतिहास एक नवीन अध्याय की पृष्ठभूमि रच रहा था। उस समय राष्ट्र नवीन आशाकाक्षाओ के साथ स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए कृतसकल्प था और अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए सघर्ष के हर दौर से गुजरने को तैयार था। स्वातन्त्र्य की यह अदम्य आकाक्षा भारतीय या कि मानवीय इतिहास में पहले भी अनेक बार मुखरित हुई है। प्रसाद की सग्रहकारिणी प्रतिभा अतीत के ऐसे जीवन्त प्रसग चुन लेती है और उनमे वर्तमान स्थितियो व समस्याओ की अनुगूँज भर देती है। 'चन्द्रगुप्त' और 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे समूचे राष्ट्र की सग-ठनात्मक प्रक्रिया और भावनात्मक एकता की प्रतिच्छवि देखी जा सकती है। 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्द, पर्णदत्त, चक्रपालित, बन्धुवर्मा, मातृगुप्त, रामा, कमला आदि के रूप मे निःस्वार्थ-भाव से सघर्षरत स्वातन्त्र्य-सेनानियो की अनथक कर्मशीलता प्रतिबिम्बित हुई है। युद्ध का अवसर न रहने पर वृद्ध पर्णदत्त जिस तत्परता के साथ हत या आहत सैनिको के परिवारो के पोषण मे लग जाता है, वह स्वराज्य-आन्दोलन के कर्मठ समाजसेवियो की ही सच्ची सजीव प्रतिकृति है। अभी-अभी हुए बँगलादेश के युद्ध के दौरान देश मे अनेक शरणार्थी शिविर खोले गये है, जिनमे उत्साही देश सेवियों ने अपने मानव-प्रेम का परिचय दिया है। 'अजातशत्रु' मे गौतम का शामक व्यक्तित्व क्या अहिंसाप्रिय गाधी का स्मारक नही। बुद्ध की शान्त सैद्धान्तिक वाणी में गाधी के सास्कृतिक आदर्शवाद की स्पष्ट अनुगूँज विद्यमान है। इसी प्रकार काशी के भयावह युद्ध मे किसी कदर प्रथम विश्वयुद्ध की

विभीषिका की एक झलक मिल ही जाती है । 'ध्रुवस्वामिनी' मे तो आधुनिक नारी के जाग्रत स्वाभिमान को मूल कथ्य के ही रूप मे प्रस्तुत किया है । नारी के उत्पीडन की समस्या तो युग-युग की है । विच्छेद और पुनर्विवाह, जो आधुनिक जीवन की सामान्य स्थिति बन चुके है, सामाजिक इतिहास मे पहले भी घटित होते ही थे, अन्यथा उनके विषय मे शास्त्रीय व्यवस्था कैसे मिलती । प्रसाद अतीत के माध्यम से वर्तमान को उभारने की कला में कुशल है । उन्होने अतीत को वर्तमान के अभिनिवेश से जीवन्त बनाया है और वर्तमान को अतीत के सहारे अधिक सूझबूझ के साथ पहचाना है ।

प्रसाद ने अपने नाटको के ऐतिहासिक कथाप्रसगो मे जीवन की वास्तविकता का रग भरने के लिए सूक्ष्म विवरणो की वैविध्यमयी कल्पनाएँ की है । 'कामना' और 'एक घूंट' मे ऐतिह्य वृत्त नही है, अत उनके समूचे कथानक उत्पाद्य है । शेष सभी नाटक ऐतिहासिक है, अत उनमे कल्पना के सयोजन का वैशिष्ट्य मिलेगा । दूसरा अवदान घटना-प्रसगो के रूप मे भी मिला है और चरित्र सृष्टि के रूप मे भी । दोनो के माध्यम से जीवन की सच्चाई उभरती है, जो कि कल्पनाशक्ति के उपयोग का व्यापक प्रयोजन है । यह व्यापक प्रयोजन दो नाटकीय अथवा प्रासगिक अपेक्षाओ की पूर्ति करता है । यह व्यापक प्रयोजन दो नाटकीय अथवा प्रासगिक अपेक्षाओ की पूर्ति करता है । बहुधा काल्पनिक प्रसग प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओ की कारण-परम्परा को सशक्ततर बनाते है और आकस्मिकता की अनाटकीयता अथवा अतिनाटकीयता को एक स्वाभाविक प्रक्रिया मे ढाल देते है । इतिहास प्रमुख घटनाओ को महत्व देता है, न कि उनकी सूक्ष्म कारण-परम्परा को । यह दायित्व नाटककार का है कि वह ऐतिहासिक तथ्यो के बीच की दूरियो पर कल्पना के सेतु बाँधकर उन्हे क्रमिक और सहज जीवनयात्रा का रूप दे दे । दूसरी अपेक्षा उतनी नाटकीय नही है जितनी सर्जनात्मक, फिर भी वह रचना की उत्कर्षक तो है ही । सर्जनशील प्रतिभा की मौलिक विशिष्टता यह है कि वह साधारण और स्वाभाविक जीवनयात्रा को अन्तिम लक्ष्य नही मानती और मात्र उसकी निर्मिति से उसे वास्तविक निष्कृति की अनुभूति नही होती । उसे पूर्ण आत्मतुष्टि तब होती है जब वह अपनी आकाक्षा, अपने स्वप्न और अपनी अवधारणाओ को अपने आन्तरिक स्तर के अनुरूप और अभीप्सित आकार-प्रकार मे रूपायित कर लेता है । इसे उसकी आत्माभि-व्यक्ति कह सकते है । प्रसाद के कवि-मानस मे ऐसी अनेक रूपाकृतियाँ निहित थी, जिन्हे नाटको में ही जीवन्त विग्रह दिये जा सकते थे । यो, काव्य ग्रन्थो के अतिरिक्त कहानियो और उपन्यासो मे भी यह आत्म-प्रक्षेपण कम नही है, किन्तु नाटको जैसी सजीवता, उनमे नही क्योकि यही तो इसका विधागत वैशिष्ट्य है । अत. प्रसाद के नाटको में ऐसे अनेक चरित्र मिलेंगे जो अनैतिहासिक हैं, किन्तु जिनसे समूचे वृत्त को असाधारण दीप्ति मिली है । देवसेना, मालविका, अलका, मल्लिका, मन्दाकिनी और कोमा ऐसी ही विशिष्ट कल्प-कृतियाँ है । प्रसाद की कोमल रचनाएँ स्वाभाविक रूप से ही कोमल आकृतियों मे अव-

तरित हुई है। यो, इन्होने एकाधिक पुरुष-चरित्रो को भी कल्पना के आधार पर खडा किया है जैसे शिखरस्वामी, विकटघोष, महापिंगल, काश्यप, समुद्रदत्त, प्रपंचबुद्धि आदि किन्तु वे उनके आन्तरिक व्यक्तित्व के प्रतिनिधि न होकर अधिकतर जीवन के मलिन पक्ष का उपस्थापन करते है और अपने ढग से यथार्थ की अवतारणा में योग देते हैं। इस वर्ग मे विजया, श्यामा, दामिनी आदि कुछेक नारी-चरित्र भी कल्पित किये गये है। मणिमाला, सुरमा, जयमाला आदि सत्वोन्मुख काल्पनिक स्त्रीपात्र है और न्यूनाधिक रूप मे ये साधारण पात्र-वर्ग मे आती है। अस्तु, प्रसाद ने कतिपय विशिष्ट नारी-चरित्रो की कल्पना करके सर्जनात्मक स्तर पर आत्मनिष्कृति का अनुभव किया है और रचनात्मक सदर्भ मे परिणाम, चरित्रनिर्णय, कारण-परम्परा आदि की दृष्टि से कुछ बडे ही सशक्त आयाम खडे कर दिये हैं। देवसेना स्कन्द के व्यक्तित्व का निर्णायक आयाम है। उसके अभाव मे वह मात्र एक इतिहास प्रसिद्ध वीर पुरुष रह जाता और अपने जैसे अनेक सम्राटो और सामन्तो की भीड मे खो जाता। परिणति मे भी उसकी भूमिका महत्वपूर्ण है। मल्लिका प्रसेन की परिणति का दायित्व वहन करती है। मालविका और कोमा कारण-परम्परा को सुदृढ करती है। अलका और मदाकिनी कारण-शृंखला को दृढतर बनाते हुए उसे परिणाम तक ले जाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। यह दुहरा लक्ष्यवेध प्रसाद की नाट्य-कल्पनाओ को अपरिहार्य बना देता है। ऐसा लगता है कि इस तत्व को नाटको से हटा लेने पर वे प्राणहीन कंकालमात्र बच रहेंगे। प्रसाद ने इसके विनियोजन और सयोजन मे भी अपने नाट्यकौशल का परिचय दिया है। 'अजातशत्रु' में मागन्धी, श्यामा, और आम्रपाली के एकीकरण में सयोजन की कला का चरम रूप देखा जा सकता है। कथानक के कई महत्वपूर्ण सूत्र इस अन्वितिपूर्ण चरित्र-परम्परा के द्वारा संचालित होते है। राजपुत्र विरुद्धक और डाकू शैलेन्द्र का भी एकीकरण अत्यधिक नाटकीय एव प्रभावशाली है। सयोजन का कौशल प्राय. सम्बन्ध-स्थापन के रूप में भी प्रकट हुआ है। 'स्कन्दगुप्त' में भटार्क, अनन्तदेवी, बौद्ध और हूणो को एक ही दिशा मे लाकर सगठित कर देना और इस प्रकार विरोध-पक्ष को सुदृढतम बना देना नाटककार की संयोजन-कला का एक अच्छा उदाहरण है। प्रसाद के सभी नाटको मे यह विशेषता देखी जा सकती है। विनियोजन का सौष्ठव वहाँ लक्षित होता है, जहाँ किसी काल्पनिक प्रसंग या पात्र को मुख्य कथा के बीच इस प्रकार 'फ़िट' कर दिया जाता है कि वह अपने स्वतन्त्र उद्देश्य को पूरा करते हुए नाट्य-व्यापार को आगे बढाने में अपेक्षित योगदान करे। शिखरस्वामी, प्रपंचबुद्धि, विजया, अलका, मन्दाकिनी आदि के नाट्याभिनिवेश मे प्रसाद की विनियोजन-कला का निखार देखा जा सकता है। यही बात घटनात्मक कल्पनाओं के भी विषय में कही जा सकती है। वस्तुतः विनियोजन नाट्य-कल्पना की आधारभूत तथा सर्वसामान्य कला है, जिसका होना कुछ विशेष नही लगता किन्तु जिसके अभाव में कथानक का पूरा ढाँचा लडखडाने लगता है। कहना न होगा कि प्रसाद काल्पनिक प्रसंगो की अवतारणा में सिद्धहस्त है और उनके

इस कल्पना-कौशल ने उनके नाटको की ग्राधारभूत वस्त-संवेदना को सजीव और सार्थक बना दिया है।

प्रसाद के नाट्यवृत्तो का एक प्रमुख लक्षण उनका 'ट्रैजिक' होना है। इसे पाश्चात्य ट्रैजेडी-नाटको के समकक्ष तो नही रखा जा सकता किन्तु उससे मिलता-जुलता एक निजी और सास्कृतिक वैशिष्ट्य अवश्य माना जा सकता है। कथावस्तु की यह करुण चेतना उनके नाटको मे ही नही, कहानियो और उपन्यासो में भी अन्तर्निहित है। 'कंकाल' तो त्रासान्त ही है। कहानियो की प्रसादान्तता इसी विशेषता का आख्यान करती है। आत्म-परक कविताओ मे तो वेदना का तत्व सर्वोपरि है। अभिनयधर्मी होने के कारण नाटको में इसे सर्वाधिक मर्मग्राही अभिव्यक्ति मिल सकी है। त्रासद तत्व के इस सन्निवेश की मूल प्रेरणा तिहरी है। प्रथमत प्रसाद अपनी सर्जनावधि के आरम्भिक दो तिहाई भाग मे बौद्धमत की करुणा और उसके दु खवाद से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। अन्तिम चरण मे सामाजिक और राष्ट्रीय सन्दर्भों मे उन्होने दु.खवादी विचारधारा का निराकरण करके आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है, किन्तु वैयक्तिक स्तर पर वे उससे जुडे ही रहे हैं। करुणा के सन्देश का प्रसारण तो वे अन्त तक करते रहे। जागरूक साहित्यकार की भूमिका मे होने के कारण उनकी दु खभावना बौद्धमत की विचार-परम्परा के अनुरूप निवृत्यात्मक न रहकर प्रवृत्यात्मक हो गयी है। एक प्रकार से उनके साहित्य मे दु खवाद का आदर्शीकरण या उदात्तीकरण हो गया है। परवर्ती युग मे प्रसाद ने जो बौद्ध-विरोध की मुद्रा अपना ली है, उसकी तह मे उनकी यह दृष्टि भी काम कर रही है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्धो की राष्ट्रविरोधी गतिविधियाँ भी इसके लिए कम उत्तरदायी नही। प्रसाद जीवन मे आस्था और कर्म की प्रेरणा देना चाहते थे, जिसका आधार उन्हे शैवागमों मे मिला था। इसकी सिद्धि के लिए बौद्ध दु'खवाद को प्रवृत्तिपरक बनाना एक आधारभूत अनि-वार्यता थी। अतः उन्होने दु'ख को आत्म-परिष्कारक तत्व के रूप मे देखा और उसे व्यापक बनाकर मानवीय संवेदना अथवा करुणा से सन्दर्भित कर दिया। यह मानसी प्रक्रिया 'आँसू' मे देखी जा सकती है। यही उदात्त दुःखवाद उनके नाटकों मे बहुधा त्रासदगुण की सृष्टि करता है। 'चन्द्रगुप्त' मे मालविका का आत्मदान और चाणक्य की तपश्चर्या, 'स्कन्दगुप्त' में पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक का आत्मघात तथा देवसेना का आत्म-निर्वासन ऐसे ही त्रासद प्रसंग है जो व्यक्ति की सहनशक्ति को कठोरतम कसौटी पर रखकर मानवीय नैतिकता को संवर्धित करते हैं। त्रासदी का दूसरा सूत्र प्रसाद की रसविषयक दृष्टि मे है।

भारतीय रसवाद की साहित्यशास्त्रीय विचार-परम्परा आनन्द-प्रधान रही है, जिसके कारण यहाँ सुखान्त नाटक लिखे जाते रहे। यों, उनके समानान्तर यथार्थ और दु.ख का प्रभाव डालने वाली रचनाएँ भी लिखी जाती रही और उनका संकेत प्रसाद ने अपने निबन्धो में दिया भी है किन्तु एक तो वे परिमाण में कम हैं, दूसरे उनके पीछे कोई

व्यवस्थित विचारक्रम नही। अत वैचारिक स्तर पर अपने यहाँ ब्रह्मानन्द-स्पर्धी रसवाद को ही महत्व दिया जाता रहा। प्रसाद भी रसवादी है, किन्तु रसानुभूति के चरम रूप की अवधारणा मे अपनी निजी और मौलिक पृष्टि का परिचय दिया है। उन्होने शैवागमीय विचार-परम्परा में 'शम' को रसानुभव की उच्चतम स्थिति के रूप मे मान्यता दी और उसे समाधिसुख के समकक्ष प्रतिष्ठित किया। यह मनःभूमि सामरस्य की है जो व्यावहारिक प्रसगो में सुख-दु.ख के समीकरण की प्रक्रिया द्वारा उनसे ऊपर उठने का जीवन-दर्शन प्रस्तावित करती है। प्रसाद इसे मानवीय उदात्तता का उच्चतम शिखर मानते है और इसे ही उन्होंने रसदशा का आदर्श ठहराया है। यही कारण है कि उनके प्रमुख नाटको मे सुख की ऐकान्तिक सिद्धि के प्रति तिरस्कार का भाव लक्षित होता है। वे या तो सुख-दु ख की समन्वित स्थिति का आदर्श सामने रखना चाहते है, या फिर दोनो से ऊपर अलोकसामान्य समाधिदशा जैसी निस्संग प्रशान्त मन.स्थिति का। दोनो ही स्थितियाँ 'ट्रैजिक' है—पहली कुछ अधिक, दूसरी कुछ कम। जीवन मे इससे बडी त्रासदी क्या होगी कि जिस सुवासिनी की एकमात्र प्रणय-प्रतिमा चाणक्य अपने मन की गहराई में युग-युग से छिपाये रहा है, उसे ही वह उसके समर्पण पर भी अस्वीकार कर दे और इतना ही नही—उसे वह अपने चिरप्रतिद्वन्द्वी राक्षस को अपने समस्त प्रशासकीय अधिकारो के साथ सौप दें। त्याग बहुत बडी चीज है और परम सन्तोष का जनक है, किन्तु उसका एक निजी दर्द तो होता ही है। जितनी अधिक प्रिय वस्तु का त्याग किया जाए, उतनी ही अधिक महत्ता भी मिलती है और उतना ही गहरा उसका दर्द भी होता है। यो कह लें कि त्याग एक बहुत बड़ी त्रासदी है, जिसे महामानव अपने आत्मबल से सह लेते है। 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना का भी त्याग ऐसा ही है, किन्तु वहाँ चाणक्य के समान विरक्त निस्पृह जीवन की भूमिका न होने के कारण उसकी वेदना अपनी पूरी प्रखरता में मुखर हो उठी है। इसे प्रथम प्रकार की, यानी समन्वित भावदशा की त्रासदी कह सकते है क्योकि स्कन्द और देवसेना जहाँ चिरविप्रयोग की वेदना से विह्वल हो उठे है, वहाँ दोनो को मानसिक आश्वस्ति भी मिल चुकी है। स्कन्द का प्रस्ताव देवसेना के मन की वह ग्रन्थि खोल देता है जो उसकी परानुरक्ति से बन गयी थी और देवसेना का उसके प्रति पूज्यभाव उसे दृढ़ता और निर्णयात्मक जीवन-दिशा देता है। दूसरे प्रमुख नाटको में चारित्रिक वैचित्र्य की इतनी विशद कथाभूमि न होने के कारण इस कोटि की त्रासदी तो नही मिलेगी, किन्तु प्रसाद ने उन्हें सुखान्त भी नही रह जाने दिया है। यही कारण है कि 'अजातशत्रु' में फलागम के क्षण में बिम्बसार निष्प्राण हो जाता है और 'ध्रुवस्वामिनी' के मगलोदय-प्रहर में रामगुप्त निहत होता है। 'कामना' और 'एक घूँट' की बात और है, क्योकि वे एक निश्चित जीवन-मूल्य की स्थापना के उद्देश्य से लिखे गये है और उनमें जितनी वैचारिक सजगता है, उतनी जीवनपरक सहजता नही। जीवन जहाँ भी है, वहाँ ट्रैजेडी है—कभी चरित्र की, तो कभी घटनाओ की। चरित्र की त्रासदी

द्वन्द्वप्रधान पात्रों में लक्षित होती है। स्कन्दगुप्त इसका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। कोमा, कल्याणी, विजया आदि युवतियाँ इस चारित्रिक त्रासदी का ही शिकार बनती हैं। मालविका का करुण अन्त चारित्रिक कम, स्थितिपरक अधिक है। चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी यह बाला ऐसी स्थिति मे डाल दी गयी है कि वह आत्मदान के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नही सकती। प्राय: सभी नाटको मे नियतितत्व की प्रधानता मिलेगी, जो विभिन्न प्रकार की त्रासद स्थितियाँ उत्पन्न करती रहती हैं। जनमेजय द्वारा जरत्कारु की हत्या, समुद्रदत्त का कुचक्र-रचना के प्रयास में स्वय कुचक्रग्रस्त होना, शर्वनाग का उन्माद, रामगुप्त का अपने ही सामन्तो से सहसा अनादृत होना, स्कन्द का कुभा के जल में बह जाना, विकटघोष के प्रयत्न की विफलता आदि के प्रसंग घटनात्मक त्रासदी के वर्ग मे रखे जा सकते हैं, जिन्हे नियति से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। त्रासदी का यह रूप बहुत कुछ पाश्चात्य ट्रैजेडी-नाटको की प्रकृति से समानता रखता है और यही प्रसाद के नाटको मे व्याप्त त्रासद-तत्व का तीसरा सूत्र या स्रोत है। प्रसाद ने पाश्चात्य नाट्यकला से बहुत कुछ ग्रहण किया है, त्रासदी का यह रूप भी उन्हें वही से प्राप्त हुआ। यह बात और है कि उन्होने उसे यथावत् न अपना कर अपनी प्रकृति के अनुरूप सशोधित कर लिया। यही कारण है कि पाश्चात्य त्रासदियो के नायक जहाँ अपने दोष-विशेष के कारण विनाश को प्राप्त होते हैं, वहाँ प्रसाद के पात्र अपने गुणो के कारण। मालविका, स्कन्दगुप्त, देवसेना, कल्याणी, कोमा, पृथ्वीसेन आदि की करुणामयी परिणति उनकी विशिष्ट उदात्तता के ही कारण होती है। दुष्ट प्रकृति के चरित्रों की त्रासदी में नाटकीय विडम्बना, आकस्मिकता, संयोगतत्व आदि की भूमिका मिलेगी। वस्तुत. प्रसाद आन्तरिक त्रासदी में अधिक रुचि रखते है, अत उनके नाटको का ट्रैजिक तत्व स्वाभाविक रूप से वाह्यार्थपरक पाश्चात्य त्रासदियो से भिन्न एव विशिष्ट हो गया है।

त्रासद वातावरण की संरचना में विरोध-तत्व की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रसाद के नाटको पर लगाया जाने वाला यह आरोप कि वे विचारो की प्रधानता के कारण मंचीय दृष्टि से शिथिल एवं बोझिल हो गये है, निराधार न होने पर भी अधूरी दृष्टि का ही परिचय देता है। वे जीवन-मूल्यो को प्राथमिकता अवश्य देते है, किन्तु नाटकीय सक्रियता की उपेक्षा उन्होने कही नही की। 'एक घूंट' अपनी मूल कल्पना और अवतारणा में 'थीसिस-प्ले' के रूप में रखा जाने के कारण इसका अपवाद हो सकता है, किन्तु उसमें भी प्रसाद ने यथासम्भव गतिशीलता बनाये रखने का प्रयत्न किया ही है। कुछेक घटनाओ का समावेश तो इसी उद्देश्य से कर दिया गया है कि विचारो की सघनता एकरसता के बोझिलपन से बची रहे। फिर भी उस पर 'थीसिस-प्ले' होने के बावजूद अपेक्षित सक्रियता की कमी का आरोप लगाया जा सकता है। शेष समस्त नाट्यकृतियो में गत्वर क्रियाशीलता मिलेगी, जिसकी पृष्ठभूमि मे विरोध-तत्व या संघर्ष के सूत्र रहा करते हैं। पाश्चात्य नाट्य-पद्धति के प्रति अभिरुचि होने के कारण प्रसाद विरोध और संघर्ष को रचनातन्त्र का केन्द्र-बिन्दु मानते रहे हैं। यही कारण है कि उनके नाटक

भारतीय नाट्य-शास्त्र के पुराने चौखटों में फिट नही बैठते और परम्परावादी समीक्षक को खासी उलझन का सामना करना पडता है। वस्तुत: प्रसाद के नाटकों का आकलन विरोध-तत्व को केन्द्र मे रखकर किया जाना चाहिए। यह तत्व सामूहिक भूमिका में षड्यन्त्र, विभीषिका, युद्ध और हत्या के रूप में प्रकट हुआ है और विशिष्ट चरित्रों के सन्दर्भ में अन्तर्द्वन्द्व के रूप में। संघर्ष के ये बाह्य और आन्तर पहलू स्वतन्त्र रूप से भी अपनी-अपनी दिशा में गतिशील रहा करते है और परस्पर घात-प्रतिघात भी करते हैं। इस प्रकार प्रसाद के नाटको में सक्रियता का स्तर दुहरा हो जाता है। यह दुहरी सक्रियता एक ओर कारण-कार्य-परम्परा को जीवन्त व नाटकोचित बनाती हुई समूचे वृत्त में जटिलता का आकर्षण उत्पन्न कर देती है और दूसरी ओर मानव-जीवन के विचित्र एवं प्रभावशाली रूप खडे करती हैं। 'चन्द्रगुप्त' के विशाल कथानक की जटिलता मे चाणक्य, गान्धारनरेश, पर्वतेश्वर, सुवासिनी और कल्याणी के मनोद्वन्द्व कम योगदान नही करते। 'स्कन्दगुप्त' मे तो नायक का द्विधा-विभक्त व्यक्तित्व ही सारे विप्लवो को पनपने की छूट देता रहता है, यहाँ तक कि अन्त मे स्वयं भी उसी के आगे आत्मसमर्पण कर देता है। 'अजातशत्रु' में विम्बसार और प्रसेनजित् की मोहात्मक द्विविधा समस्त उपद्रव का मूल कारण है। चारित्रिक वैचित्र्य की दृष्टि से स्कन्दगुप्त, देवसेना, कार्नेलिया, चाणक्य और कोमा प्रसाद की विशिष्ट निर्मितियाँ हैं, जिनके माध्यम से मानव-हृदय के कुछ बडे गहरे पहलू उद्घाटित होते है। बाह्य सघर्षों ने भी बडे सशक्त और जीवन्त व्यक्तित्वो को उभारा है और वे अपने आप मे उदात्त सास्कृतिक आदर्श के सुदृढ स्तम्भ बनकर उपस्थित हुए हैं। प्रसाद के इतिहास प्रसिद्ध कथानायक इसी श्रेणी मे आते है। देवत्व के स्तर तक पहुँचे हुए अति-मानवीय उदात्त महामानव भी इस विरोधतत्व के ही आलोक मे अपनी विशेषता का परिचय देते है। दाण्ड्यायन का निर्भीक ब्रह्मतेज जगद्विजेता सिकन्दर की अवज्ञा मे प्रकट होत है। दिवाकरमित्र, गौतम बुद्ध, प्रख्यात कीर्ति, मिहिरदेव, पुरोहित की भी चारित्रिक गरिमा इसी प्रकार व्यापक सघर्षों की पृष्ठभूमि मे उभरती है।

जिस प्रकार विरोध-तत्व की धुरी पर कथानक का ढाचा खडा करना प्रसाद का निजी गुण है, उसी प्रकार उसके उपस्थापन की पद्धति भी उनकी अपनी और नवीन है। आरम्भ में पूर्वघटित कथासूत्रों और वर्तमान में उनसे सीधे सम्बद्ध पात्रो एवं स्थितियो को उनके मूल गुणधर्म के साथ उभार दिया जाता है। प्रायः सभी नाटको के प्रथम अक परिचय और प्रस्तावना का दायित्व निभाते हैं। उनमें उतनी सक्रियता नही है, जितनी जागरूकता और तत्परता। उनकी विशेषता इस बात में है कि वे सघर्ष के सारे सूत्रों को उनकी प्रकृति के अनुसार पक्ष या विपक्ष मे सयोजित करके भावी क्रिया-व्यापार का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। एक प्रकार से वे सघर्ष की तैयारी का तानाबाना बुनते है। निस्सन्देह यह बडे धैर्य और विन्यास-सयम का काम है। 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम दृश्य मे जिस कौशल से सिंहरण और आम्भीक का द्वन्द्व-युद्ध टाल दिया गया है, वह देखते ही बनता है।

ध्रुवस्वामिनी' के भी पहले अंक में इसी प्रकार चन्द्रगुप्त के विद्रोही व्यक्तित्व को नियन्त्रित रखा गया है, अन्यथा उसके हिंसक प्रतिवाद की भूमि यहाँ अन्तिम अक से कम प्रबल न थी। 'स्कन्दगुप्त' के प्रवेशाक मे कुचक्र और अत्याचार की स्फुट घटनाएँ दी गयी है और उनके माध्यम से विकट सामूहिक प्रयत्न का पूर्वाभास दिया गया है। प्रथम अक का यह बीज-प्रक्षेपण अगले अको मे क्रिया-प्रतिक्रिया और घात-प्रतिघात का रूप ले लेता है और सक्रियता तब तक निरन्तर क्रमिक रूप से घोरतर होती चली जाती है, जब तक सघर्ष का चरम बिन्दु नही आ जाता। कथायामो की विशदता के कारण बहुधा सघर्ष की एकाधिक चरम सीमाएँ मिलेंगी, जो प्रकटतः स्वतन्त्र और अपने आप मे पूर्ण प्रतीत होती हैं, किन्तु उनके अन्त. सूत्र उस महत्कार्य से जुडे रहते है जो नाटकीय क्रिया व्यापार का चरम क्षण है और जिससे फलागम का सीधा सम्बन्ध है। 'चन्द्रगुप्त' में सिकन्दर, नन्द तथा सिल्यूकस के युद्ध और पराभव के प्रसंग तीन स्वतन्त्र कथाभूमियाँ प्रस्तुत करते है और प्रत्येक मे क्रिया-व्यापार की एक-एक चरम-सीमा है। यदि फलागम को दृष्टिपथ में न रखें, तो कथानक बिखरा हुआ और असन्तुलित लगेगा। नाटक का मुख्य फल या कार्य चन्द्रगुप्त का निष्कंटक साम्राज्याधिरोहण है, जिसकी सिद्धि के लिए ये विविध और क्रमिक वृत्त-सोपान आवश्यक थे। फिर, कथा केन्द्रो की अधिकता के कारण उन्हे खण्ड-समापन की पद्धति से व्यवस्थित करना विन्यास की स्वाभाविक अपेक्षा भी है। मगध, गाँधार, पचनद और मालव के निजी प्रकरणो को मूल कथाधारा से जोडने मे नाटककार ने विरोध के चरम क्षणो का ही आश्रय मुख्यतः लिया है। सिकन्दर का प्रतिरोध चाहे पर्वतेश्वर कर रहा हो अथवा सिंहरण, चन्द्रगुप्त उससे अवश्य सम्बद्ध रहता है। पर्वतेश्वर के प्रसंग में चन्द्रगुप्त की बात नही मानी जाती, अतः पर्वतेश्वर पराभूत होता है। मालव-युद्ध में उसे नेतृत्व मिलता है, अत वहाँ सिकन्दर की पराजय होती है। अजातशत्रु में भी इसी प्रकार चार कथा केन्द्र हैं—मगध, कोसल, काशी तथा अवन्ती और विरोध-तत्व वहाँ भी संयोजक कडी का काम करता है। प्रसाद के नाट्य-वृत्तो में विरोध-परक घटना सूत्रों का बाहुल्य होने के कारण सघर्ष की एकाभिमुखी तीव्रता के स्थान पर बहुमुखी समग्रता की विशेषता लक्षित होती है, जो अपेक्षाकृत अधिक सयत विन्यास-शिल्प की आकाक्षा रखती है। कोई घटनासूत्र वे अपूर्ण नही रहने देते, सबको चुकता करते हुए और सबका ही अवदान लेकर वे अन्तिम अंक के चरम क्षण तक पहुँच जाते है। बहुमुखी समग्रता के विन्यास-कौशल के माध्यम से सारे कथासूत्र अब एकाभिमुख हो जाते हैं और कार्य-व्यापार की गति तीव्रतम हो उठती है। फलागम में प्रसाद की विशेष दिलचस्पी नही, उन्हें तो आपदाओ और बाधाओ के बीच मानव की प्रखर इच्छाशक्ति का संघर्ष दिखाना ही प्रिय हैं। फलतः उनके नाटकों में पाश्चात्य चरम-सीमा और भारतीय फलागम प्राय. साथ-साथ घटित होते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' का समापन इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक अवबोधक है। 'स्कन्दगुप्त' में भी यही बात है, किन्तु उसमें अन्तर्द्वन्द्व चरम स्थिति में वृत्त को मोड़

देता है और फलागम ट्रैजिक हो उठता है। आरंभिक नाटको—'राज्यश्री', 'विशाख' और 'नागयज्ञ'—मे मनोद्वन्द्व का प्राधान्य नही है, अत. उनमें समापन की यह विशेषता पूरी तरह निश्छद्म है।

नाटको मे विन्यास का शिल्प दो रूपो में प्रकट होता है—एक अधिकारिक क्रिया व्यापार के क्रमिक विकास मे, दूसरा प्रासगिक या उपकथाओ के विनियोजन मे। आधिकारिक वृत्त के विन्यास मे प्रसाद ने प्रस्तावन, सम्प्रसारण और एकान्वयन की पद्धति अपनायी है, जिसका रूप देखा जा चुका है। उनकी यह पद्धति भारतीय अर्थप्रकृतियो की अवधारणा से बहुत भिन्न न होकर भी विशिष्ट ही ठहरती है। अर्थप्रकृतियाँ वस्तुत. एक बँधे-बँधाये ढर्रे पर सीमित और सरल कथावस्तु के विन्यास की रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं, जबकि प्रसाद को न तो रुढि से ही लगाव है और न ऋजु कथानक से ही। वे इसके विपरीत वक्र एव जटिल वृत्तो के प्रस्तुतीकरण मे अधिक रुचि रखते है, जिसके लिए नवीन प्रविधि की सरचना अनिवार्य हो उठती है। यही कारण है कि प्रस्तावन और सम्प्रसारण को बीज और बिन्दु मे सीमित नही किया जा सकता। प्रारम्भ और प्रयत्न कार्यावस्थाओ में भी उन्हे नही बाँधा जा सकता, क्योकि ये भी बीज और बिन्दु की भाँति स्थिति या घटना विशेष पर केन्द्रित रहती है। 'प्रयत्न' मे कुछ व्यापकता अवश्य है, किन्तु वह एकाभिमुख अधिक है जबकि प्रसाद बहुमुखी समग्रता के नाट्यशिल्पी है। जितनी बडी कथाभूमि लेकर वे नाट्यरचना के लिए अग्रसर होते है, उसके आकलन के लिए उतने ही वृहत्तर मानदण्ड भी अपेक्षित है। उनके नाटको की उपकथाओ को पताका, प्रकरी के समान आधिकारिक वृत्त से अलगाना उतना आसान नही। वे मूलकथा से इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि उनके अभाव मे वह निष्प्राण होने लगती है। उन्हे अलग कर देने पर बच रहता है एक इतिहास जो कितना ही गौरवशाली क्यो न हो, जीवन्त वास्तविकता की दृष्टि से तो वह बेजान होता ही है। असलियत का यह रग उपकथाओ के माध्यम से उभरता है और उन्ही के रूप विधान और विनियोजन में प्रसाद की नाट्य-प्रतिभा अपनी मौलिकता का परिचय देती है। दूसरे शब्दो मे प्रसाद के नाट्यवृत्तो की प्रातिनिधिक वास्तविकता उनके उपकथानको में है, जिसके उपस्थापन में तथाकथित आधिकारिक वृत्त सुदृढ आधार का काम करते है। प्रासगिक कथाओ की यह आधिकारिकता उनके नाटको मे आरम्भ से ही उभरने लगती है और नाटककार उन्हें मूलवृत्त के समानान्तर अथवा उससे सयुक्त रूप में विकसित करने में अतिरिक्त जागरुकता का परिचय देता है। कथा-फलक के इस वैशद्य को बीज, बिन्दु, प्रारम्भ, प्रयत्न या कि पताका-प्रकरी आदि रुढ विशेषणो से परिभाषित नही किया जा सकता। ये सब तो केवल उसके स्थल-विशेष या प्रसंग-विशेष का ही बोध कराते है, उसका कोई समग्र आयाम नही प्रस्तुत करते। ठीक इसी प्रकार पाश्चात्य क्रिया-दशाओ को भी प्रसाद के वृत्तविन्यास के आकलन का आधार नही बनाया जा सकता। वस्तुत प्रसाद किसी भी रुढि से बँधना नही चाहते थे, अतः

उन्होने अपने ही ढंग से नाट्य-वृत्तो का निबन्धन किया है। यह और बात है कि उस पद्धति में भारतीय तथा पाश्चात्य प्रविधियो का कोई समन्वित या विशिष्ट रूप लक्षित हो जाए।

प्रासगिक कथाओ की प्रकृति कभी अधिकारिक वृत्त के अनुकूल होती है और कभी प्रतिकूल। यह आवश्यक नही कि उपकथाएँ अनिवार्यत मूलकथा से ही साम्य या वैषम्य रखे, वे आपस में भी इस प्रकार की सापेक्षता रख सकती है। प्रसाद उपकथाओ को कम महत्व नही देते। अत वे उनमें भी पारस्परिकता की भावना रखते है। साम्य-वैषम्य की यह विशेषता प्राय सभी नाटको मे मिलेगी। कभी-कभी एक ही उपकथा मे दोनो प्रकृतियो का सन्निवेश करके अद्भुत कथा-रस की सृष्टि की गयी है। 'ध्रुवस्वामिनी' मे कोमा का वृत्त ऐसा ही है। एक ओर वह मुख्य चरित्र की परिस्थितियो से साम्य रखता है और दूसरी ओर अपनी दिशा बदलकर विषम हो उठता है। रामगुप्त से अपमानित ध्रुवा की स्थिति शकराज से प्रवंचित कोमा से बहुत भिन्न नही, किन्तु जिस निष्ठा से कोमा शकराज के शव के साथ आत्म-समापन के लिए कृतनिश्चय है, वैसा साहस ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त के सदर्भ में नही कर पाती। ध्रुवस्वामिनी की उलझी हुई परिस्थिति एव द्विधाग्रस्त मन स्थिति के प्रद्योतन के लिए यह उपकथा अत्यन्त सटीक बैठती है। साम्य और वैषम्य के अलग-अलग आधार लेकर चलनेवाली उपकथाएँ जीवन के वैविध्य और वैचित्र्य का परिचय देकर मानव मूल्यो की प्रतिष्ठा पर बल देती है। 'चन्द्रगुप्त' मे मालविका, कल्याणी, कार्नलिया, सुवासिनी और अलका की कथाएँ साम्यपरक कही जा सकती है। दूसरी ओर सिंहरण और आम्भीक के वृत्त परस्पर-विषम प्रकृति के है। 'स्कन्दगुप्त' मे बन्धुवर्मा और भटार्क, प्रख्यातकीर्ति और प्रपचबुद्धि, देवसेना और विजया के वृत्त परस्पर-विरोधी प्रकृति के है और 'अजातशत्रु' में अजातविरुद्धक, बिम्बसार-प्रसेन, छलना-मागन्धी के वृत्त समप्रकृति के। साम्य-वैषम्य के आधार पर विनियोजित ये उपकथाएँ मूलवृत्त से कभी भावना के स्तर पर सम्बद्ध होती है और कभी कर्म के। विरोध का तत्व केन्द्र मे होने के कारण अधिकतर कर्म ही सयोजन का काम करता है, किन्तु भावात्मक प्रकरणो की भी कमी नही है। अपनी मौलिक कवि-प्रकृति के कारण प्रसाद उन्हें सर्वोपरि रखते है, किन्तु व्यावहारिक औचित्य के विचार से वे उन्हे कर्म से भी जोडने का प्रयास करते है।

'स्कन्दगुप्त' में देवसेना और स्कन्द का मनोराग या कि मनोद्वन्द्व मात्र भावात्मक नही रहता, कर्म को भी प्रोत्साहन देता है। देवसेना बूढ़े पर्णदत्त के साथ रहकर अपनी कला से घायल सैनिकों की सहायता के लिए अन्न और अर्थ के उपार्जन में सहयोग देती है। स्कन्द का परित्याग भी वह कर्म के लिए ही करती है, यद्यपि मूलत यह समस्या स्वाभिमान की थी। अपने अह को अक्षत रखने के लिए उसे इस विचार से बहुत बल मिलता है कि उसके दूर रहने पर स्कन्द की कर्मण्यता बनी रहेगी। 'चन्द्रगुप्त' में इसी प्रकार भावनामयी मालविका गान्धार में सेतु का मानचित्र बनाती है, मालव में आहत

सैनिको की परिचर्या का दायित्व वहन करती है, चाणक्य के आदेश का यथावत् पालन करती हुई राक्षस और सुवासिनी के परिणय में व्यवधान डालती है और अन्त मे नायक की जीवन रक्षा के लिए अपने को वधिको के हाथ सौंप देती है। कार्नेलिया स्वयं तो कर्म-मयी नही, किन्तु कर्मप्रेरक अवश्य है। चन्द्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व सिल्यूक्स के सन्धि-स्वीकार आदि में वही कारणरुपा है। चन्द्रगुप्त के युद्धोत्साह में भी वही उद्दीपन विभाव का काम कर रही है।

आधिकारिक कथानक की विशालता के अनुरूप ही प्रासगिक वृत्तो के आयाम बडे है और वे दूर तक उसका साथ देते है। जिस प्रकार मूल कथा में पात्रो एवं घटनाओ का व्यापक वैविध्य होता है, उसी प्रकार इन उपकथाओ मे भी। 'चन्द्रगुप्त' में सिंहरण, अलका और मालविका के वृत्त परस्पर सम्बद्ध होकर प्रायः एक समानान्तर कथानक रच देते है और अन्त तक साथ चलते हैं। इसी प्रकार सुवासिनी के प्रकरण, नन्द, शकटार, राक्षस और कार्नेलिया से सम्बद्ध होकर वृहत् एवं दूरगामी बन जाता है। 'स्कन्दगुप्त' में यह यौगिक क्रिया विपक्ष के संगठन में देखी जा सकती है। नाटककार ने बडी कुशलता से हूण, बौद्ध और विजया के कथासूत्रो को अन्त पुर के षडयंत्र से जोड दिया है। अनन्त-देवी, पुरगुप्त, भटार्क और शर्वनाग का ही कुचक्र प्रतिपक्ष के रूप में काफी सुदृढ था, उपर्युक्त अतिरिक्त शक्तियो के जुड जाने से तो वह अभेद्य ही हो उठता है। पक्ष-गठन में भी ऐसा हो कौशल लक्षित होता है। किन्तु उसमें विपक्ष जैसी सुदृढता नही। विजय नायक-पक्ष की ही होती है, किन्तु उसका श्रेय प्रमुखत. नायक को ही दिया जाना चाहिए, सगठन को उतना नही। 'अजातशत्रु' मे भी विरोध-पक्ष का गठन इसी कौशल के साथ किया गया है। प्रासगिक वृत्तो की यह यौगिक क्रिया न्यूनाधिक सभी नाटको में मिलेगी। जिनमे वस्तु-फलक अपेक्षाकृत छोटे है, उनमें स्वतत्र वृत्त-सरचना की प्रवृत्ति लक्षित होती है। ऐसे स्थलो पर साम्य-वैषम्य का आधार ग्रहण किया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में शकराज और कोमा का प्रसग ऐसा ही है। यो, प्रसाद ने यौगिक विधि का उपयोग यहाँ भी अपने ढग से किया ही है। रामगुप्त को शकराज का आक्रमण एकदम अपने प्रतिकूल नही प्रतीत होता और उसका वह लाभ उठाता ही है। 'नागयज्ञ' में दामिनी के वृत्त का तक्षक से कुछ समय के लिए जुडना इसी प्रवृत्ति का परिचय देता है। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, इन नाटको के कथाफलक छोटे है अतः इनमे यौगिक क्रिया की वैसी सुदृढ एकतानता नही मिलती। ये दोनो प्रकार के प्रासगिक वृत्त आधिकारिक कथावस्तु से नायक, परिस्थिति अथवा लक्ष्य के स्तर पर जुडे रहते हैं। नायक रचना के केन्द्र मे होता है, अत. उपकथाओ का उससे सम्बद्ध होना एक अनिवार्य अपेक्षा है। इस विधापरक अनिवार्यता के अतिरिक्त भावनात्मक प्रकरणो को नायक से अनुबद्ध करने की प्रवृत्ति प्रसाद की निजी विशेषता कही जा सकती है। 'चन्द्रगुप्त' में मालविका और कल्याणी के प्रकरण ऐसे ही हैं। 'स्कन्दगुप्त' में बन्धुवर्मा और 'चन्द्रगुप्त' में पर्वतेश्वर के प्रासंगिक वृत्त परिस्थितियो के दबाव

नायकाश्रयी बनते है। लक्ष्यगत सम्बद्धीकरण अनुगामी भी हो सकता है और प्रतिगामी भी। मुख्य नाटकीय क्रिया विरोधपरक होने के कारण प्रतिगामिता सभी नाटको मे है। सत्ता हथियाने के लिए विपक्ष को नायक-पक्ष से निर्णायक करना ही होता है और इस विन्दु पर वह मूलकथा से सम्बद्ध हो जाता है। निर्णायक संघर्ष से पहले भी टकराव की छोटी-बडी स्थितियाँ आती रहती है। 'स्कन्दगुप्त' मे अनन्तदेवी, बौद्ध, हूण तथा भटार्क अन्तिम संघर्ष से पहले कई बार नायक-पक्ष से टकराते है। 'चन्द्रगुप्त' में तो इस मध्यवर्ती संघर्ष के आधार पर तीन स्वतंत्र कथानक ही प्रतीत होने लगते हैं। अनुगामी सम्बद्धीकरण का एक अच्छा उदाहरण सिंहरण की कथा मे है। सिंहरण को अपने प्रान्त की रक्षा उन्ही आक्रामको से करनी है, जिनके विरुद्ध कथानायक आरंभ से ही सघर्षरत है। इस लक्ष्यगत सम्बद्धीकरण मे बहुधा सयोगतत्व की भी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। यह एक संयोग ही तो है कि जिस क्षण स्कन्द देवसेना की ओर उन्मुख हो रहा है, उसी क्षण विजया उसे अपनी रूपदीप्ति मे बाँध लेती है और वही विजया उसके सामने भटार्क का वरण करती है। 'चन्द्रगुप्त' मे अजेय पौरुष और अप्रतिम वीरता का धनी पर्वतेश्वर का अलका और कल्याणी के प्रति प्रसक्त होना भी एक सयोग ही है, जो सम्बद्धता की नवीन और महत्वपूर्ण दिशाएँ खोलता है। घटना अथवा स्थितिपरक संयोग के स्थलो का तो बाहुल्य है, क्योकि कथाभूमि उसी के अनुरूप रहती है। 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य का चन्द्रगुप्त-द्वारा बन्दीगृह से छुडाया जाना, राक्षस-द्वारा नन्द के हाथो से सुवासिनी की शील-रक्षा, चन्द्रगुप्त-द्वारा फिलिप्स से कार्नेलिया की सम्मान-रक्षा, सिल्यूस-द्वारा चीते का वध आदि अनेकानेक घटनाएँ संयोगपरक है। 'स्कन्दगुप्त' मे भी देवकी और देवसेना के प्राणो की रक्षा ऐन मौके पर हो जाती है। प्रायः सभी नाटको मे सयोगतत्व का उपयोग किया गया है। और उसके द्वारा अनुगामी अथवा प्रतिगामी सम्बद्धता स्थापित की गयी है। निश्चय ही प्रसाद ने उपकथाओ के सविधान में अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी आधिकारिक कथावस्तु का भव्य प्रासाद इन उपकथाओ के ही सुदृढ स्तम्भो पर खडा हुआ है।

पाश्चात्य नाट्यपद्धति में वस्तु-विन्यास के प्रसग मे अन्वितित्रय को विशेष महत्व दिया गया है। काल, स्थल एवं क्रिया की अन्वितियाँ वस्तु-गठन में तीव्र एकाभिमुखी प्रभाव उत्पन्न करती हैं और नाटकीय वास्तविकता का बोध देती है। प्रसाद ने इस नाटकीय अपेक्षा की पूर्ति अपने ढंग से की है। अपनी प्रकृति के ही अनुरूप वे किसी पद्धति-विशेष से बँधकर नही चले और यही सत्य प्रस्तुत सदर्भ में भी प्रकट हुआ है। नाटक के लिए प्रभाव की अन्विति को वे सर्वोपरि महत्व देते है, किन्तु उसके लिए देशकाल की अन्विति अपरिहार्य नही मानते। महाकाव्यों जैसे विशाल आयाम लेकर चलनेवाले उनके नाटको में उनका यथावत् विनियोग संभव भी नही था। उनके उद्देश्य की विराटता के आगे रूढ सिद्धान्त बहुत छोटे प्रतीत होते है। प्रसाद के समक्ष पूरे देश का कर्मफलक

रहता है और वे घटना के स्थान पर युग-विशेष के परिदर्शन मे आस्था रखते है । अत स्वाभाविक रूप से ही स्थल और काल की अन्वितियाँ बाधित हो जाती है । लघु नाटको की बात और है, उनके वृत्त की लघुता स्वयमेव इनका विधान कर देती है, किन्तु बडे और प्रमुख नाटको मे देश और काल का विस्तार एक सामान्य लक्षण है । 'चन्द्रगुप्त' मे पचीस वर्षों की कालावधि ली गयी है और घटना-प्रसगो का फैलाव मगध से लेकर गान्धार तक है । चालीस से अधिक घटनास्थलो के दृश्य इसमें मिलेगे । 'स्कन्दगुप्त' मे प्राय. ग्यारह वर्षों की कथाभूमि है और प्रमुख घटनाएँ मगध, मालवा, उज्जयिनी, अवन्ती, गान्धार और काश्मीर के दूरवर्ती क्षेत्रो मे घटित होती है । 'अजातशत्रु' मे मगध, कोसल, काशी और अवन्ती—चार जनपदो का कथाफलक है और कालावधि सात वर्षों की है । सबसे लम्बी काल-सीमा 'राज्यश्री' की है—प्राय बयालीस वर्षों की । स्थलो का भी वैविध्य है, किन्तु कालावधि जैसा नही । किसी सीमा तक उसमे स्थान की अन्विति है । 'कामना' और 'ध्रुवस्वामिनी' में स्थानिक अन्विति सर्वाधिक है । कालावधि भी सीमित है और घटनाओ मे अविश्रृङ्खल एकतानता है । 'नागयज्ञ' मे भी ये दोनो अन्वितियाँ मिलेंगी, किन्तु इसमे उतनी सघनता नही । प्रासगिक वृत्त के फैलाव के कारण स्थलो की अनेकता है । वस्तुत प्रसाद स्थल और काल की अन्विति को विशेष महत्व नही देते और समग्र प्रभाव पर केन्द्रित रहते है । इसके लिए उन्होने क्रियान्विति को आधार बनाया है । विरोधमूला रचना-प्रवृत्ति के कारण क्रियाशीलता पर विशेष दृष्टि रखना उनकी नियति भी थी और आकाक्षा भी । लघुतर क्रिया-कलापो को एक बृहत्तर सघर्ष की ओर अग्रसर करने में उनका विन्यास-शिल्प अप्रतिम है । 'नागयज्ञ', 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' मे क्रियान्वयन का शिल्प अपने प्रकर्ष पर है । 'अजातशत्रु' मे मगध, कोसल और अवन्ती की घटनाओ का काशी मे केन्द्रित होना क्रियान्विति का एक अच्छा उदाहरण है । इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' मे मगध, मालवा, उज्जयिनी, अवन्ती और काश्मीर के क्रियासूत्रो को गान्धार—कुभा की घाटी—की ओर अग्रसर किया गया है । 'चन्द्रगुप्त' मे संघर्ष के तीन विन्दुओ की प्रधानता के कारण दुहरी क्रियान्विति का सौष्ठव लक्षित होता है । सम्बद्ध घटनाएँ अपने-अपने संघर्ष-विन्दु की ओर बढती है और संघर्ष-विन्दु निर्णायक-क्षण की ओर प्रवर्तन करते है । क्रियान्विति का यह रूप निश्चय ही पाश्चात्य अवधारणा के साथ ठीक-ठीक मेल नही खाता, किन्तु वही तो प्रसाद का वैशिष्ट्य भी है । प्रसाद की दृष्टि समग्र प्रभाव पर थी, अत उन्होने उसी के अनुरूप सक्रियता को विन्यस्त किया है । यह समग्र प्रभाव एक उदात्त सास्कृतिक तत्व के रूप मे सभी नाटको में विद्यमान है । वीरता पर आधृत त्याग की गरिमा 'स्कन्दगुप्त' में देखी जा सकती है । 'चन्द्रगुप्त' मे निस्संग राष्ट्रभावना, अपराजेय कूटबुद्धि और अजेय वीरत्व के भारतीय प्रतिमान प्रस्तुत किये गये है । 'राज्यश्री' और 'अजातशत्रु' मे करुणा का मानवीय आदर्श स्थापित किया गया है । कहना न होगा कि उदात्त प्रभाव की सृष्टि के लिए प्रसाद की यह ललक उनके प्रगीतात्मक कवि-मन की

एक सहज वृत्ति है और इसके लिए वे अपनी रचनाओ मे आदि से अन्त तक प्रयत्नशील तथा जागरूक रहे है। इसी प्रवृत्ति के कारण उनके नाटको के समापन विलक्षण और विशिष्ट हो उठे है। उनकी उच्चाशयता, गहरी सास्कृतिक आस्था प्रकृत्या सामान्य सुख-दु ख की भावना से ऊपर उठ जाती है और पाठक या दर्शक उस उच्चभूमि मे पहुंचकर एक अननुभूतपूर्व, किन्तु नितान्त मानवीय, उदात्तता की उपलब्धि से कृतार्थ हो उठता है।

नाट्यवृत्त की विरोधमूलकता और सक्रियता को रोमाच के स्तर पर प्रभावी एव जीवन्त बनाने के लिए प्रसाद ने प्राय. अपने सभी नाटको मे असाधारण घटनाओं, स्थितियों तथा पात्रो की सृष्टि की है। असाधारण वातावरण की यह सरचना कई दृष्टियो से उपादेय सिद्ध हुई है। सघर्षात्मक सक्रियता का यह एक अंग तो है ही उसके आतक को भी यह अत्यधिक बढा देता है। 'हॉरर' का वास्तविक रूप इसी के माध्यम से प्रकट होता है। 'स्कन्दगुप्त' मे कापालिक प्रपंचबुद्धि का कराल व्यक्तित्व भटार्क जैसे असम साहसी को भी हिला देता है। उग्रतारा की वीभत्स श्मशान-साधना में रत उसका प्रचण्ड रूप देखकर देवसेना तो जुगुप्सामिश्रित भय से किंकर्तव्यविमूढ एव मन्त्राविष्ट जैसी हो जाती है। आरम्भिक एकाकी 'प्रायश्चित्त' में जयचन्द के समक्ष सयोगिता की छाया-प्रतिमा का उभरना ऐसा ही आतंक उत्पन्न करता है। 'विशाख' में चैत्य पूजन का प्रसंग भी इसी कोटि का है। त्रासद वातावरण के निर्माण में इस असाधारण वस्तु-तत्व की भूमिका सदैव महत्व-पूर्ण रही है। 'स्कन्दगुप्त' में देवकी की हत्या के कुचक्र-साधन के पूर्व सैनिको की असामान्य मन स्थिति ऐसी ही है, जिसमें उन्हें अपने ही द्वारा चिल्ला कर कहे गये शब्द भी नही सुनाई पडते। अन्धकार मे कुभा के बाँध का टूटना और स्कन्द आदि का बह जाना भी त्रासद परिवेश को पुष्ट करने वाली असाधारण घटना है। 'राज्यश्री' मे आँधी का दृश्य एवं विकटघोष का विकट दस्युकर्म ऐसा ही प्रभाव उत्पन्न करते है। 'नागयज्ञ' में जनमेजय के बाण से जरत्कारु की आकस्मिक मृत्यु भी इसी वर्ग में आने वाली घटना है। मंचीय चमत्कार की दृष्टि से तो यह वस्तु-तत्व उपयोगी है ही, बहुधा दर्शको के प्रतिशोधभाव की भी इससे अप्रत्याशित तुष्टि होती है। 'स्कन्दगुप्त' मे शर्वनाग का पागल हो जाना दर्शको को प्रतिहिंसात्मक संतोष देता है। यही प्रतिशोधपरक प्रसन्नता (मैलिशस प्लेजर) हमें तब अनुभव होती है, जब 'अजातशत्रु' में समुद्रदत्त षड्यन्त्र रचने के प्रयत्न मे स्वयं बलि का बकरा बन जाता है अथवा जब दस्यु शैलेन्द्र से साठगाठ रखने वाली श्यामा उसी के विश्वासघात का शिकार बनती है। 'चन्द्रगुप्त' में शकटार द्वारा नन्द की सार्वजनिक एव आकस्मिक हत्या भी ऐसी ही एक रोमाचक घटना है। एकाधिक बार इस असाधारण संसृष्टि ने पूर्वाभास का भी दायित्व निबाहा है। 'चन्द्रगुप्त' में नायक के विषय में दाण्ड्या-यन की भविष्यवाणी तथा 'ध्रुवस्वामिनी' मे धूमकेतु के दर्शन से शकराज का मानसिक असन्तुलन भावी परिणाम की ओर संकेत करने वाली स्थितियाँ हैं। कभी-कभी इस तत्व

से कथावस्तु के सशक्त विकास-सूत्र भी उपलब्ध हो जाते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त को स्त्री वेश धारण की युक्ति हिजडे की अनर्गल बातों मे मिल गई है।

इस प्रकार प्रसाद के नाटको में असाधारण वस्तुतत्व अपनी अनेकविध भूमिकाओ के द्वारा क्रिया व्यापार को जीवन्त बनाता है और आगे बढाता है। चाहे, तो इसे नियति, सयोग और अतिप्राकृत के त्रिवर्ग मे विभक्त कर सकते है। जरत्कारु की हत्या, समुद्रदत्त और श्यामा की परिणति, स्कन्द का कुभा मे बहना, शर्वनाग का उन्माद, मालविका की हत्या आदि नियतिचक्र से परिचालित घटनाएँ या स्थितियाँ हैं। सयोगतत्व को प्रस्तुत प्रसग मे आकस्मिक एव असाधारण स्थिति के रूप मे देखना चाहिए। 'अजातशत्रु' में बुद्ध-द्वारा श्यामा का उपचार, 'चन्द्रगुप्त' मे चीते के दो प्रसग, दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी आदि के प्रसग में आकस्मिकता एव असाधारणता का तत्व देखा जा सकता है। अतिप्राकृत-तत्व 'प्रायश्चित्त' में सयोगिता की प्रेतछाया, 'राज्यश्री' में आँधी, 'अजातशत्रु' मे पद्मा-वती पर प्रहारोद्यत उद्यन के हाथ की जडता, 'ध्रुवस्वामिनी' में धूमकेतु आदि के रूप मे देखा जा सकता है। नियति, सयोग और अतिप्राकृत के तानेबाने से बुना हुआ यह असाधारण वस्तु-तत्व अपने आप मे तो रोमाचकारी है ही, विरोध और संघर्ष की भूमिका से जुडकर वह भयावह रूप से प्रभावशाली हो उठता है। नाटकीय व्यग्य, जो त्रासद प्रभाव को तीक्ष्ण बनाने का एक सशक्त उपकरण है, इस आकस्मिक और असाधारण के ही बीच से उभरता है। स्थितियों और घटनाओ का विपरिणाम इसी के अन्तर्गत है, जिसकी ओर सकेत किया जा चुका है। इस प्रकार असामान्य वस्तु-तत्व प्रसाद के नाटको मे चमत्कार और रोमाच का वैशिष्ट्य उत्पन्न करता है। यों प्रसाद द्वारा निर्मित विरोध का सामान्य वातावरण अपने आपमे कम रोमाचक नही। षड्यन्त्र, विद्रोह और युद्ध की कथाभूमि के अनुरूप ही उन्होने रक्तपात, हत्या, आत्महत्या, अन्धकार, श्मशान, बाढ, अग्निप्रदाह, उन्माद, मद्यपान आदि के भीषण दृश्य रचे हैं। अन्धकार की घनीभूत कालिमा में उष्ण रक्त की तरल लालिमा मानवीय दुर्दान्तता का एक भयावह और अमिट चित्र बना जाती है। प्रसाद के नाट्यवृत्तो की क्रियाभूमि ऐसी ही है। असाधारण-तत्व के विनियोजन से इनकी रोमाचकता द्विगुणित हो उठती है।

प्रसाद ने कथानको की परिकल्पना में मचीयता या कि जनरुचि का बराबर ध्यान रखा है। अपनी वैचारिक एव सास्कृतिक प्रकृति के बावजूद वे नाटको में गीत, नृत्य और प्रहसन का सन्निवेश करना कभी नही भूले। गीतो की वस्तुभूमि उन्होने पात्र और स्थिति के अनुरूप रखी है। यह सही है कि उनके अनेक नाट्यप्रगीत स्वतन्त्र मुक्तककाव्य की हैसियत रखते है, किन्तु यह तो उनका अतिरिक्त गुण है और इसके लिए नाटककार की काव्य-प्रतिभा सम्मानार्ह है। दोष को तब माना जा सकता था जब ये प्रगीत नाटकीय स्थिति के अनुरूप न होते, या कि इनसे कथाप्रवाह में व्यवधान पडता। अस्तु, प्रसाद के श्रेष्ठतम प्रगीत यदि नाटको में ही हैं, तो यह उनके नाटको की एक अतिरिक्त उपलब्धि

है। 'अजातशत्रु' का 'मीड मत खिंचे बीन के तार', 'स्कन्दगुप्त' का 'आह वेदने, मिली विदाई', 'चन्द्रगुप्त' का 'तुम कनक किरण के अन्तराल मे' तथा 'एक घूंट' का 'जलधर की माला' गीत एक ओर काव्य की अमूल्य निधि है, दूसरी ओर नाटकीय चरित्र-व्यजकता के सशक्त आधार। इनके माध्यम से क्रमश पद्मावती के धैर्य, देवसेना के आत्म-निर्वासन, राक्षस की कलाप्रियता और प्रेमलता की भावुकता का परिचय मिलता है। नर्तकियों के गाने प्राय. मचीय दिलचस्पी के लिए रखे गये हैं, किन्तु उनसे बहुधा महत्वपूर्ण नाटकीय प्रयोजन भी सिद्ध हुए हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' के दूसरे अक मे शकराज के शिविर मे नर्तकियो का गान एक ओर शकराज और उसके सैनिको की भोगवृत्ति का परिचय दे रहा है और दूसरी ओर इस बीच चन्द्रगुप्त के सैनिक अपनी अन्तिम तैयारी में लगे हैं।

राष्ट्रीय-सास्कृतिक गानो एवं अभियान-गीतो का विनियोजन प्रसाद ने सामयिक भावप्रवाह और अपने सास्कृतिक प्रदेय के विचार से किया है। उनमें से कुछ अतिरिक्त अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु प्राय सर्वत्र वीररस की प्रधानता के कारण वे अपना औचित्य स्थापित ही कर लेते है। कुछ गीत अनावश्यक रूप से लम्बे हो गये हैं और वे कथा-प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न कर देते हैं। 'विशाख' मे प्रेमानन्द और 'अजातशत्रु' मे श्यामा और बिम्बसार के दीर्घ गीत इसी प्रकार के है। यो, प्रसाद उत्तरोत्तर अपने नाटको मे गीतों की सख्या कम करते गये हैं और वस्तु-तत्व को अधिकाधिक सुश्रृङ्खल एवं निर्बाध बनाने का प्रयत्न करते रहे है। 'राज्यश्री' मे सात और 'कामना' मे आठ गीत हैं जो इनकी वृत्त-सीमा के अनुसार अधिक ही कहे जायेगे। 'विशाख' मे तीस गीत हैं। अपने सविधानक मे जनात्मक होने के कारण यह नाटक जहाँ अन्य दृष्टियो से हल्का पडता है, वहाँ गीतो की दृष्टि से भी। 'अजातशत्रु' मे तेईस गीत हैं। इसी प्रकार 'नागयज्ञ' मे दस, 'स्कन्दगुप्त' मे उन्नीस, चन्द्रगुप्त में बारह तथा 'एक घूंट' और 'ध्रुवस्वामिनी' में चार-चार गीत हैं। वस्तुत. कवि-प्रकृति के कारण प्रसाद को गीतो से मोह रहा है और इसके लिए उन्होने तदनुरूप चरित्रो की भी सृष्टि कर ली है। श्यामा, देवसेना, राक्षस आदि पात्र सगीतप्रिय है, अत. उनके माध्यम से गीतो का अभिनिवेश करने मे प्रसाद को सुविधा हुई है। नर्तकियो के साथ तो गीतो का होना अपरिहार्य ही है। प्रगीत-योजना का यह वैशि-ष्ट्य प्रसाद की कथानक-परिकल्पना के अनुरूप ही कहा जायेगा। वे स्थूल बाह्य-सत्य की अपेक्षा उनमे निहित भावनात्मक वास्तविकता को सदैव अधिक महत्व देते रहे हैं और यह आन्तरिक सत्य एक महत्वपूर्ण सीमा तक प्रगीतों के माध्यम से व्यक्त हो सका है।

नाटको की कथाभूमि उदात्त एवं सास्कृतिक होने के कारण उनमें प्रहसन के लिए अधिक अवकाश नही, फिर भी प्रसाद ने उसकी योजना की ही है। समसामयिक पारसी रगमंच की सस्ती हास्यप्रियता अथवा रूढ विदूषकत्व से उन्हे अरुचि थी। 'विशाख' के प्रथम संस्करण की भूमिका मे उन्होने अपने एतद्विषयक विचार व्यक्त किये हैं—'एक शब्द कामिक-हास्य'—के बारे में लिखना है। वह यह कि वह मनोरजिनी वृत्ति का विकास

है। जिस जाति में स्वतंत्र जीवन की चेष्टा है, वही इसके सुगम उपाय और सभ्य परिहास दिखाई देते है। परन्तु यहाँ तो रोने से फुरसत नही, विनोद का समाज मे नाम ही नही, फिर उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखाई दे। अंग्रेजी का अनुकरण हमें नही रुचता। हमारी जातीयता ज्यो-ज्यो सुरुचि सम्पन्न होगी वैसे-वैसे इसका शुद्ध मनोरंजनकारी विनोदपूर्ण और व्यंग्य का विकास होगा क्योकि परिहास का उद्देश्य संशोधन है। साहित्य मे नव रसो मे वह एक रस है, किन्तु इस विषय की उत्तम कल्पनाएं बहुत कम हैं। आजकल पारसी रंगमंच वाले एक स्वतंत्र कथा गढकर दो तीन दृश्य मे फिर नाटक मे जगह-जगह उसे भर देते है जिससे कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि अतीव दुःखद दृश्य के बाद भी एक फूहड हँसी का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है जिससे कुछ रस बना हुआ रहता है वह लुप्त हो एक वीभत्स रसाभास उत्पन्न कर देता है। इसका परिपाक पूर्णरूप से होने नही पाता और मूल कथा के रस को बार-बार कल्पित करके दर्शको को देखना पडता है। अंत मे नाटक देख लेने पर एक उत्सव वा तमाशा का दृश्य ही आँख मे रह जाता है। शिक्षा का—आदर्श का—ध्यान भी नही रह जाता। इसलिए हम ऐसे कामिक के विरुद्ध है।' इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि प्रसाद स्वस्थ एवं औचित्यपूर्ण हास्य के हिमायती है। उनकी यह मनोदृष्टि एक ओर आनन्दवादी विचार-परम्परा से जुडी हुई है और दूसरी ओर नाटकीय प्रयोजन से।

'विशाख' का कॉमिक, उनके पुरोवचन के बावजूद, भले ही साधारण रह गया हो, किन्तु बाद की कृतियो में उसका सही रूप अवश्य विद्यमान है। 'अजातशत्रु' में वसन्तक और 'स्कन्दगुप्त' मे मुद्गल के कॉमिक बहुत अच्छे बन पडे है। भारतीय परम्परा के अनुरूप उनमे भोजनभट्टता एवं राजकीयजनोचित विदग्धता है। उनमें शास्त्रज्ञान भी है और अवसर चातुर्य भी। नाटकीय प्रयोजन से भी वे बराबर जुडे रहते है। बहुत सी अवान्तर, किन्तु कथानक के अग्रसारण और समग्र अवधारण की दृष्टि से आवश्यक सूचनाएं उन्ही के माध्यम से मिलती हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' मे कुबडे-बौने आदि का प्रहसन तो कथा-पथ के अवरोध को सहसा ही दूर करने के लिए बेजोड युक्ति प्रस्तुत कर देता है। वैचारिक द्वन्द्व के गहन-गम्भीर वातावरण मे इस हल्के हास्य की अपनी अनोखी ही छटा है। फिर वह आमोदप्रिय राजाओ की पुरातन विनोदवृत्ति का एक नमूना भी पेश करता है। 'एक घूंट' में चँदुले का प्रहसन व्यंग्य की प्रधानता के कारण कथावस्तु में खप जाता है। वह उसकी वैचारिक बोझिलता को तोडता भी है और एक व्यवहारिक समाधान भी देता है। कई बार प्रसाद ने द्वन्द्व के सूत्राधर-प्रमुख पात्रो को ही परिहास प्रिय बनाकर मंचीय रोचकता का विधान कर दिया है। 'विशाख' का महापिंगल और 'नागयज्ञ' का काश्यप ऐसे ही चरित्र हैं। नाटकीय प्रयोजन के रूप मे इससे उनकी मूढता और पतनशीलता का परिचय मिलता है, जिसके कारण उनका पराभव प्राक्निर्णीत हो जाता है। शिष्ट-जनोचित वैदग्ध्य का विनोद प्रायः सभी श्रेष्ठ चरित्रो में

पाया जा सकता है, क्योकि वह राजवंशीय शिक्षा-दीक्षा का एक अनिवार्य अग और परिणाम है। विकासक्रम की दृष्टि से 'अजातशत्रु' को सक्रमण-विन्दु कह सकते है, जिसमे प्रसाद का आदर्श-हास्य तथा पारम्परिक साधारण-प्रहसन की स्थिति साथ-साथ मिलती है। इसके पूर्व की कृतियो मे हास्य की स्थूलता अधिक है और इसके बाद के नाटको मे उसका स्वस्थ और आदर्श रूप लक्षित होता है। कथावस्तु की मूल प्रकृति को अकुण्ठित रखते हुये यथासंभव परिनिष्ठित हास्य का विनियोजन करने का प्रयास प्रसाद सदैव करते रहे है और इस प्रक्रिया मे उसकी अर्थवत्ता स्वयं प्रमाणित हो उठी है।

चरित्र : परिकल्पना और संरचना

प्रसाद के नाटक चरित्रप्रधान कहे जा सकते है। कथावस्तु और रस को उन्होने कम महत्व नही दिया, किन्तु उन्हे पात्र-सृष्टि से सम्बद्ध करके ही वे नाटकीय सिद्धार्थता की निष्कृति अनुभव कर सके हैं। नाट्यविधा की अपेक्षा भी यही है कि उसके अन्य सारे अवयव चरित्र से सम्बद्ध हो। वैसा न हो पाने पर उसमें बिखराव आ जाता है और प्रभावान्विति खंडित हो जाती है। आर्थरजोन्स का तो यहाँ तक कहना है कि ऐसी स्थिति मे नाटक अपेक्षाकृत बचकाना और अबौद्धिक हो जाता है। प्रसाद की समग्र दृष्टि प्रभावान्विति पर थी, अत उनके लिए चारित्रिक बिम्ब समुपस्थित करना पहला अन्तिम लक्ष्य बन गया था। इसीके अतिरिक्त लाभ के रूप मे उन्हे अपने जीवनदर्शन के प्रस्तुतीकरण की सुविधा मिल गयी है। जीवन की वास्तविकता भी इसी के माध्यम से उजागर हो सकती थी और फिर प्रसाद तो आन्तरिक सत्य के प्रत्यक्षीकरण को निजी प्रयोजन मानकर चलने वाले नाटककार थे, जिसके लिए चरित्र-विधान के अतिरिक्त अन्य साधनोपाय विश्वसनीय नही। घटना को आधार बनाकर यदि वे ऐसा करने का प्रयास भी करते, तो असफलता ही हाथ लगती और उनका निजीपन उभरकर सामने न आ पाता। आन्तरिक सत्य व्यक्ति का होता है और वह अपने अस्तित्व के लिए एक सुनिश्चित व्यक्तित्व की माँग करता है। व्यक्तित्व के अभाव में वह एक सामूहिक प्रवृत्ति भर रह जाता है और अपने प्रभाव मे नगण्य हो जाता है। प्रसाद सास्कृतिक विरासत अथवा जीवन-मूल्य के रूप में जो कुछ देना चाहते थे, उसे मूर्त जीवन्तता देने के लिए सजीव पात्रो की सृष्टि एक अपरिहार्य अपेक्षा थी और उन्होने उसे पूरे मनोयोग से रचा भी है। उनके नाटको का नामकरण चरित्र-प्राधान्य की स्पष्ट सूचना देता है। जिन कृतियो मे चरित्र की प्रधानता नही है, उनकी संज्ञाएँ भी भिन्न है जैसे 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'एकघूंट'। प्रथम मे नाटककार नागयज्ञ की घटना पर केन्द्रित है और द्वितीय में विचार-प्रतिपादन पर। कहना न होगा कि इन नाटको में पात्रो का व्यक्तित्व उतना जीवन्त और प्रभावशाली नही, जितना अन्य नाटको मे और जिसे कि प्रसाद का निजी वैशिष्ट्य कहा जा सकता है। इस वैशिष्ट्य पर केन्द्रित न होने के कारण उक्त कृतियाँ नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से कमजोर पड गयी है और उनमें स्तर की साधारणता आ गयी है। निजी बिन्दु से हटकर चलने की इस अस्वाभाविकता ने एक ओर 'नागयज्ञ' को आकस्मिक घटनाबाहुल्य के कारण अतिमंचीय बना दिया है, तो दूसरी ओर 'एक घूंट' को निष्क्रिय विचारगोष्ठी का सा रूप दे दिया है। एक अतिनाटकीय हो उठा है तो दूसरा अनाटकीय।

यह सारी विसंगति अपनी धुरी से हटने के कारण उत्पन्न हुई है। आरभिक एकाकी 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'प्रायश्चित्त' और 'करुणालय' भी इसी प्रकार केन्द्रच्युत है और साधारण कोटि के है। सर्जन का आरभ तो प्रयोगात्मक होता ही है और वह कभी भी प्रातिनिधिक नही होता। अस्तु, प्रसाद की नाटकीय परिकल्पना की रीढ चरित्र है और उनके श्रेष्ठतम व प्रातिनिधिक नाटक वे ही है, जिनकी पात्र-सृष्टि श्रेष्ठतम व प्रातिनिधिक है।

चरित्र-सविधान से अन्य नाट्यावयवो की सम्बद्धता यद्यपि नाटक का अनिवार्य धर्म नही, फिर भी प्रभाव की जीवन्तता और असलियत के लिए व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा अपरिहार्य हो जाती है और इसके लिए सभी ओर से सम्पोषण आवश्यक हो जाता है। यो, निर्जीव प्रकृति के रूपो के आधार पर भी नाटक का ढाँचा खडा किया जा सकता है, किन्तु उसमे प्रतीकत्व प्रधान हो उठता है और नाट्य-तत्व गौण रह जाता है। प्रतीक-नाटक आरोपवृत्ति के कारण नाट्याभास जैसे प्रतीत होते हैं। उनमे वास्तविक के स्थान पर आरोपित जीवन की अनुकृति होती है, अत' प्रभाव का आवेग बिखरकर सामान्य तथा बौद्धिक हो जाता है। उसकी आरोपित पात्रसृष्टि अपने मिथ्यात्व-बोध के कारण नाट-कोचित सजीवता का विधान नही कर पाती। 'कामना' में निर्जीव प्रकृति के स्थान पर मानवीय वृत्तियो को पात्रता दी गयी है, अत. किसी सीमा तक उसमें सजीवता और तज्जन्य प्रभावशीलता है, किन्तु प्रसाद के अन्य चरित्रप्रधान नाटको की तुलना मे यह कृति काफी हल्की साबित होती है।

प्रसाद जीवन के चित्रकार है और उसकी ही असलियत को उरेहने के लिए उन्होंने चारित्रिक परिकल्पनाएँ की है। उनके चरित्र-विधान को कथानक और रस का अवदान बराबर मिलता रहा है। यो तो हर कथानक चारित्रिक स्तम्भो पर ही खडा किया जाता हैं और रस भी अपने आश्रय-आलम्बन के ही माध्यम से व्यक्त होता है, किन्तु चरित्र-प्रधान नाटको में यह सम्बद्धता कुछ विशिष्टता की माँग करती है। प्रसाद ने इस माँग को पहचाना है और बड़ी बारीकी के साथ घटनाओ तथा स्थायी भावो को चरित्रो के साथ जोडा है। 'स्कन्दगुप्त' मे विजया की यह घोषणा कि उसने भटार्क का वरण किया है, एक घटना है जो देवसेना, स्कन्द और स्वयं उसके व्यक्तित्व के आधार-भूत वैशिष्ट्य को उभरकर सामने आने का निश्चित अवसर देती है। देवसेना इसी स्थल पर स्कन्द से टूट जाती है और उसका आत्मगौरव का भाव सर्वोपरि हो जाता है। स्कन्द की व्यक्तिगत ट्रैजेडी का भी यही आरम्भ बिन्दु है। यह आघात सहकर वह अपनी ट्रैजिक योग्यता का परिचय देता है जो आगे उत्तरोत्तर सम्वर्धित होती गयी है। विजया की नैतिकताविहीन महत्वप्रियता का यह प्रथम आलेख उसकी जीवनकथा के अन्तिम पृष्ठ की भविष्यवाणी करता है और इसके बाद वह पाप-पंक में गहरे—और गहरे उतरती चली जाती है। 'चन्द्रगुप्त' में कार्नेलिया के प्रति फिलिप्स के दुर्व्यवहार की घटना इसी प्रकार

इन दोनो तथा नायक के चारित्रिक वैशिष्ट्य का उद्घाटन करती है। 'अजातशत्रु' मे इसी प्रकार वीणा मे छिपाये गये सर्प के प्रकट होने की घटना मागन्धी की रूपोद्धता कपट बुद्धि, उदयन के अविवेकपूर्ण आदेश और पद्मावती की धैर्य-स्थैर्य से परिपूर्ण स्वामिभक्ति का परिचय देती है। सभी नाटकों में कथानक इस प्रकार के घटना-बिन्दु उपस्थित करते है, जो चरित्र के प्रमुख आयामो को उभारकर उन्हें तदनुरूप परिणाम की ओर ले जाते है।

चरित्र और रस की सम्बद्धता का प्रश्न अपेक्षाकृत व्यापक व गम्भीर है और वह स्रष्टा की मूल चेतना से सम्बन्ध रखता है। प्रसाद ने शैवागमीय चिन्तन की परम्परा में शम को सर्वसमाहारी मानते हुए उसे सर्वोच्च रस दशा के रूप मे स्वीकार किया है। यो, नाट्यवृत्तो की व्यावहारिक भूमिकाओ मे प्राय. सर्वत्र वीर प्रमुख और शृङ्गार सहवर्ती रस के रूप मे स्थान पाते रहे है किन्तु परिणति में वे सदैव शम के सर्वातिशायी आक्रोड मे आत्मविलयन करके ही उस उदात्त सार्थकता तक पहुँचे है, जो नितान्त प्रसादीय है। इस समाहरण में प्रसाद ने अन्वय और व्यतिरेक—दोनो पद्धतियाँ अपनायी है। अधिक-तर उन्हे व्यतिरेक की पद्धति का सहारा लेना पडा, क्योकि फलागम की सास्कृतिक अव-धारणा को नकारने वाली विद्रोह-वृत्ति उनके रक्त में नही थी। किन्तु साथ ही उन्हे सुख का सूखापन भी ग्राह्य नही था। अत उन्होने विपरिणामी फलागम की व्यतिरेकाश्रयी शैली अपना ली, जिसमें प्राय दोनो अपेक्षाओ की न्यूनाधिक अशो में पूर्ति हो जाती है। 'राज्यश्री' और 'स्कन्दगुप्त' को छोडकर शेष सभी चरित्रप्रधान नाटको में व्यतिरेक की शैली में प्रसादीय समापन मिलेगा। शम का समाहार-धर्म इस समापन मे ही प्रकट होता है।। अन्वय-पद्धति के नाटको—'राज्यश्री' और 'स्कन्दगुप्त' में अन्त आरम्भ से ही क्रमशः निर्मित और पोषित होता चलता है, किन्तु व्यतिरेकाश्रयी वृत्तो में उसका बीच-बीच में आभास दे दिया जाता रहा है। 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' मे यह आभास कुछ अधिक है, क्योकि कथासूत्र ही उस प्रकार के है। रसानुभूति-विषयक प्रसाद की यह अवधारणा ही उनके द्वन्द्वात्मक चरित्रो की परिकल्पना के मूल में है, जिसे उनकी निजी विशेषता कह सकते हैं। बिम्बसार, स्कन्दगुप्त, देवसेना, तथा चाणक्य के चरित्र इसी रस-सिद्धान्त पर आधृत हैं। इन पात्रो का सब कुछ प्राप्त करके भी सब कुछ त्याग देना या त्याग देने की नियति मे होना इनके चरित्र की मूल आकाक्षा है और उसी से प्रसाद की अभीष्ट रससिद्धि भी होती है। प्रासंगिक स्तरों पर इस चारित्रिक द्वन्द्व और सामरस्य की सिद्धि के एकाधिक स्थल प्रायः सभी नाटको मे हैं। व्यावहारिक भूमिका में वीरता और सौन्दर्यप्रियता उनके सभी चरित्रनायकों की सामान्य प्रवृत्ति के असामान्य पहलू है। उनकी वीरता एक ओर रस की प्रतिष्ठा करती है और दूसरी ओर उनके अनेकानेक सांस्कृतिक मूल्यों को उजागर करती है। आदर्शात्मक चरित्र-सविधान में तो प्रसाद रस-वादी—साहित्यशास्त्रीय अर्थ में—रहे ही है। दिवाकरमित्र, गौतम, तुरकावेषय, प्रख्यात-

कीर्ति, दाण्ड्यायन तथा मिहिरदेव आदर्शों के ज्वलन्त दीपस्तम्भ है। सामान्य चरित्रो मे इस कोटि के नारी-पुरुषो की एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है जो किसी एक आदर्श पर आद्योपान्त अविचल भाव से केन्द्रित रहे हैं। बन्धुल, बन्धुवर्मा, पर्णदत्त, चक्रपालित, सिहरण, मल्लिका, वासवी, पद्मावती, देवकी, कमला, मालविका, कोमा आदि चरित्र इसी वर्ग के हैं। स्पष्ट है कि प्रसाद की चरित्र-सर्जना रस-तत्व से सम्बद्ध होकर व्यापक और जीवन्त हो उठी है।

प्रसाद की चरित्र-सर्जना मूलतः रसवादी अवधारणा से सम्बद्ध होने के कारण समग्रतः आदर्शोन्मुख कही जा सकती है, फिर भी उसमे जीवन की वास्तविकता का अभाव नही। वस्तुत. वे भारतीय रसवादी आदर्शात्मकता तथा पाश्चात्य यथार्थवादी व्यक्तिवैचित्र्य को एक समन्वित ढर्रे पर लाना चाहते थे। यथार्थवाद के विरोध में उन्होने अपने निबन्धो मे जो कुछ कहा है वह उसकी एकपक्षीयता के कारण, अन्यथा वे तो उसे इतिहास की सम्पत्ति मानकर चलनेवाले ऐतिहासिक नाटककार हैं। तथाकथित पाश्चात्य यथार्थवाद ने लघुता पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर ली थी और उसमे व्यक्तिगत जीवन के दु ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ही अलम् समझा जाता था। प्रसाद ने इस समझ का ऐतिहासिक औचित्य भी प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार जब राजनैतिक संदर्भ में महत्ता के प्रतीक भारतीय सम्राट् भारत के साम्राज्य को नही बचा सके और जब सामाजिक क्षेत्र मे महामहिम धार्मिक प्रवचनो एवम् विवेकदम्भपूर्ण आडम्बरो ने पतन व अपराधो में कोई रुकावट नही डाली, तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य, जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे, वही क्षुद्रता मे महान दिखलायी पडने लगा।

इस यथार्थवाद की एक रूढि यह बन गयी कि वास्तविक चित्रो में पतन का उल्लेख आवश्यक है, जिसके फलस्वरूप अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा उन्हे समाज के कृत्रिम पाप सिद्ध किया जाने लगा और अपराधियों के प्रति सहानुभूति प्रकट की जाने लगी। पतन और स्खलन के मूल्य के रूप में इसने इस धारणा को बढावा दिया कि स्त्री नारी है, पुरुष नर और इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है। प्रसाद का कहना है कि यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नही, अपितु महानो का भी है और फिर साहित्यकार मात्र इतिहासकर्ता तो नही—ठीक उसी प्रकार जैसे वह मात्र धर्मशास्त्रप्रणेता भी नही। अत उनके मतानुसार साहित्य में यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य होना चाहिए, क्योकि वह दुःखदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण है। इस प्रकार जीवन की वास्तविक दुःखमयता उन्होने यथार्थपरक व्यक्ति वैचित्र्यवाद से ली और लोकमगल की अवधारणा रसवाद से।

यह समीकरण यथार्थवाद की निराशा, कुण्ठा और पतनशीलता पर प्रतिबन्ध लगाता है और दूसरी ओर रसदृष्टि की रूढ़ आदर्शवादिता को भी नकार देता है।

सिद्धान्त के स्तर पर निर्धारित उनका यह समीकरण उनकी चरित्र-सर्जना में नियामक बन गया है और उनके प्रमुख पात्रो के चरित्र दुहरे हो उठे है। यह विचित्र किन्तु सत्य है कि प्रसाद अपनी मान्यताओ मे रसवाद के आग्रही है, किन्तु उनके श्रेष्ठतम नाटकीय चरित्र वे ही है जिनमे वैयक्तिक वैचित्र्य है। स्कन्दगुप्त, देवसेना और चाणक्य प्रसाद के इस प्रवृत्तिगत वैशिष्ट्य के अन्यतम निदर्शन है। अपनी महानता एवं आत्यन्तिक उपलब्धि के बावजूद ये पात्र मानवीय दौर्बल्य के कारण हमारी करुणा के आलम्बन बन जाते है। अपनी व्यक्तिगत दुर्बलता पर ये अपने उच्चादर्श से भावित दृढ मनोबल से विजय प्राप्त करते है और हमारे हृदय पर गहरी छाप छोड जाते है। कहना न होगा कि उनकी यह आदर्शात्मिक भव्यता त्यागमूला भारतीय सस्कृति की विरासत है जो कि साहित्य-शास्त्रीय संदर्भ मे रसवाद के माध्यम से प्रकट होती है।

यथार्थवादी व्यक्तिवैचित्र्य को रसानुकूल बना लेने की यह प्रक्रिया प्रसाद की निजी विशेषता है जो उन्हे अन्य नाटककारो से अलग और विशिष्ट बना देती है। चरित्र-सविधान की यह समन्वित प्रक्रिया उनके सभी जीवन्त पात्रो की परिकल्पना मे मिलेगी। जयचन्द, कामना, अजातशत्रु, प्रसेन, शक्तिमती, श्यामा, विरुद्धक, बिम्बसार, जनमेजय, शर्वनाग, भटार्क जयमाला, राक्षस, आम्भीक तथा ध्रुवस्वामिनी ऐसे ही पात्र है, जिनमें करुणाजनक मानवीय दौर्बल्य है और जिनमें उससे ऊपर उठने का उदात्त मनोबल भी निहित है। एकान्त व्यक्तिवैचित्र्य पर आधृत चरित्रो में पर्वतेश्वर और रामगुप्त उल्लेखनीय है, जिनका आत्यन्तिक पतन त्रासद भाव उत्पन्न करता है और जिनके प्रति समूची घृणा के बावजूद हमारी सहानुभूति बनी रह जाती है। एकान्त आदर्शवादी पात्रो के कई वर्ग बनाये जा सकते है जैसे युधिष्ठिर, हर्षवर्धन, चन्द्रगुप्त आदि नायक—दिवाकरमित्र, तुरकावेषय, गौतम, प्रख्यातकीर्ति, दाण्ड्यायन, मिहिरदेव आदि लोकातीत किन्तु लोक-संग्रही, महामानव-राज्यश्री, मल्लिका, वासवी, पद्मावती, वपुष्टमा, देवकी, रामा, कमला, मालविका, अलका, मन्दाकिनी, और कोमा जैसी निष्ठामयी नारियाँ और बन्धुल, दीर्घकारायण, आस्तीक, बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, पर्णदत्त, चक्रपालित, धातुसेन, सिंहरण, चन्द्रगुप्त द्वितीय आदि कर्मठ राष्ट्रवादी पात्र। प्रतिपक्ष की अमार्जनीय पतनशीलता भी आदर्शवादी संविधानक का ही एक दूसरा पहलू है, जिसके आधार पर विलास, लालसा, काश्यप, प्रपचबुद्धि, अनन्तदेवी, विजया, शकराज आदि की चरित्र-सृष्टि हुई है।

स्पष्ट है कि प्रसाद ने आदर्शात्मक विधि को व्यापक रूप में ग्रहण किया है और उसके आधार पर अनेक सशक्त, महामहिम और प्रभावशाली पात्रो की ससृष्टि की है, किन्तु जहाँ तक जीवन की वास्तविकता, जीवन्तता और रचनाकार प्रातिनिधिकता का प्रश्न है—वह व्यक्ति-वैचित्र्य के यथार्थ से ही अधिक सम्बद्ध रही है।

प्रसाद के सर्वाधिक प्रभावशाली एवं जीवन्त चरित्र द्वन्द्व के आधार पर खडे किये गये है। बाह्य संघर्ष के अतिरिक्त एक और सघर्ष उनके आन्तरिक जीवन में चलता

रहता है, जो उनके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में अपेक्षाकृत अधिक निर्णायक होता है। बाह्य संघर्ष उनके सामाजिक, सास्कृतिक एवं ऐतिहासिक व्यक्तित्व को उभारता है और आन्तरिक द्वन्द्व उनके व्यक्तिगत वैशिष्ट्य को। एक कर्मशीलता के साक्ष्य प्रस्तुत करता है, दूसरा मानसिक औदात्य के। नाटककार के लिए दोनो ही द्वन्द्व महत्वपूर्ण है, किन्तु अन्तर-सघर्ष के चित्रण में उसकी दिलचस्पी अपेक्षाकृत अधिक रही है। यह स्वाभाविक भी है।

ऐतिह्य वृत्तो को ग्रहण करने के कारण बाह्य सघर्ष और उसमे प्रमुख पात्रो की भूमिकाएँ बहुत कुछ इतिहास, साहित्य और जनरूढियो के द्वारा सुनिश्चित रूप मे उसे प्राप्त थी। अत. उनमे अधिक फेरबदल करने की गुजाइश नही थी और उन्हे प्राय. यथावत् प्रस्तुत करने मे ही उनकी अर्थवत्ता थी। अन्त संघर्ष नाटककार की मन सृष्टि है, जिसमें उसकी वैयक्तिक आकाक्षाएँ मुखर हुई है और जिसके माध्यम से जीवन की मार्मिक वास्तविकता उद्घाटित हो सकी है। स्वभावतः स्रष्टा का मन अपनी मौलिक सर्जना मे अधिक रमा है और उसने बडे मनोयोग से मूल कथा के समानान्तर, किन्तु उससे अविच्छिन्न रूप से सम्पृक्त, मनोरागो की अन्तर्कथाएँ रची है।

ऐतिहासिक सदर्भों से जुडे हुए ये काल्पनिक प्रकरण चरित्र को वैयक्तिता की असलियत प्रदान करते है। इनमें चलनेवाला संघर्ष भावना और आदर्श, व्यष्टि और समष्टि, प्रवृत्ति और निष्कृति, ऐहिक और आमुष्मिक के बीच होता है जिसमें महत्तर और उदात्त पक्ष की विजय होती है। यह द्वन्द्व सत् और सत् का है, सत् और असत् का नही, अत इसकी परिणति एकपक्षीय हर्ष-विषाद की न होकर समरसात्मक होती है, जिसमें विजय का उल्लास पराजय की करुणा से भावित रहता है और पराजय की वेदना विजय के गौरव से भास्वर रहती है। यह द्वन्द्व त्याग और मोहमुक्ति के उदात्त सास्कृतिक आदर्श को प्रस्तावित करता है और व्यष्टि के मूल्य पर समष्टि, भौतिक के मूल्य पर आध्यात्मिक, लौकिक के मूल्य पर सास्कृतिक को वरीयता देता है। स्कन्दगुप्त, देवसेना और चाणक्य प्रसाद की ऐसी ही उज्ज्वल चरित्र-सृष्टियाँ है। तीनो ही पात्र राष्ट्र के लिए अनवरत सघर्ष करते है और अन्त मे सब कुछ पाकर भी स्वेच्छा से नि·सर्वस्व हो जाते है। इस महायज्ञ मे वे व्यक्तिगत आकाक्षाओं की भी आहुति दे देते हैं और अपूर्व आप्तकामत्ता अनुभव करते हैं। 'कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है' और प्रसाद के ये चरित्र इस आग में तपकर कसौटी पर खरे प्रमाणित हुए है।

प्रसाद की चारित्रिक परिकल्पना में युगचेतना और उनके अपने जीवन के कुछ व्यक्तिगत आयाम भी महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। राष्ट्रवादी भावना का अभिनिवेश ऐतिह्य वृत्तो की अपनी योग्यता तो थी ही, प्रसाद के समय में चलनेवाले स्वातन्त्र्य-सघर्ष ने भी इसे अत्यधिक प्रेरणा दी है। उनके प्राय· सभी सत्पक्षीय पात्र राष्ट्र और संस्कृति के गौरव की रक्षा के लिए अविचल रूप से प्रतिबद्ध है और उसके लिए वे आत्मनिर्वासन,

आत्मघात या कि मरण तक का आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत रहते है। 'स्कन्द-गुप्त' मे देवसेना और स्कन्द राष्ट्र की आकाक्षापूर्ति के लिए महत्तम त्याग करते है तथा पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक साम्राज्य की एकता अखण्डित रखने के लिए आत्महत्या करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य देश के लिए क्या कुछ नहीं कर उठाता—यहाँ तक कि साम्राज्य के मत्रणा-पक्ष को सशक्त बनाने के लिए अपने चिरप्रतिद्वन्द्वी राक्षस को केवल अमात्य का पद ही नही देता, अपने स्वर्गीय प्रेम की प्रतिमा और उसकी प्रिया सुवासिनी को भी उसे सौप देता है। मालविका केवल चन्द्रगुप्त से प्रेम करने के नाते मरण का आलिंगन नही करती—उसमे उसका राष्ट्रीय मनोभाव भी शामिल है, जिसका परिचय वह गान्धार मे पहले ही दे चुकी है। इन परिणामो मे एकाधिक कारणो की समष्टि है, जिनमे राष्ट्रवाद की भूमिका विशिष्ट रही है। सिंहरण, बन्धुवर्मा, अलका, पर्णदत्त, चक्रपालित आदि पात्रो की एक लम्बी शृङ्खला है, जिन्होने देश की सुरक्षा के लिए बडे से बडा सकट सहा है।

समसामयिक सामाजिक समस्याओ एव प्रतिमानो ने भी चारित्रिक सरचना मे कम योग नही दिया है। सामाजिक रूढि और वैयक्तिक स्वातत्र्य का द्वन्द्व ध्रुवस्वामिनी की चरित्र-कल्पना का मूलाधार है। 'अजातशत्रु' मे शक्तिमती और विरुद्धक के विद्रोही व्यक्तित्वो के मूल में वह तिरस्कार-भाव है, जो उच्चवर्ग द्वारा तथाकथित निम्नवर्ग के प्रति प्रकट किया जाता है और घोर सामाजिक विषमता एवं तज्जन्य असतोष उत्पन्न करता है। छलना और मागन्धी के विद्वेषभाव की जड मे भी कही यही तत्व विद्यमान है, क्योकि पहले वे बर्बर-रक्त और दरिद्र-कन्या होने के कारण अपमानित होती रही थी। 'राज्यश्री' का शान्तिभिक्षु इसलिए विकट दस्यु विकटघोष बन जाता है कि उसके लिए किसी के हृदय में दया और सहानुभूति न थी। 'नागयज्ञ' की सरमा भी इसी सामाजिक अपमान के कारण प्रतिहिंसा के भाव से भरी हुई है। अनन्तदेवी, विजया और दामिनी एक दूसरे प्रकार के सामाजिक अन्याय का शिकार होकर विपथगा बन गयी है। अनंतदेवी और दामिनी के साथ 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' वाली दुर्घटना हुई है। विजया का पतन केवल इसलिए होता है कि उसने अपने लिए महान्, साहसी और विलासप्रिय जीवन-सहचर अथवा प्रेमपात्र की कल्पना की थी, जिसमे स्कन्द निश्चय ही कही पिछड गया था। ऐसी विसंगतियो के उदाहरण आज के समाज मे भी कम नही। 'नागयज्ञ' के जातीय सघर्ष तथा 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' के धार्मिक विवादो मे सनातन भारतीय मतवैषम्य एवं तत्कालीन साम्प्रदायिक दगो की छाया विद्यमान है। मनसा, तक्षक, उत्तंक, जनमेजय, प्रख्यातकीर्ति, राक्षस और चाणक्य के चरित्र इस साकेतिक कथावृत्ति से प्रभावित हैं। 'कामना' में द्वीपवासियो का नियमित चर्खा चलाकर सूत कातना गाधीवाद की चारित्रिक देन है। 'विशाख' मे नरदेव की निरंकुशता और प्रजा का विद्रोह भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के दोनो पक्षो का प्रतिनिधित्व करते है और चारित्रिक सर्जना के उप-

करण जुटाते है। 'कामना' की तो सम्पूर्ण पात्र-सृष्टि ही भौतिकवादी पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया के निदर्शन के विचार से की गयी है।

इस प्रकार नाटकीय चरित्र-विधान मे प्रसाद ने अपने युग की राष्ट्रीय, सामाजिक एव सास्कृतिक चेतना से काफी कुछ ग्रहण किया है। व्यक्तिगत परिस्थितियो एव घटनाओ ने भी उनकी चारित्रिक कल्पनाओ को वास्तविक जीवन-सामग्री प्रदान की है। उनके अधिकतर पात्र व्यापक जीवन-सघर्ष से जुडे रहने के साथ-साथ पारिवारिक कलह की उलझनें भी झेलते रहे है। 'अजातशत्रु' के तो सम्पूर्ण कथानक के मूल मे पारिवारिक कलह है, जिसकी भूमिका मे सभी पात्रो के व्यक्तित्व उभरते है। 'स्कन्दगुप्त' का भी आधिकारिक कथावस्तु का ढाँचा इसी के आधार पर खडा किया गया है। 'चन्द्रगुप्त' मे गाधार का प्रासगिक वृत्त इसी वर्ग मे आता है। 'ध्रुवस्वामिनी' की मूल समस्या भी पारिवारिक है। प्रमुख पात्रो के पारिवारिक समस्याओ से ग्रस्त होने का यह सामान्य लक्षण प्रसाद के अपने कौटुम्बिक कलह को प्रतिबिम्बित करता है। बिम्बसार और स्कन्द की दार्शनिक विरक्ति स्वय प्रसाद की कलहजन्य मानसिक स्थिति हो सकती है।

उनके अधिकतर पात्रो का ट्रैजिक रूप पाश्चात्य अवधारणा अथवा बौद्ध दु खवाद से प्रभावित होने के अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत दौर्मनस्य की भी छाप लिये हुए है। स्वजनो के आकस्मिक देहावसान एव सम्पत्ति का क्षय आनन्दवादी प्रसाद को भीतर से दु.खवादी बना गये थे और वही करुणा उनके नाटकीय पात्रो के माध्यम से मुखर हो उठी है। शैशवकाल में ही माता-पिता के दिवगत हो जाने के कारण जिस वात्सल्य-भाव से प्रसाद वचित रह गये थे, वह अभाव अनुलोम-विलोम की पद्धति पर अनेक पात्रो का चरित्र-निर्धारण करता है। 'स्कन्दगुप्त' में देवकी की मृत्यु पर स्कन्द की विकलता अथवा 'अजातशत्रु' में पिता से तिरस्कृत अजात और विरुद्धक का विक्षोभ इसी अभाव की व्यजना करता है। विलोम-पद्धति पर प्रसेनजित, कुमारगुप्त एव मौर्यसेनापति के चरित्र प्रस्तुत किये गये है, जो पिता होकर भी पुत्र के प्रति वात्सल्य-भाव से प्राय रहित है।

कवि-जीवन की जिस विडम्बना का साक्षात्कार उन्होने स्वय किया था, वह मातृगुप्त के माध्यम से मुखर हो उठी है। प्रकृत्या वे विलासप्रिय और उदार थे। उनकी यह व्यक्तिगत विशेषता उनके अभिजातवर्गीय प्रमुख पात्रो मे देखी जा सकती है। जिस मधुचर्या और कुजबिहार का अंकन वे बडी रुचि के साथ प्राय सभी नाटको मे करते रहे हैं—वह उनकी अपनी आन्तरिक वास्तविकता है। तामसी और पतनशील पात्रो के संदर्भ में भी उनके द्वारा आके गये ये प्रसग कम मोहक नही। विलास, कुमारगुप्त, नन्द तथा रामगुप्त की विलासलोला या कि श्यामा, लालसा, अनन्तदेवी और विजया की उन्मद कामपिपासा विगर्हणीय होते हुए भी सम्मोहन में दुर्निवार है। असत्पक्षीय होने पर भी विलास की यह काम्यता प्रसाद की निजी अभिरुचि का परिचय देती है। इसका एक प्रक्षेप यह भी है कि इस विशेषता के कारण अभिजात-वर्ग के पतित पात्रो के प्रति हम

एक प्रकार का मानसिक लगाव रखने लगते है, जिससे ट्रैजेडी की मनोदशा को सम्पोषण मिलता है।

प्रसाद के सत्पक्षीय आदर्श पात्रो के वैयक्तिक चारित्र्य की मूल भित्ति आत्मगौरव है। युगीन स्वातन्त्र्य-चेतना और मानवीय अधिकारबोध के प्रति जागरुक और उन्हे आत्म-सात करने वाले साहित्यस्रष्टा प्रसाद ने उन्हे अह् के चारित्रिक वैशिष्ट्य के रूप मे प्रस्तुत किया है। अभिजात जीवन दृष्टि और आस्थामयी कर्मण्यता ने भी उन्हे इसी दिशा मे प्रेरित किया। आत्मवादी चिन्तनधारा ने भी उन्हें आत्म-महत्व की प्रेरणा दी थी। मनोविज्ञान तो व्यक्ति के अह् को केन्द्र मे रखकर अपनी विचारणा आरम्भ ही करता है। प्रसाद का अपना व्यक्तित्व आत्मगौरव के इन्ही साँचो मे ढला हुआ था और वही उनके प्रिय और प्रातिनिधिक चरित्रों मे भी प्रमुख भूमिका अदा करता है।

अभिजात और राजवर्गीय नाट्यवृत्तों की पृष्ठभूमि इस अह् की अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हुई। फलत प्रसाद के नाटकीय पात्रो का संसार वैयक्तिक अहभाव के वैविध्यपूर्ण सस्करण प्रस्तुत करता है। अजातशत्रु और विरुद्धक अपने अहं के आहत होने पर विद्रोह कर बैठते है, तो स्कन्द और देवसेना उसी की रक्षा के लिए सर्वस्वत्याग का पथ अपनाते है। राष्ट्राभिमानी वीरो की एक लम्बी शृ खला मिलेगी, जिन्होने वैयक्तिक अह् को राष्ट्रगौरव से तदात्म कर दिया है। बन्धुल, बन्धुवर्ग, पृथ्वीसेन आदि यदि उसका मूल्य अपने प्राणो से चुकाते है तो सिंहरण, पर्णदत्त, चक्रपालित और अलका अपने अनवरत उद्योग से उसकी रक्षा करते है। ध्रु वस्वामिनी यदि अपने नारीत्व के गौरव की सुरक्षा के लिए उग्रतम हो सकती है, तो कोमा उसी की आकाक्षापूर्ति में चरम भावनिष्ठा का प्रतीक हो उठती है। नारी के समर्पित आत्मगौरव का चरम रूप मालविका के आत्मदान में देखा जा सकता है। कल्याणी इसी अह् की क्षति होने पर हत्या और आत्म-हत्या करती है। अह् का यही प्रतिशोधशील रूप चाणक्य के व्यक्तित्व में व्यापक लक्ष्य से जुडकर श्रेय हो उठा है। उग्र नारी-पात्रो में यही अहंभाव दुर्निवार महत्वाकाक्षा बनकर प्रकट हुआ है और उनके पराभव का कारण बना है। छलना, मागन्धी, शक्तिमती, विजया और अनन्तदेवी ऐसी ही पात्रियाँ हैं। कारणभूत वैचित्र्य उनमें भी है। छलना को वासवी से छोटी बनकर रहना स्वीकार नही, मागन्धी अपने यौवन सौदर्य की अवमानना के कारण क्रूर प्रतिहिंसा से भर गयी है, शक्तिमती को दासी-पुत्री के रूप मे अपमानित होने का विक्षोभ है, विजया अपनी आकाक्षापूर्ति में व्यवधान पडने के कारण विपक्ष से जुड जाती है और अनन्तदेवी को स्वैराचारण के लिए समूची राजसत्ता चाहिए जिसके मार्ग में बाधक बनने वाला हर व्यक्ति उसका शत्रु है और शत्रु के प्रति द्वेष रखनेवाला हर व्यक्ति उसका मित्र। आहत अहं और महत्वाकाक्षा की यही उद्दाम वृत्ति भटार्क जैसे अप्रतिम राजभक्त वीर को विपक्ष से जोड देती है। सर्वनाग और आम्भीक भी इसकी बाढ में कुछ दूर तक बह गये है। प्रसाद ने इनके इस विकृत

एवं पथान्तरित ग्रह को अन्त मे सही दिशा दे दी है। अह का व्यक्तिबद्ध रूप-दभ नन्द, पर्वतेश्वर, राक्षस, शकराज और रामगुप्त में देखा जा सकता है। शकटार और मौर्य-सेनापति मे कुण्ठित अहं का क्रूरतम प्रतिशोध-भाव लक्षित होता है। चाणक्य और शिखर-स्वामी के अह की तुष्टि अपनी कूट-योजनाओ की सफलता से होती है—लक्ष्य की व्यापकता और सकीर्णता के आधार पर उनके चरित्र भिन्न हो जाते हैं। वीरता और प्रणय पर आधृत अहं का एक अच्छा उदाहरण चन्द्रगुप्त और फिलिप्स का द्वन्द्व है जिसमे सत्वशील राष्ट्रधर्मी की विजय होती है। चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व तो राष्ट्र के अखण्ड आत्मगौरव का प्रतीक ही बन गया है। पतिव्रता नारियो मे यह अहं सतीत्व के रूप मे प्रकट हुआ है और कुमारियो में निजी सम्मान के रूप मे। देवत्व के स्तर तक पहुँचे हुए महर्षियो मे यह अह आध्यात्मिक होकर आत्मवाद या मानवतावाद का जीवन दर्शन बन गया है।

इस प्रकार प्रसाद की चारत्र-सृष्टियो मे अहतत्व की भूमिका प्रमुख रही है और उसके अनेकानेक पहलू सामने आये है। मनोविज्ञान की भाषा मे इसके कुछेक रूप बाँधे जा सकते हैं। शान्तिभिक्षु, सरमा, छलना, मागन्धी, शक्तिमती, विरुद्धक, देवसेना और विजया के चरित्रो मे यह हीनता-ग्रन्थि के रूप मे है। मालविका, कल्याणी और देवसेना में इसने आत्मपीडन का रूप ग्रहण कर लिया है। अतृप्त-काम और चेतन-अवचेतन के द्वन्द्व मागन्धी और विजया को आजीवन भटकाते रहते है। अतिनैतिकता से कुण्ठित अहं का उदात्त दिशान्तर स्कन्द और चाणक्य मे देखा जा सकता है। इन समस्त चारित्रिक विपरिणामो के मूल में वैयक्तिक अह और उसके घात-प्रतिघात है। अपने युग और अपने व्यक्तित्व के इस सर्वाधिक सशक्त स्वर को नाटको की जीवन्त चरित्र-सृष्टियो मे मुखरित करना प्रसाद का निजी वैशिष्ट्य है।

प्रसाद की चरित्र-सृष्टि अभिजातवर्गीय है और उसमें साधारण जन को प्रायः नही के बराबर स्थान मिल सका है। सभी नाटको के नायक इतिहास प्रसिद्ध राजपुरुष है, केवल 'विशाख' का नायक एक स्नातक है। 'कामना' और 'एक घूट' के वृत्त काल्पनिक हैं, अत. उनमे जनसाधारण को कुछ भूमिका अवश्य मिल सकी है, किन्तु वे प्रसाद की नाट्यकला की प्रातिनिधिक कृतियाँ नही। प्रतिनिधि नाटको की वस्तुभूमि ऐतिहासिक है और उनकी पात्र-सृष्टि सम्राटो, सामन्तो, सेनानायको, सैनिको, अमात्यो, राजकीय अधिकारियो, राजमहिषियो एवं राजकन्याओ की है, जो अभिजातवर्गीय व्यक्तित्व के स्वामी हैं और जिनमें राजसी तेवर के साथ सात्विक अथवा तामसी वृत्तियो का चरम रूप लक्षित होता है। सत्पक्षीय पात्र यदि किसी महत्तर प्रयोजन के लिए अपना समग्र अभिजात उदात्तता के साथ आजीवन अन्याय से जूझते रहने का अविचल संकल्प लेकर चलते हैं तो सस्कार अथवा परिस्थितियो के कारण प्रतिपक्ष की भूमिका में रहनेवाले चरित्र अपने राजकीय अह का सम्पोषण करते हुए अपनी महत्वाकाक्षा की सिद्धि के लिए अन्त तक प्रचण्ड उद्योग करते है।

प्रसाद जीवन की उष्मा, ऊर्जा और शक्ति के पूजक थे और उन्हे इनका चरम रूप इतिहास प्रसिद्ध महामानवो मे सुविधापूर्वक उपलब्ध हो सका था। सामान्य मानव-समूह के चारित्रिक लक्षणो को उन्होने यथासंभव इन्ही महच्चरित्रो के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहा है। यद्यपि अधिक साधारण होना उनकी प्रकृति मे नही था। 'एक घूंट' और 'कामना' मे प्रस्तुत किये गये सामान्यवर्गीय चरित्र इसीलिए प्रभावशाली नही हो सके। 'विशाख' का नायक भी कुछ अधिक जीवन्त नही। वस्तुत प्रसाद की विशेषता राजकीय परिवेश वाले वर्गीय एव प्रातिनिधिक चरित्राकन मे है। प्रतिनिधि निम्नतम वर्गस्तर का होने पर भी महान् ही होता है। जनतन्त्रीय व्यवस्था का यह साहित्यिक सस्करण प्रसाद की चारित्रिक परिकल्पनाओ मे चरितार्थ हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर राष्ट्रवादी नायक तथा उनके सहायक प्रमुख पात्र, स्वातन्त्र्य-संग्राम के कर्मठ सेनानियो के प्रतिनिधि बन जाते है, पर्णदत्त देशभक्त समाजसेवी के रूप मे सामने आता है, विजया धनपतियो की गर्वीली और स्वेच्छाचारिणी पुत्रियो का प्रतिनिधित्व करती है, श्यामा और अनन्तदेवी उच्चवर्गीय महत्वाकाक्षिणी तथा विलासिनी प्रौढाओ का चरित्र प्रस्तुत करती है; शर्वनाग तथा आम्भीक भौतिक प्रलोभन के प्रति सहसा आकर्षित हो जाने वाले मध्यवर्गीय व्यक्ति बन जाते है, कुमार गुप्त, रामगुप्त और नन्द समृद्ध विलास प्रिय वर्ग को प्रस्तुत करते हैं, ध्रुवस्वामिनी और मन्दाकिनी अपने अधिकारो के प्रति सचेत और उनकी चरितार्थता के लिए कटिबद्ध आधुनिक शिक्षित युवतियो का नेतृत्व करती है, विशाख, उत्तक तथा मधुकर स्नातकवर्ग से जुडे हुए लक्षित होते हैं और रामा, खड्गधारिणी तथा सुरमा दासीवर्ग के विविध सस्करण प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार ऋषियो, गृहपतियो, मठाधीशो, पाखडियो, देशद्रोहियो तथा भावुक किन्तु दृढचरित्र युवक-युवतियो का भी प्रतिनिधित्व प्रसाद के नाटकीय पात्रो ने किया है। राजवर्गीय कथाभूमि में जीवन का इतना वैविध्य प्रस्तुत करना प्रसाद जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली साहित्यकार के ही बूते की बात थी। ऐतिहासिक वृत्तभूमि में चरित्रो के माध्यम से जीवन की समग्रता को उभारना उनकी सर्जनात्मक प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

प्रसाद ने अपने नाटको मे विशेषकर 'अजातशत्रु' में—पुरुष और नारी के प्रकृतिभेद पर प्रकाश डालते हुए कुछ पात्रो के माध्यम से अपनी अवधारणाए प्रस्तुत की है। 'अजातशत्रु' में दीर्घकारायण और शक्तिमती का वार्तालाप इसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया जान पडता है। अपने अधिकार के भोग के लिए पुत्र को पिता के विरुद्ध भडकाने वाली शक्तिमती को समझाते हुए दीर्घकारायण कहता है 'स्त्रियो के सगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन है—जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती है किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती है उन मनुष्यो पर जिन्होने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो.... ...... विश्व भर में सब कर्म सबके लिए नही है, इसमें कुछ विभाग है अवश्य.... ....मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम मे

प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है। और वह, स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय वरद हस्त का आश्रय, मानव-समाज की सारी-वृत्तियो की कुजी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृतिस्वरूपा स्त्रियो के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की सकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए है। इसी-लिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप।' स्त्रीत्व के इस आदर्श को चरितार्थ करने वाली मल्लिका का कहना है—'स्त्रियो का कर्तव्य है कि पाशववृत्ति वाले क्रूरकर्मा पुरुषो को कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हे जिस शिक्षा की आवश्यकता है—उस स्नेह, शीतलता, सहन-शीलता और सदाचार का पाठ उन्हे स्त्रियो से सीखना होगा।' यही बात कुछ बदले हुए सन्दर्भ मे 'स्कन्दगुप्त' मे धातुसेन से कहलायी गयी है—'समय पुरुष और स्त्री को गेंद लेकर दोनो हाथ से खेलता है।... . .. पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है।　　पुरुष है कुतूहल और प्रश्न, और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातो का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल-उसके अभावो को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार।' स्त्री पुरुष विषयक यह विशिष्ट दृष्टि नाटको में ही नही; प्रसाद के समूचे साहित्य में व्याप्त मिलेगी—सिद्धान्त के स्तर पर भी और व्यवहार मे भी। 'कामायनी' की श्रद्धा इसी अवधारणा का अनुकथन एव सम्पोषण करती है। नाटकीय पात्रो के माध्यम से इसे अधिक व्यावहारिक जीवन्तता दी जा सकती थी, अतः प्रसाद ने उनकी चारित्रिक संरचना पूरे मनोयोग से की है। नारी-चरित्रों की सर्जना मे उनकी रुचि अपेक्षाकृत अधिक रही है। इस विषय के विश्लेषण की अपेक्षा भी मुख्यत. नारी के जागरण और पुनरुत्थान से उत्पन्न समस्याओ के कारण उस समय अनुभव की जाती रही होगी।

प्रसाद अपने युग की समस्याओ को उभार कर उन्हें समाधान देने वाले मनीषी साहित्य स्रष्टा थे, अत. उन्होने स्वाभाविक रूप से ही नारी के चित्रण पर विशेष ध्यान दिया। उन पर लगाया जाने वाला यह आरोप कि उन्होने नारी को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है, असगत है। उन्होने उसे आवश्यकता से अधिक महत्व नही दिया, किन्तु आवश्यक महत्व देने से भी नही हिचके। यह उनके युग की माँग थी, जिसकी उपेक्षा करना उनके लिए सभव नही था। अतएव उनकी पात्र-सृष्टि में नारियों का स्थान विशिष्ट और महत्वपूर्ण है। नारी में उन्होने हृदय की सम्पूर्ण विभूतियो का प्रसार माना है और तदनुरूप उनके आदर्श नारी-पात्र करुणा, श्रद्धा, त्याग, निष्ठा, सेवा, भावमयता

और मर्यादित स्वाभिमान की उदात्त मानवीय वृत्तियो से समन्वित है। युगानुरूप उनके व्यक्तित्व का प्रसार करते हुए उन्होंने उनमें जातीय गौरव, राष्ट्रप्रेम एव लोकमंगल की भावनाए भी भर दी है। इन आदर्श नारी-चरित्रो की एक लम्बी शृङ्खला है जिसमे वासवी, देवकी और कमला जैसी वात्सल्यमयी उदार माताए है, चन्द्रलेखा, वपुष्टमा, पद्मावती, जयमाला और वनमाला जैसी साध्वी पत्निया है, राज्यश्री और मल्लिका जैसी करुणामयी दृढचरित्र विधवायें है, मणिमाला, वाजिरा, प्रेमलता और कार्नेलिया जैसी मर्यादामयी वधुएँ है, देवसेना, मालविका और कोमा जैसी आत्मनिर्वासिनी प्रणय-प्रतिमाए है, अलका, मन्दाकिनी, मनसा और सरमा जैसी जातीय गौरवमयी ललनाए है, कल्याणी और ध्रुवस्वामिनी जैसी आत्मगौरव के प्रति जागरूक युवतियाँ है, रामा और खड्गधारिणी जैसी निष्ठामयी सेविकाए है। प्रसाद नारी के स्वाभिमान और अधिकारबोध को बराबर मान्यता देते रहे है, किन्तु उनकी दृष्टि मे उसकी एक मर्यादा भी है। वह मर्यादा नारीत्व की है, उसके दायित्व की है। उसका अतिक्रमण करके जब नारी महत्वाकाक्षा के अहंकारमय पथ पर चलने लगती है, तो प्रसाद उसे आचार-विप्लव की सज्ञा देते है जिसके कारण भीषण पारिवारिक एवं सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न होने लगती है। ऐसी स्थिति में नारी अनन्तदेवी के समान पुरुष को अपने काम-संकेतो पर नचाने लगती है, शक्तिमती और छलना के समान पारिवारिक मर्यादाओ को छिन्न-भिन्न कर देती है, विजया और सुरमा के समान दुभिसन्धियो का सहारा लेती है, लालसा, दामिनी और मालिनी के समान आचरण भ्रष्ट हो उठती है। राजनैतिक वस्तुभूमि से सम्पृक्त होने के कारण ये विपथगामिनी स्त्रियाँ अपने अविवेक मे समूचे साम्राज्य और राष्ट्र के विनाश की भूमिका रचने लगती है और उनके सहयोग से प्रतिपक्ष बहुत प्रबल हो उठता है। परिणाम में ये पराभव को प्राप्त होती है, किन्तु जीवन के यथार्थ अनुभव, परिस्थिति, सत्परामर्श तथा नियति अथवा ईश्वरीय न्याय से अधिकतर इन्हे अपनी भूल समझने की सुबुद्धि मिल जाती है। वे पश्चात्ताप करती है और सही रास्ते पर आ जाती है। कुछेक के लिए प्रत्यावर्तन का मार्ग बन्द भी हो जाता है जैसे विजया और मालिनी, किन्तु सामान्यत वे सुधर जाती रही है।

नारी के लिए पतन की सभावनाए अधिक होती है, या यो कह लें कि उनके पतन के प्रति समाज अधिक जागरुक रहा करता है, अत प्रसाद के लिए यह उचित ही था कि वे नारी को सही दिशा दें और समाज की भी दृष्टि बदलें। उन्होने जिस प्रगतिशील किन्तु सास्कृतिक नारी-समाज की कल्पना की थी, उसे वे अपने नाटको मे बहुत कुछ चरितार्थ कर सके है। भटकी हुई नारियाँ अपने केन्द्र से पुन· जुड जाती है और समाज उन्हें सहर्ष मान्यता दे देता है। प्रसाद के नारी-पात्रो का ससार विशाल और वैविध्यमय है और उसमे एक सम्पूर्ण युग का दाय निहित है।

पुरुष-पात्रो की भी सृष्टि में इसी प्रकार का वैविध्य मिलेगा और उन्हें भी कुछ

वर्गो मे समूहीकृत किया जा सकता है, किन्तु पूर्वोक्त पुरुष विषयक धारणा उस पर स्त्री-वर्ग की भाति एकान्तत. चरितार्थ नही होती। वस्तुत सैद्धान्तिक स्तर पर उन्होंने नारी-मानस का विश्लेषण और उसकी स्वाभाविक दिशा का निर्धारण करना चाहा था, जिसके लिए तुलनात्मक दृष्टि से कुछ पुरुषोचित विशेषताओ का निदर्शन आवश्यक हो गया था, अन्यथा उनकी एतद्विषयक धारणा कही अधिक बृहत्तर और सार्वभौम है। यदि पुरुष मे केवल कठोरता और बुद्धि की ही विशेषता हो तो कोमल कल्पना वाले, करुणार्द्र चित्तवाले, धर्मप्राण तथा आध्यात्मिक उच्चता वाले तत्वज्ञानी चरित्र किस वर्ग में रखे जा सकेंगे ? प्रसाद के नाटको मे ऐसे पात्रो की कमी नही। उनकी एक लम्बी शृङ्खला है और प्रत्येक कृति में अपना एक सुरक्षित स्थान रखते हे। वास्तविकता यह है कि उन्होने पुरुष-पात्रो के माध्यम से जीवन के उच्चतम तथा निम्नतम रूपों को उनकी असलियत के साथ प्रस्तुत करना चाहा है। यही कारण है कि उनकी नर-सृष्टि में हर्षवर्धन, जनमेजय, स्कन्दगुप्त तथा चन्द्रगुप्त जैसे इतिहास प्रसिद्ध राष्ट्रनायक है, बन्धुल, बन्धुवर्मा, सिहरण और चक्रपालित जैसे देशाभिमानी युवा सामन्त है, दिवाकरमित्र, गौतम, व्यास, तुरकावेषय, प्रख्यातकीर्ति, दाण्ड्यायन और मिहिरदेव जैसे तत्ववेत्ता आचार्य है, चाणक्य, राक्षस, और शिखर स्वामी जैसे कूटनीतिज्ञ है, पृथ्वीसेन और पर्णदत्त जैसे राष्ट्रसेवी है, बिम्बसार और प्रसेन जैसे अधिकारलोभी गृहपति हैं, विरुद्धक, अजातशत्रु और भटार्क जैसे उद्धत महत्वाकांक्षी है, नरदेव और जनमेजय जैसे अविवेकशील नरपति हैं, कुमारगुप्त, नन्द और-रामगुप्त जैसे अकर्मण्य विलासी सम्राट हैं, पर्वतेश्वर, सिकन्दर और सिल्यूकस जैसे अप्रतिम किन्तु अहमन्य योद्धा हैं, आम्भीक और शर्वनाग जैसे साधारणधर्मा दुर्बल मानव है; विशाख और आनन्द जैसे सरल और अव्यावहारिक नवयुवक है, मातृगुप्त और धातुसेन जैसे कवि और मनीषी है; वररुचि और पुरोहित जैसे निर्भीक शास्त्रवेत्ता है, शकटार और शकराज जैसे प्रतिशोधान्ध व्यक्ति है, महापिंगल, वसन्तक, मुद्गल और चदुले जैसे विदूषक हैं, विकटघोष, समुद्रदत्त, देवदत्त कश्यप और प्रपचबुद्धि जैसे महाधूर्त है, बौने, कुबडे और हिजड़े जैसे विकलाग मनुष्य है। पाप-पंक में आकण्ठ डूबे हुए गर्हित मनुष्य से लेकर दिव्यता के गौरव-शिखर को छूते हुए महामानव तक प्रसाद की पुरुष सृष्टि में स्थान पाते रहे है। इतने व्यापक चरित्र-संसार को कुछेक सीमाओ मे बाँधना असम्भव है और प्रसाद ने वैसा चाहा भी नही था। सामान्यतः आदर्श पात्र के लिये कर्मठता, राष्ट्रवादिता, उदारता, सौजन्य, निर्भीकता, वीरता, विवेकशीलता आदि उदात्त मानवीय गुणों को उन्होने प्रस्तावित किया है, किन्तु समग्रत. उनकी दृष्टि व्यापक रही है और यथार्थ के निकृष्टतम कोनो की ओर भी दृष्टिपात करना वे नही भूले है।

यदि चरित्र-सृष्टि की प्रमुख मानवीय अन्तःप्रेरणा का ही चुनाव करना हो, तो प्रसाद के पात्रो की मूल सवेदना उनकी दृढ इच्छा शक्ति है। इसका प्रकर्ष बिना किसी भेदभाव के पुरुष और नारी, श्रेष्ठ और निकृष्ट—सभी पात्रो मे देखा जा सकता है।

वे जिस अविचल सकल्प के साथ सत्पक्ष की विजय के लिए कर्मरत होते हैं, उसी दृढता के साथ वैयक्तिक अभीष्ट की सिद्धि के लिए भी। हृदय-परिवर्तन की स्थिति मे उनकी इच्छा शक्ति का दिशान्तर हो जाता है, किन्तु उसकी दृढता अटूट रहती है। प्रसाद को यह विचार शैवागमीय चिन्तन से मिला था, जिसमे काम-मगल से मडित सृष्टि को इच्छा शक्ति का श्रेय परिणाम माना गया है। ऐतिहासिक यथार्थ के धरातल पर दार्शनिक विचार की यह चरितार्थता निस्सदेह श्लाघ्य है।

नाटक के अन्य अवयवो की भाति प्रसाद ने चरित्र-सृष्टि में भी स्वच्छन्द मनोवृत्ति का परिचय दिया है। यो, शास्त्रीय रूढ मान्यताओ को लेकर कुछ बातें कही जा सकती हैं—जैसे उनके अधिकतर नायक धीरोदात्त हैं अर्थात् वे अविकत्थन, क्षमाशील, गम्भीर, महासत्वशाली, स्थिरचित्त, स्वाभिमानी तथा दृढसकल्प वाले हैं। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त और जनमेजय इस वर्ग में रखे जा सकते है। नायिका प्रधान नाटको में ये चारित्रिक गुण प्रमुख नारी-पात्रो मे हैं, जैसे राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी मे। प्रसाद ने नायिका प्रधान नाटको में प्रधान सहायक को भी इसी प्रकार का व्यक्तित्व देकर प्रकारान्तर से धीरोदात्त पुरुष की अवधारणा को सम्मान दिया है। हर्षवर्धन और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ऐसे ही छद्मनायक है। अहकारी, मायावी, उग्र, चपल, कपटाचारी एव आत्मश्लाघी धीरोदात्त नायक का उदाहरण अजातशत्रु है। 'विशाख' के नरदेव को भी इस वर्ग मे रख सकते है। प्रतिपक्ष के प्रमुख पात्र विलास, विकटघोष, देवगुप्त, भटार्क, आम्भीक, पर्वतेश्वर, रामगुप्त आदि इसी वर्ग के हैं। 'विशाख' के नायक को धीरशान्त कहा जा सकता है, क्योकि वह सामान्य गुणो वाला क्षत्रियेतर पात्र है। प्रासगिक कथानायक की सज्ञा 'पीठमर्द' है, अत. बन्धुल, बन्धुवर्मा, सिंहरण आदि तथाकथित पीठमर्द माने जा सकते है। वसन्तक, मुद्गल, कुबडे, बौने आदि विदूषक वर्ग के चरित्र हैं। वसन्तक में 'विट' की उपचार कुशलता और मुद्गल में 'चेट' और 'शकार' की कलहप्रियता तथा कथात्मक-बहुज्ञता उनके अतिरिक्त गुण है, जो उन्हें विदूषक से अधिक महत्वपूर्ण एव सम्मानार्ह बना देते है। इसी प्रकार और भी कुछ परिभाषाओ को घटित किया जा सकता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इन इतने छोटे तथा इतने कम साचो में प्रसाद के पात्रीय संसार का परिमापन सम्भव नही। प्रसाद की प्रकृति, रूढि मे बँधकर चलने की थी ही नही। यही कारण है कि शास्त्रीय रूढियो की दृष्टि से उनके पात्रो मे चारित्रिक सक्रमण लक्षित होता है। धीरोदात्त नायको की नियतिवादिता और मानवीय दुर्बलता, धीरोद्धत पात्रो की सम्मानार्ह पराक्रमशीलता और वैयक्तिक नैतिकता, पीठमर्द पात्रो के व्यक्तित्व की व्यापकता और उच्चता, विदूषको की वास्तविक प्रासंगिकता आदि का शास्त्रीय दृष्टि से कोई औचित्य नही। उनमें जो औचित्य है, वह जीवन का है, जीवन की असलियत का है और प्रसाद उसी को अपना अभिधेय मानकर रचनाकर्म में प्रवृत्त हुए है। न वे भारतीय आदर्शवाद को पूरी तरह स्वीकार कर सकते थे और न ही पाश्चात्य

यथार्थवाद को, क्योकि जीवन इनमे से किसी एक की धरोहर नही । वह आदर्श और यथार्थ दोनो के ही तानेबाने से बुना हुआ है, अत प्रसाद उसे रूढिमुक्त स्वच्छन्द दृष्टि से देखने के पक्षधर है ।

अपनी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अनुरूप ही प्रसाद ने अपने प्रिय चरित्रो को रोमानी आचरण प्रदान किया है । सामाजिक जीवन के विराट् कर्मफलक से अलग उनके वैयक्तिक जीवन की कडियाँ प्रेम के कोमल तन्तु से जुडी रहती है । इस प्रेम का वे पूरी उदात्तता से निर्वाह करते है—परिणय करके, त्याग करके अथवा आत्मविसर्जन करके । प्रेम की इस उदात्त जीवन-भूमि के निर्माण में उनकी चारित्रिक दृढताजन्य साहसिकता एवं आत्मगौरव की वृत्ति विशेष योगदान करती है । छायावादी काव्ययुग का रत्यात्मक मनोभाव ऐसा ही था और इन्ही नवजागरण की सवाहक मानवीय प्रवृत्तियो से प्रेरित था । नारी के अधिकारबोध ने उसे सम्मान्य पद दिलाया और इस स्तर पर उसके प्रति रागात्मिका वृत्ति भी सम्मानमयी होती गयी । वास्तविक प्रेम शरीर से हटकर उदात्त मानस-दशा का बोधक बना । इसी उदात्त रत्यात्मक मानस-दशा को प्रसाद ने अपने प्रिय चरित्रो के माध्यम से प्रस्तुत किया है । वाजिरा, मणिमाला, चन्द्रलेखा, देवसेना, स्कन्द मालविका, कल्याणी, कार्नलिया, प्रेमलता, ध्रुवस्वामिनी और कोमा इसी मानस-भूमि की चरित्र-सृष्टिया है ।

प्रसाद की कोमल कल्पना प्रणय के जिस मधुमय नीड मे विश्राम करना चाहती है, वह इन्ही चरित्रो का लोक है । देवसेना के शब्दो मे—'जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है । वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक मे मिलता है । जिसे नही मिला, वह इस ससार मे अभागा है ।' प्रसाद ने इन चरित्रो के माध्यम से इसी स्वर्ग को जीवन में उतारा है । यह स्वर्ग भाव-कल्पनामयी युवतियो का है क्योकि उनका कोमल-करुण अन्त करण प्रेम का सहज आवास है और ये योगक्षेम के लिए बडे से बडा त्याग कर सकती है । वे निर्भयतापूर्वक अपना प्रेम स्वीकार करती है—समाज, धर्म और जाति की सकुचित सीमाएँ उन्हे बाँध नही पाती । उनकी यह नैतिक साहसशीलता उसके उस व्यक्तित्व का सहज लक्षण है जो आत्मगौरव के बीजाणु से निर्मित हुआ है ।

प्रसाद की दृष्टि मे आत्मगौरव जीवन की प्राथमिक शर्त है और वही व्यक्तित्व का प्रमुख घटक है । इसके बिना प्रेम जैसा व्यापक और दृढ मनोभाव भी विरूप हो उठता है । उनके ये भावुक चरित्र जितने कोमल है, उतने ही दृढ भी । बहुधा प्रेम की भौतिक उपलब्धि और उनके स्वाभिमान मे द्वन्द्व उठ खडा होता है । तब वे पूरी आस्था के साथ स्थिरचित्त होकर निःसर्वस्व होना स्वीकार कर लेते हैं और अपने अहं और उससे अभिन्न मूल मनोभाव की रक्षा करते है । देवसेना, कल्याणी और कोमा ऐसी ही युवतियाँ है । मालविका तो अपने आप में एक अपूर्व सर्जनात्मक उपलब्धि है । वह मुक्त

है—कही भी जाने के लिए, किसी भी ढग से जीने के लिए। उसमे भावना है, कला है, कल्पना है। चन्द्रगुप्त के प्रति वह अपने सहज किशोर मन से आकर्षित होती है और प्यार करने लगती है। कुछ किशोर मन की लाज, कुछ आत्मसम्मान और कुछ स्थितियो के प्रति दायित्व-बोध—चन्द्रगुप्त से वह अपने इस परिवर्तित मनोभाव के विषय में एक शब्द भी नही कहती। अपनी कोमल कल्पना को वह अपने में ही सजोये रखती है—तब भी नही प्रकट करती जब उसे चन्द्रगुप्त की शय्या पर मरण को भेटने के लिए लेटना होता है। अनभिव्यक्त और अभुक्त प्रेम के लिए इतना बडा त्याग ससार में शायद ही किसी ने किया हो। प्रसाद के कवि-मन की वह निजी सरचना है—नितान्त आत्मीय और प्रातिनिधिक। देवसेना और कोमा भी इसी वर्ग की चारित्रिक सरचनाएँ हैं। कल्याणी इस वर्ग मे आते-आते रह गयी है, क्योकि पर्वतेश्वर की प्रतिस्पर्धा ने उसके व्यक्तित्व को द्वन्द्वग्रस्त कर दिया है। वाजिरा, मणिमाला, कार्नलिया आदि भावनामयी युवतियाँ प्रेम के आभोग मे सम्मोहनमयी हो उठी है और उनमे प्रसाद की यौवनाकाक्षा को व्यक्तितत्व मिला है। विसर्जन अथवा आभोग के रूप में प्रेम के स्वर्ग को जीवन की धरती पर उतारनेवाली इन सौन्दर्यवती युवतियो को गीतिमय चरित्र कहा जा सकता है।

पुरुषपात्रो मे स्कन्द और मातृगुप्त अपनी वैयक्तिक विशिष्टता के कारण इस वर्ग से जोडे जा सकते है। प्रसाद की सामान्य पात्र-सृष्टि से वे अलग दीखते है, क्योकि उनकी जैसी निगूढ आत्मवेदना और किसी को भी नही सहनी पड़ी है। चाणक्य ने अवश्य कुछ सहा है, किन्तु वह सस्कारत इतना स्थिरचित्त है कि यह काँटा उसे अधिक नही चुभता। नायकवर्गीय अन्य पात्रो में प्रेम की स्वच्छन्दता प्रस्तुत करने का अवसर प्रसाद को अनायास ही मिल गया है। सम्राटो के लिए एकपत्नीव्रती होना आवश्यक नही, अत वे विवाहित होकर भी रोमानी आचरण करने के लिए स्वतन्त्र है। अविवाहित स्थिति मे वे एक साथ कई प्रसंगो में रोमान्टिक हो सकते है। जनमेजय और चन्द्रगुप्त के वैयक्तिक जीवन मे ये स्थितियाँ देखी जा सकती है। यो, सामान्यत प्रसाद निष्ठामय प्रेम के पक्षधर रहे है और सयम तथा त्याग को उसकी उदात्तता का निश्चित मापदण्ड मानकर चले है।

नाटको मे चारित्रिक प्रस्तुतीकरण की जो सीमाएँ है और उसकी जो प्रचलित सरणियाँ है, प्रसाद की चित्रण-विधि मे उनका कोई अपवाद नही। उनकी विशेषता इन प्रक्रियाओ को सूक्ष्मतर एवं विशिष्टतर बनाने मे है। ये प्रक्रियाएँ चार प्रकार की हैं—आत्मकथनात्मक, परकथनात्मक, क्रियात्मक और स्वगतपरक। आत्मकथन और स्वगतोक्ति में प्रसाद ने चरित्राकन की दृष्टि से विशिष्ट अन्तर की अवधारणा चरितार्थ की है। आत्मकथन की स्थिति संवादों के ही बीच उभरती रहती है, अतः इसे स्वगत से अलग करके देखा जा सकता है। इसे सवादीय आत्मव्यंजक कथन भी कह सकते है।

इसमे पात्र अपने विषय मे कुछ कहता है अथवा उसकी उक्तियो से उसके व्यक्तित्व के विषय में व्यग्य रूप मे जानकारी मिलती है ।

महृच्चरित्रो मे आत्मप्रशसा की ओछी वृत्ति नही होती, अत· उनके व्यक्तित्व का परिचय उनके सैद्धान्तिक कथनो अथवा सवादात्मक घात-प्रतिघातो के ही माध्यम से पाया जा सकता है । मध्यम और अधम कोटि के पात्र बहुधा अपनी डीग हाँकते रहते हैं, या अपनी सुखदुखात्मक स्थितियो का अनुकथन करते रहते हैं । भावावेश के चरम क्षण में उच्चतम श्रेणी का पात्र भी अपने व्यक्तित्व का रहस्य खोलने लगता है, किन्तु उसमे वास्तविक आत्मगौरव के प्रकटीकरण की तात्कालिक आवश्यकता ही प्रमुख होती है— उससे उसकी महानता पर आँच नही आती । 'ध्रुवस्वामिनी' मे ध्रुवा को भरी सभा में बन्दी करने के आदेश पर 'चन्द्रगुप्त' का आवेश मे आकर अपने व्यक्तित्व और अधिकारो की घोषणा करना इस प्रसग का अच्छा उदाहरण है । 'चन्द्रगुप्त' के प्रथमाक मे इसी प्रकार सिंहरण का यह कथन—'कदापि नही, मालव कदापि बन्दी नही हो सकता' उसके जातीय आत्मगौरव की अच्छी व्यजना करता है । अन्तिम अक मे सब ओर से निराश और अकेले पड जाने पर चन्द्रगुप्त भी अपने असम साहस और पराक्रम का आख्यान करता है । 'स्कन्दगुप्त' के पहले ही दृश्य में कथानायक का यह कथन 'अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा के लिए सन्नद्ध है । जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो । स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड सकेगा' उसके वीरोचित आत्मविश्वास और दृढ संकल्प का पूरा-पूरा परिचय दे देता है । 'अजातशत्रु' में जीवक का यह आत्मविषयक कथन 'अदृष्ट तो मेरा सहारा है । नियति की डोरी पकडकर मैं निर्भय कर्मकूप में कूद सकता हूँ' उसकी आस्थामयी कर्मण्यता का विशिष्ट चरित्र-गुण उद्घाटित करता है । सवादो के बीच सहसा उभर आने वाले ऐसे आत्मव्यंजक कथन सभी नाटको मे मिल जायेंगे, किन्तु अन्य प्रविधियो की तुलना में इनकी सख्या बहुत कम है ।

आत्माशसा एक नाजुक विषय है और उसमे अक्सर आदर्श पात्र की 'इमेज' के विघटित होने का खतरा होता है, अतः प्रसाद ने अनिवार्य स्थिति में ही यह पद्धति अपनायी है । सामान्यत· पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य उनकी संवादीय उक्तियो से व्यग्य रूप में ही उभरता रहा है । 'अजातशत्रु' में अजात और बिम्बसार, 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य, सिकन्दर और सिल्यूकस, 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्द, देवसेना और जयमाला तथा इसी प्रकार अन्य नाटको के विशिष्ट पात्र अपना चारित्रिक परिचय संवादो में देते रहे है । सैद्धान्तिक कथन की पद्धति का प्रयोग देवकोटि के उदात्त महामानवो के सन्दर्भ में किया गया है । 'अजातशत्रु' में गौतम 'नागयज्ञ' में व्यास, 'स्कन्दगुप्त' में प्रख्यातकीर्ति और धातुसेन, 'चन्द्रगुप्त' में दाण्ड्यायन और 'ध्रुवस्वामिनी' मे पुरोहित की सैद्धान्तिक मान्यताओ से ही उनकी अन्तःप्रकृति का परिचय मिलता रहा है । स्कन्द, चक्रपालित, चाणक्य आदि कतिपय उदात्त कोटि के कर्मशील चरित्रो को भी उनकी मननशीलता और बौद्धिक विशिष्टता के

कारण इस पद्धति पर प्रस्तुत किया जा सकता है। मध्यम और अधम कोटि के पात्र संवादों के बीच प्रायः अपने ही विषय में कहते रहे है । छलना, मागन्धी, विजया, अनन्त-देवी, विरुद्धक, सर्वनाग, भटार्क, राक्षस, पर्वतेश्वर, रामगुप्त, शिखरस्वामी आदि पात्रो की एक लम्बी सूची इस वर्ग में बनायी जा सकती है। उदाहरणार्थ कुछ आत्मव्यंजक उक्तियाँ ली जा सकती है—'मैं बवडर हूँ—इसीलिए जहाँ मैं चाहती हूँ असम्भावित रूप से चली आती हूँ—आवर्त उत्पन्न कर सकती हूँ कि नही' × × × 'मेरी धमनियों में लिच्छिवी रक्त बडी शीघ्रता से दौडता है' (अजातशत्रु : छलना), 'इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं वही हूँ—जो अश्वमेध परा-क्रम मैं हूँ अनन्तदेवी । .... मै वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे' (स्कन्दगुप्त · अनन्तदेवी), 'सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल मैंने ही आपका समर्थन किया था। नीति-सिद्धान्त के आधार पर ज्येष्ठ राजपुत्र को . .।' (ध्रुवस्वामिनी · शिखरस्वामी)। इस वर्ग के पात्रो के मान-सिक स्तर के अनुरूप ही आत्माशसा की पद्धति अपनायी गयी है।

स्वगतकथन की पद्धति का प्रयोग प्रसाद ने अवचेतन और अन्तर्द्वन्द्व के प्रस्तुती-करण के लिए किया है। इसके माध्यम से पात्र का आत्म-साक्षात्कार और आत्मोद्घाटन होता है सभी प्रमुख पात्र—चाहे वे पक्ष के हो या विपक्ष के—यथावसर अपनी मानसिक स्थिति, अपनी गूढ योजना अथवा अपने भीतर उठ खड़े होने वाले संकल्प-विकल्पो को ऐकान्तिक वाणी देते रहे है। इसे मुखर चिन्तन—लाउड थिंकिंग—की पद्धति कह सकते है और यह चरित्र की भीतरी तहो को खोलकर समुपस्थित करने के लिए अन्यतम माध्यम है। प्रसाद के अधिकतर चरित्र किसी न किसी द्वन्द्व में उलझे हुए है अथवा भाव-निगूढ है या फिर पतनोन्मुख स्थिति में कुचक्र-रचना में रत है। तीनो ही स्थितियों में उनके आन्तरिक व्यक्तित्व का उद्घाटन अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि प्रसाद के नाटको में स्वगतोक्तियो का बाहुल्य है। इसकी आवश्यकता केवल उन महच्चरित्रो को नही पडती, जो वैयक्तिक दृष्टि से निस्संग है और जिनके भीतरी और बाहरी जीवन मे कोई विसगति नही। वे मुख्य क्रिया-व्यापार से अलग रहते है और सत्पक्ष की विजय में रुचि रखते हुए व्यक्तिगत स्तर पर परिणाम-निरपेक्ष रहते है। वे किसी आदर्श अथवा सिद्धान्त के प्रतीक बनकर समुपस्थित होते है और सर्वत्र, सभी दशाओ मे एक जैसी ही बात कहा करते है। इन अतिमानवीय पात्रो को छोडकर शेष सारे ही प्रमुख पात्रों को आत्म-प्रत्यक्षीकरण की आवश्यकता का अनुभव होता है और उसके सहारे नाटककार को उनके अन्तरंग का उद्घाटन करने में सुविधा हो जाती है। बिम्बसार, स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की द्विविधाग्रस्त मन.स्थिति का सफल चित्रण इसी माध्यम से हो सका है। समुद्रगुप्त, श्यामा, विरुद्धक, भटार्क, विजया, शर्वनाग, पर्वतेश्वर आदि की पतनशील मनोवृत्ति तथा कुचक्रलिप्तता उनकी स्वगतोक्तियो से बड़े

स्वाभाविक रूप में प्रकट हुई हैं। वाजिरा, देवसेना और मालविका के कोमल भाव-तन्तु और निविड मर्मोच्छ्वास उनकी ऐकान्तिक उक्तियो मे ही रूपायित हो सके हैं। अत्यधिक दृढ मनोबलवाले अथवा गहन कूटबुद्धिवाले पात्रो को इसकी आवश्यकता अपेक्षाकृत कम पडी है। अनन्तदेवी, प्रपचबुद्धि, बन्धुल, बन्धुवर्मा, चाणक्य, शिखरस्वामी आदि ऐसे ही पात्र हैं। भावात्मक विन्दु पर कभी-कभी वे भी आत्म-विश्लेषण करने लगते हैं—जैसे चाणक्य का कुसुमपुर को देखकर सुवासिनी से सम्बद्ध अपने शैशव तथा कैशोर्य को स्मरण करना, किन्तु ऐसे प्रसग विरल हैं। इस पद्धति की स्वाभाविकता द्वन्द्वात्मक अथवा भावनात्मक पात्रो के ही संदर्भ में औचित्यपूर्ण ठहरती है और प्रसाद ने इन्ही सन्दर्भों में इसका प्रयोग भी किया है।

परकथनात्मक चित्रण की पद्धति का रूप सामान्य है। नाटकीय पात्र एक-दूसरे के गुण-दोषो से प्रभावित होकर भाव-प्रकर्ष की स्थितियो में उन्हे विशेषण का रूप दे देते हैं और इस प्रकार सम्बोधित या सन्दर्भित व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओ का परिचय मिलता रहता है। ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त को निर्लज्ज, मद्यप और क्लीव कहना कितना सटीक चारित्रिक परिचय देता है। 'स्कन्दगुप्त' में अनन्तदेवी-द्वारा प्रपचबुद्धि के व्यक्तित्व के विषय में भटार्क को दिया गया परिचय इस पद्धति का एक श्रेष्ठ निदर्शन है। सभी प्रमुख पात्रो की चारित्रिक विशेषताएँ इस पद्धति पर उभरी हुई मिलेगी।

कर्मपरक चरित्र-चित्रण की पद्धति भी इसी प्रकार सर्वसामान्य है। प्रसाद ने अनुरूप क्रिया-व्यापार से समन्वित पात्रो की सृष्टि की है। सत्, असत् अथवा मध्यम-वर्गीय पात्र अपने कर्मों से ही अपने चरित्र का परिचय देते रहे हैं। 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्द का भटार्क तथा शर्वनाग को क्षमा कर देना उसका एक उज्जवल कर्म है, जो उसके वीर-जनोचित औदार्य को प्रकट करता है। चन्द्रगुप्त के भी हृदय की विशालता इसी प्रकार सिल्यूकस को पराजित करके भी सम्मानपूर्वक शिविर में पहुँचा देने से प्रकट हो सकी है। 'अजातशत्रु' में विरुद्धक की क्रूरता और अजात की उद्दडता का परिचय उनके कर्मों से बराबर मिलता रहता है। इसके विपरीत मल्लिका, पद्मावती और वासवी अपने कर्मों से अपनी मानवीय करुणा, निष्ठा और सहनशीलता का परिचय देती है। उदात्त कोटि के महामानव भी कभी-कभी कोई ऊँचा काम करके अपने व्यक्तित्व की गरिमा प्रमाणित करते रहे हैं जैसे 'अजातशत्रु' में गौतम चिंचा के प्रसंग मे, 'स्कन्दगुप्त' मे प्रख्यातकीर्ति बलि के प्रसंग में, 'नागयज्ञ' में तुरकावेषय दक्षिणा के अवसर पर, 'चन्द्रगुप्त' मे दाण्ड्यायन अहम्मन्य सिकन्दर की औपचारिक आशीर्वाद-प्रार्थना के अवसर पर तथा 'ध्रुवस्वामिनी' मे पुरोहित राजपरिषद् में विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी शास्त्रीय व्यवस्था देने के अवसर पर। ये महच्चरित्र मुख्य नाटकीय क्रिया से अधिक सम्बन्धित नही, किन्तु प्रकृति की अनिवार्य प्रेरणा से उन्हे कुछ न कुछ तो करते रहना ही पड़ता है।

कर्मपरक चित्रण के संदर्भ में प्रसाद का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि उनके प्रमुख

चरित्र नियतिवाद को स्वीकार करके भी अनवरत उद्योगरत रहा करते है। उनके पात्र नियति की डोर पकडकर निर्भय कर्म-कूप में कूद पडते हैं और अपनी आस्थामयी और निर्दंभ कर्मण्यता का परिचय देते है। उनकी दार्शनिकता उन्हें कर्मरत करती है, संन्यस्त नही होने देती। स्कन्द और चाणक्य के चरित्र इसके सजीव उदाहरण है। यो, सजीवता की दृष्टि से कर्म के आधार पर चित्रित सर्वाधिक जीवन्त पात्र वे है जो कुचक्र, अनीति, हिंसा और युद्ध की दिशा में अग्रसर रहे है। नैतिक दृष्टि से कुछ भी कहा जाए, किन्तु प्रसाद के सर्वाधिक प्राणवान् चरित्र ये ही हैं। विरुद्धक, श्यामा, भटार्क, अनन्तदेवी और प्रपंचबुद्धि अपने असामान्य और घोर कर्मों के कारण पाठक तथा दर्शक की कल्पना को पकडने में सर्वाधिक समर्थ रहे है। सत्पक्षीय महामहिम पात्रो ने उनके अमगलकारी व्यक्तित्व को तोडा अवश्य है, किन्तु उनकी प्रचण्ड जिजीविषा अपनी अमिट छाप छोड ही जाती है।

प्रसाद की चरित्र-सर्जना की प्रकृति और सीमाओ को लेकर कई बातें कही जा सकती है। उनके पास चरित्रविषयक कुछ निश्चित आयाम है और प्रायः हर नाटक मे उन्ही को आधार बनाकर पात्रो की सरचना की गयी है। चरित्र के ये कुछ साँचे एक जैसे पात्रो की आवृत्ति करते रहते है, जिससे प्राय ही एकरसता का अनुभव होने लगता है। एकरसता का एक अन्तरिम पहलू यह भी है कि 'टाइप' चरित्रो की क्रिया-प्रतिक्रिया प्राय पूर्वनिर्धारित हो जाती है और वे पूरे नाटक में आद्योपात अपना व्यक्तित्व बनाए रखने के लिए प्राय. एक जैसी चेष्टाएँ करते रहते हैं। स्थिर-चरित्रो में यह एकरसता और भी उबानेवाली है। फिर उनमे से अनेक की मंचीय अवतारणा का कोई स्पष्ट प्रयोजन भी नही लक्षित होता। सुएनच्वाग, वासवदत्ता, जीवक, शौनक, च्यवन आदि की स्थिति निष्प्रयोजन एव दयनीय लगती है। गत्यात्मक कोटि के पात्रो की दार्शनिकता एक अन्य प्रकार की एकरसता उत्पन्न करती है और नाटकीय क्रिया-व्यापार में अवरोध जैसे प्रतीत होती है। आकस्मिक हृदय-परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्ति भी खटकनेवाली है और अस्वाभाविक लगती है।

प्रसाद बहुधा चारित्रिक विकास के कई सोपान लाँघ जाते है और पात्र को सहसा ही परिणति के बिन्दु पर पहुँचा देते है। यह भी कहा जा सकता है कि उनके नाटको मे कुछ प्रमुख ऐतिहासिक चरित्रो का अपकर्ष हो गया है तथा उन्हे नाटककार की मानवीय सवेदना नही मिल सकी है। हर्षवर्धन, जीवक, उदयन, पर्वतेश्वर, सिकन्दर, राक्षस, शकटार, रामगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ऐसे ही बदकिस्मत इतिहासपुरुष है, जिन्हे नाटककार की पूरी और सही सहानुभूति नही मिल पायी है और उनके नाटकीय व्यक्तित्व अपेक्षाकृत बौने या विरूप हो उठे है। इसी प्रकार कुछ और भी बातें कही जा सकती है, जैस उनकी पात्र-सृष्टि में सामान्य मानव के लिए स्थानाभाव है अथवा नारी को उन्होने अपेक्षाधिक महत्व दे दिया है आदि-आदि। प्रसाद की चारित्रिक संरचना पर लगाये जाने

वाले ये आरोप निराधार नही कहे जा सकते । सामान्यतः पाठक या दर्शक के मन पर ऐसी ही प्रतिक्रियाएँ होती भी है । अस्तु, इनके प्रत्याख्यान और निराकरण की न आवश्यकता है और न गुजाइश । उनकी पात्र-सृष्टि की ये वास्तविकताएँ है और इनका मूल उनकी समग्र मनोदृष्टि मे है । प्रसाद के लिए साहित्य आत्मोपलब्धि का माध्यम है, जिसका कि नाटक एक सशक्त और महत्वपूर्ण अग है ।

समग्र सृष्टि-प्रसार को वे अनिवार्यत आत्मतत्व से सम्बद्ध करके देखते है । उनकी यह पराभौतिक दृष्टि उनके नाटको मे एक सास्कृतिक प्रयोजन का अभिनिवेश करती है, जिसके दायित्व-बोध से वे प्रयत्न करके भी निस्सग नही हो सके । 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' मे उन्होने कुछ वैसा करना चाहा था, किन्तु बहुत कुछ करके भी वे अपनी प्रकृत भूमि का त्याग नही कर सके । इसे उनकी दुर्बलता भी कह सकते है, किन्तु यही उनकी जिजीविषा का अक्षय स्रोत भी है । यथार्थ और व्यक्तिवैचित्र्य को महत्वपूर्ण तथा युगानुरूप मानते हुए भी वे अपने सर्जन में आदर्श और रसवाद के प्रति आग्रहशील रहे है । आदर्शोपजीवी चरित्र मे यथार्थ का जितना वैचित्र्य दिखाया जा सकना संभव था, उतना उन्होने अवश्य दिखाया, किन्तु उसके लिए वे अपनी तथा पात्र की 'इमेज' नही तोडना चाहते थे । पाठक या दर्शक को भी तो अन्तिम प्रभाव के रूप मे यह 'इमेज' ही दी जा सकती है । प्रसाद सास्कृतिक बिम्ब का प्रत्यक्षीकरण चाहते थे, विघटन नही । अत उन्होने श्रेष्ठ पात्रो की उदात्तता को सतर्कतापूर्वक बरकरार रखा है ।

स्थिर और दार्शनिक वर्ग के पात्रो के प्रस्तुतीकरण में भी उक्त विचार ही क्रियाशील रहा है । नाटकीय सक्रियता की दृष्टि से भले ही उनका कोई स्थूल और तात्कालिक प्रयोजन न हो, किन्तु व्यापक माहौल के तो वे प्रमुख घटक होते ही है । यो, अपने ढंग से वे क्रिया-व्यापार में योग भी देते है । दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी की प्रतिक्रिया सिकन्दर, चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के मन पर होती ही है जो उनकी कर्मशीलता को प्रभावित करती है । वासवदत्ता की अत्यधिक उदारता क्या अजात को स्वैराचारी बनाने के लिए कुछ भी उत्तरदायी नही ? समग्रत. इस वर्ग के पात्रयुगीन समस्याओ के समाधान का गुरु दायित्व वहन करते है, अत. उनका अपरिवर्तित अथवा अपरिवर्तनीय होना नाटकीय वस्तुवृत्त की एक वास्तविक आकाक्षा है । जहाँ तक प्रतिपक्ष के आकस्मिक हृदय-परिवर्तन की बात है, उसमें सामान्य मानवीय दृष्टि से कोई विसंगति नही । चारित्रिक परिवर्तन सदैव सहसा घटित होते है और उनका कारण कोई बड़ी किन्तु आकस्मिक घटना होती है । सुधरने की संभावना उनके व्यक्तित्व में पहले से निहित होती है, किन्तु विशेष परिस्थितियों की विपक्षीय प्रतिक्रियाएँ उसे उभरने नही देती । विरुद्धक, शर्वनाग, भटार्क, आम्भीक आदि ऐसे ही पात्र है जो पाप-पंक में आकण्ठ डूबकर भी हमसे सहानुभूति की अपेक्षा रखते हैं । भटार्क का दर्द देवसेना के प्रति कुचक्र-रचना के अवसर पर अपनी एक झलक देता है—'ओह ! पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नही । कुकर्म

उसे जकडकर अपने नागपाश मे बाँध लेता है । दुर्भाग्य ।' शर्वनाग की आत्मा राजमाता देवकी की हत्या के षड्यन्त्र में सम्मिलित होने से पहले कितना विद्रोह नही करती ! आम्भीक भी अपनी भूल समझता है और प्रत्यावर्तन करना चाहता है किन्तु 'यवन सैनिक छाती पर खडे है । पुल बँध चुका है'—और अब लौटने का मतलब है अपनी आँखो से अपने गाधार का विनाश देखना । अपनी स्थितियो में जकडे हुए ये चरित्र निश्चय ही सहानुभूति के पात्र हैं । इनका चरित्र-विश्लेषण सहज मानवीय दृष्टि से ही करना उचित है, पाश्चात्य त्रासदी-नायको के समानान्तर रखकर उनका आकलन करना उनके और नाटककार के प्रति अन्याय होगा ।

परिवर्तन की स्थिति में प्रसाद ने बडी और महत्वपूर्ण घटनाएँ भी रखी है । भटार्क का मन देवकी के आकस्मिक मरण से बदलता है और शर्वनाग का स्कन्द-द्वारा मुक्त किया जाना किसी भी महान् घटना से कम नही, जो उसे शुद्ध कर देती है । फिर प्रसाद ने इस सदर्भ में उनकी जीवनयात्रा को भी दृष्टिपथ में रखा है । घटनाओ के घात-प्रतिघात ने इन पात्रो को जीवन के जो अनुभव दिये है, वे उन्हें बदलने के लिए पर्याप्त है । श्यामा और शर्वनाग के हृदय-परिवर्तन में क्या कुछ भी अस्वाभाविक कहा जा सकता है ? बहुधा उदात्त चरित्रो के सम्पर्क मे आने के कारण भी पतित पात्र पथ-परिवर्तन करते रहे है, किन्तु ऐसे प्रसंग कम है और प्रसाद ने सप्रयास उनके साथ किसी न किसी प्रभावशाली घटना को जोड दिया है । इस प्रकार इन पात्रो के अपने हृदय-परिवर्तन का मूल्य भी नाटककार ने चुकाया ही है । जहाँ आकस्मिकता एक स्वाभाविक अपेक्षा हो जाए, वहाँ कुछ खाइयो को तो लाँघना ही पड जाता है । नारी-महत्व एवं सामान्य मानव की स्थिति के विषय में पहले कहा जा चुका है । प्रसाद न अपने युग की उपेक्षा कर सकते थे और न इतिहास की ही हत्या कर सकते थे । अत' उन्होने युगापेक्षा और वस्तु-प्रकृति के अनुरूप उन्हे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है । ऐतिहासिक चरित्रापकर्ष कुछ नाटकीय प्रयोजन से हो गया है और कुछ प्रसाद के सास्कृतिक सम्प्रेष्य के दबाव के कारण । ऐतिहासिक प्रसंगो मे भी साहित्यस्रष्टा को कल्पना और सभावना की कुछ छूट रहती ही है । प्रसाद ने अपने इस लेखकीय अधिकार का अधिक उपयोग तो नही किया, किन्तु अपने कथ्य के अनुरूप वस्तुविषय को एक सीमा तक ढालने से भी नही हिचके । वे स्वयं एक गहरे इतिहासान्वेषी थे और उनके पास तथाकथित प्रत्येक व्यतिरेक की प्रामाणिकता थी, जिनके आवश्यक संदर्भ उन्होने नाटको की भूमिकाओ और निबन्धो में दिये है । उनकी पात्र-सृष्टि सही अर्थों मे जीवन की व्यापकता और गहराई को उजागर करते हुए उसके महनीय सास्कृतिक आयाम प्रस्तुत करती है ।

रसानुभूति का स्वरूप

प्रसाद आनन्दवादी विचार-परम्परा के मनीषी साहित्यकार है । प्राचीन आर्य-सस्कृति के प्रति उनकी गहन आत्मीयता ने उन्हे आनन्द का जो उदात्त किन्तु मोहक जीवन-दर्शन दिया, वह उनके समूचे व्यक्तित्व का प्रमुख घटक बन गया है । न केवल व्यावहारिक मूल्यो के निर्धारण मे उसकी भूमिका प्रमुख रही, वरन् उनकी साहित्यशास्त्रीय विचारणाएँ भी उसी पर आधृत है । आर्यों की आनन्द-भावना का मूल उन्हे कामोपासना मे मिला, जो अपने-आप मे एक महान प्रवृत्तिमुखी दर्शन है । यह काम ब्रह्मरूप है, सृष्टि का बीज है, आदिदेव है । यही जीवन के मधुर मागलिक प्रसार की प्रकृत प्रेरणा है । इसकी विकृति पतन के अन्धतम कूप में डालने वाली है, तो इसकी परिष्कृति अलोकसामान्य देव-स्तर पर प्रतिष्ठित करने वाली । श्रुतियो मे इसे ही 'भूमा' शब्द से विवक्षित किया गया है और शैवागमो मे यही 'सामरस्य' की विमोहक परिकल्पना के रूप मे समादृत किया गया है । कहना न होगा कि इस कामात्मक आनन्द-दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान एवं यथार्थ-वादी विचारधारा के प्रवर्तक फ्रायड के काम-सिद्धान्त में आधारभूत समानता है । फ्रायड ने दमित काम से ललित कलाओ का जन्म माना था और प्रसाद भी सवेदन और हृदय के सघर्ष को उस अभावदीप्त करुणकाव्य का जनक मानते है, जिसे शेले ने 'मधुरतम गान' कहा था । प्रसाद की रस-विषयक धारणा मूलतः इसी कामानन्द-दर्शन से भावित और प्रेरित है । उनका मत है कि शैवागमो के 'क्रीडात्वेनमखिलम् जगत्' वाले सिद्धान्त का नाट्यशास्त्र मे व्यावहारिक प्रयोग है ।

काव्यमयी श्रुतियो के अनन्तर तर्काश्रित शास्त्र और स्मृतियो के युग मे काव्य की-आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की धारा लोकपक्ष से मिलकर अपनी आनन्द-साधना में लगी रही और सर्वसाधारण के लिए वेदों के आधार पर काव्यों का पचम वेद की तरह प्रचार हुआ । भारतीय वाङ्मय मे नाटको को ही सबसे पहले काव्य कहा गया और इन्ही नाट्योपयोगी काव्यो में आत्मा की अनुभूति रस के रूप मे प्रतिष्ठित हुई । रसात्मक अनु-भूति आनन्द-मात्रा से सम्पन्न थी और तब नाटको मे रस का प्रयोग आवश्यक माना गया । इस प्रकार आनन्द के अनुयायियो ने धार्मिक बुद्धिवादियो से अलग सर्व-साधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्यरसो की उद्भावना की थी । नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नटराज शंकर के जगन्नाटक का अनुकरण करने के लिए पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था । स्वय भरत मुनि ने भी नाट्य-प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप मे ही माना था । भरत मुनि के प्रसिद्ध रस-सूत्र का हवाला देते हुए प्रसाद कहते है कि बुद्धिवादी

तार्किक व्याख्याकारों ने अपने पाण्डित्य के बल पर रस के सम्बन्ध मे नये-नये वाद खड़े किये किन्तु आनन्द-परम्परा वाले शैवागमों में प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी, अतः रस की अभेद और आनन्द वाली व्याख्या हुई।

भट्टनायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर लोक-सामान्य-प्रकाशानन्दमय आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई। माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने अभेदमय आनन्द पथ वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य मे रस की व्याख्या की। इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता हे। अभिनवगुप्त ने नाट्यरसो की व्याख्या में इसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया था। उन्होने कहा कि वासनात्मक तथा स्थित रति आदि वृत्तियाँ साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्द स्वरूप हो जाती है। प्रसाद ने रसानुभूति की इस आनन्दावस्था को शैवागमीय समाधिमुख से उपमित किया। चित्तवृत्तियो की आत्मानन्द मे तल्लीनता समाधिसुख ही है। रसानन्द की यह दार्शनिक अवधारणा स्थायी वृत्तियो की अनेकता का द्वन्द्व समाप्त कर देती है क्योकि इसके अनुसार रस के मूल मे चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है। वैचित्र्यपूर्ण मनोभावो के सामरस्य का यह शैवागमीय रससिद्धान्त समस्त अनुभूतियो में अहम् की पूर्णता मानता है। इसीलिए शैवागम के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनो सीमाओ—शृङ्गार और शान्त को स्पर्श करते थे। कहना न होगा कि प्रसाद की रचनाओ मे रसानुभूति के इसी विरोधाभास का अनोखापन है और इसी अर्थ में उन्हे रसवादी मानना होगा। उनके नाटको में प्राय ही एक से अधिक रसो—विशेषकर वीर, शृङ्गार शान्त—की प्रधानता रहती है और अंगागि-सम्बन्ध के आधार पर प्रमुखता का निर्णय करना कठिन हो जाता है। नाटक ही नही, काव्य और कथाकृतियो में भी उनकी यही समरसतावादी रसदृष्टि परिलक्षित होती है। 'कामायनी' मे शम-पर्यवसायी शृङ्गार की रस-भूमि है। विचारको का एक वर्ग उसमें अद्भुत रस की भी परिव्याप्ति देखता है। प्रारम्भिक युग का स्वच्छन्दतावादी कथाकाव्य 'प्रेमपथिक' भी वैयक्तिक प्रेम को जिस समष्टिगत और आध्यात्मिक अभ्युत्थान की दिशा में ले जाता है, वह उदात्त शम की ही भावस्थिति है। विप्रलम्भ-शृङ्गार का अनूठा निदर्शन 'आँसू' भी इसी उदात्त शम में पर्यवसित होता है। कथासाहित्य में यही भाववैचित्र्य प्रसाद की निजी विशेषता बन गया है। उनकी अधिकतर और प्रातिनिधिक कथाएँ रत्यादि भावो से ओतप्रोत रहकर अपने समापन में मन पर उदात्त शम का अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। इस परिणति को एकान्त सुख या दुःख के वर्ग में स्थापित नही किया जा सकता, अत. उनकी कहानियों को 'प्रसादान्त' कहा जाता है। नाटको में रसानुभूति की यह विशिष्टता सर्वाधिक उभरी हुई है, क्योंकि उसकी प्रकृत विधा यही है।

रस अपने मूल रूप में नाटको की ही वस्तु थी और इसी अर्थ में उसे काव्य की

आत्मा कहा गया था। 'काव्येषु नाटकं रम्यं' की धारणा भी इसी ओर सकेत करती है कि नाटक में ही आत्मा की मूल अनुभूति-रस को पूर्णता मिली थी। प्रसाद ने नाट्य-रस की जो शैवागमीय अवधारणा सिद्धान्त रूप मे प्रस्तुत की है, उसी की व्यावहारिक अवतारणा उन्होने अपने साहित्य में की है। उनके यहाँ शान्त-रस को निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता के रूप में देखा गया है। इसी विचार-परम्परा मे प्रसाद शान्त को समाहारी रस के रूप मे सर्वोपरि रखते हुए वीर, शृङ्गार, करुण आदि रसो का विनियोजन करते हैं। उनके प्रमुख ऐतिहासिक नाटको-अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त—मे वीर, शृङ्गार और शान्त की रस-धाराए साथ-साथ प्रवाहित होती रहती है और अन्त मे सब कुछ शान्त में समाहित होकर एक अनिर्वचनीय आस्वाद की सृष्टि करता है। कर्म की भूमिका मे ये नाटक वीर रस को प्रधानता देते है, वैयक्तिक सन्दर्भ मे ये शृङ्गार का माहौल रचते है और नियमन व परिणति के विचार से इनमें शान्त सर्वोपरि रहता है। शम आरम्भ से ही नियामक बना रहता हैं, सत्कर्म की प्रेरणा देता है, और लक्ष्य-सिद्धि के अनन्तर समग्र कर्मशीलता पर अपनी दिग्व्यापिनी शीतल छाया डालता हुआ समरसास्वाद के रूप मे अन्तः प्रतिष्ठित हो जाता है। यह शम दिवाकर मित्र, सुएनच्वाग, प्रेमानन्द, गौतम, विवेक, वेदव्यास, प्रख्यातकीर्ति, चाणक्य और दाण्ड्यायन जैसे महच्चरित्रो के माध्यम से प्रकाशित और अग्रसारित होता है।

अध्यात्मपक्षीय ये उदात्त महामानव मंगलमयी शान्ति के लोकसाधक होते है, जिसकी प्रतिष्ठा के लिए उन्हे, वैयक्तिक रागद्वेष से मुक्त होते हुए भी, लोकमंच पर न्याय और सत् का पक्ष तत्परतापूर्वक ग्रहण करना पडता है। विरक्तो का यह राजदर्शन प्रसाद के नाटको की निजी विशेषता है। कही-कही तो यह शम पूरे परिवेश पर इस कदर हावी हो जाता है कि नायकत्व बाधित होने लगता है। 'चन्द्रगुप्त' मे प्रसाद को अन्तिम अक का विधान बहुत कुछ इसीलिये करना पडा कि प्रकृत कथानायक चन्द्रगुप्त का नायकत्व प्रमाणित-प्रतिष्ठित किया जा सके, किन्तु इतने पर भी चाणक्य की महिमा नायक पर छायी ही रहती है। नाटक के अन्त में निष्कंटक आर्य-साम्राज्य के साथ कार्नेलिया के रूप मे फलप्राप्ति यद्यपि चन्द्रगुप्त को होती है और इस दृष्टि से इसमे शृङ्गार से पुष्ट वीर-रस को ही प्रधान मानना चाहिए, किन्तु चाणक्य की नियामकता इसका अतिक्रमण करके इस पर शम की छाया डाल देती है। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के पाणिग्रहण मे रसरजकता अवश्य हैं, किन्तु चाणक्य का प्रसन्न मन से साग्रह मौर्य को साथ लेकर तपश्चर्या के लिए चल देना उसकी अपेक्षा कही अधिक मर्मग्राही है। यहाँ रसानुभूति बाधित न होकर उस परम आनन्दानुभूति से सम्पृक्त हो उठती है जिसकी ओर रति, उत्साह आदि व्यावहारिक मनोभाव सकेत करते रहते हैं और जो इन सबका आलय रूप है। 'स्कन्दगुप्त' मे शम की यह अन्तर्धारा नायक से ही जुडी हुई है, अत. वह अपनी इस उदात्त रसानुभूति में सर्वाधिक सहज और अप्रतिम है। नायक के कर्मशील जीवन की वीरोचित सफलता तथा उसकी

रत्यात्मक विफलता—दोनो ही उसके व्यक्तित्व मे अन्तर्निहित गम्भीर प्रशान्तता में विलीन हो जाते हैं। देवसेना को विदा देने के पहले स्कन्द मे निश्चय ही मनोद्वन्द्व चल रहा था, किन्तु विदा के चरम क्षण मे वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। 'अजातशत्रु' मे शम के सवाहक चरित्रो का एक विशिष्ट वर्ग ही प्रस्तुत कर दिया गया है, जिसके माध्यम से शान्तरस की धारा आरम्भ से ही वीर के समानान्तर प्रवाहित होती रहती है। अन्तिम दृश्य के सुखातिरेक को परम्परागत रसदृष्टि से वर्गीकृत करना कठिन है। अजात की उपलब्धि, पारिवारिक कलह की शान्ति एव बिम्बसार का सुखातिशय्य—सभी को मिलाकर फलयोग माना जा सकता है, किन्तु क्या वह उसी शम-संवाहक पक्ष की विजय व्यावहारिक प्रतिफलन नही है जो मैत्री, करुणा और शान्ति की लोकसिद्ध के लिए आरम्भ से ही सघर्षशील रहा है और जिसने सभी प्रमुख चरित्रो का नियमन करते हुए उनकी दिशा का निर्धारण किया है। अन्तिम दृश्य के ठीक पहले बिम्बसार को अवसादमयी विरक्ति से परिपूर्ण चित्रित किया गया है, जिसे गौतम के सदुपदेश, वासवी के साहचर्य, और अजात के दुष्कृत्यो का प्रभाव-समवाय कह सकते है।

प्रसाद को शम का वह पक्ष प्रिय नही जो जीवन से दूर, निर्वेद और सन्यास की ओर ले जाता है। उनकी शम-विषयक धारणा शैवागमीय आनन्दभाव से गहरे जुडी हुई है। अत· बिम्बसार के निर्वेद को तोडने और मोड़ने के लिए अन्तिम दृश्य की सुखात्मकता का विधान कर दिया गया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'राज्यश्री' मे शम की यह सिद्धि विशेष परिस्फुट है। इनमे कर्म का पक्ष मुख्यत· वीर और गौणत. शृङ्गार रस की भावभूमि रचता है, किन्तु पूर्वोक्त नाटको की तरह वहाँ भी करुणाश्रयी शम नियामक और पर्यवसायी बना रहता है। इस प्रकार प्रसाद के नाटको का मूल स्वर शम माना जा सकता है, जो आत्मा के अभिनय रूप भाव-वैचित्र्य को निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता मे एकीभूत कर देता है। इसे लोकानन्द अथवा समाधिसुख भी कह सकते है। रस की यह दार्शनिक, आध्यात्मिक और आनन्दवादी विचारणा प्रसाद की निजी विशिष्टता कही जा सकती है।

शान्तरस के काव्यगत औचित्य पर रसाचार्य आरम्भ से ही विचार करते रहे है। नाटक के सन्दर्भ मे यह प्रश्न और महत्वपूर्ण हो जाता है। इसके विपक्ष में कहा जाता है कि विक्रियाजनक और सार्वजनीन न होने के कारण यह अनभिनेय है और नाटक मे अप्रयोजनीय है। शम मे समस्त क्रिया-व्यापारो का लय हो जाता है, जबकि अभिनय में वे ही प्रधान होते है। फिर, मोक्षाभिमुख अर्थात् रागद्वेषरहित होने के कारण यह सामाजिको के हृदय-सवाद का विषय नही बन सकता। नाट्याचार्य भरतमुनि द्वारा स्पष्ट उल्लेख न किया जाना भी इसके विरोध का एक कारण है। इसे वीर तथा वीभत्स में अन्तर्भुक्त करके भी इसके भी स्वतत्र अस्तित्व का निषेध किया गया है। नटों मे शम का अभाव मानते हुए भी इसे अनभिनेय कहा गया है। इन

आक्षेपो के समाधान के पूर्व यह कह देना प्रासंगिक होगा कि प्रसाद के किसी भी नाटक में शान्त को अंगीरस के रूप मे नही प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत· वे रसानुभूति की पूर्णता सामरस्य में मानते थे, जिसका आधार और अधिष्ठान शान्त ही हो सकता है क्योकि उसी मे प्रत्यगात्मा के भाव-वैचित्र्य का अभेद समाहार सम्भव है। उनकी दृष्टि किसी रस-विशेष पर न होकर समग्र प्रभाव पर थी। इसीलिए उनके नाटकों मे शम सदैव चरम क्षण मे सर्वोपरि हो जाता रहा है।

सक्रियता के विचार से उनमे प्रायः सर्वत्र वीररस की और कही-कही शृङ्गार की प्रधानता है, किन्तु प्रसाद का दार्शनिक मन इन्हें इनके सहयोगी अन्य रसों के साथ आत्यन्तिक रसानुभूति की सामग्री अथवा साधन के रूप में ही देखता है, साध्यरूप में नही। अस्तु, प्रसाद के नाटकों की सक्रियता के सन्दर्भ में ये आक्षेप कुछ विशेष महत्व के नही। फिर भी, शम के सवाहक चरित्र तो उनके नाटको मे है ही, भले ही वे गत्यात्मक (Dynamic or Round) न होकर स्थैतिक (Static or Flat) हो। तब यह कहना आवश्यक हो जाता है कि शान्त के अभिनय में केवल कर्म-संन्यास ही नही आता—प्रवृत्तिगत शान्तिप्रियता अथवा क्षुद्र दैनन्दिन सुख-दु ख के प्रति अवज्ञारूप विराग भी इसी की जीवन-भूमियाँ है, जो अधिकतर उदात्त नायकों के व्यक्तित्व मे रहती है और जिनकी भूमिका अन्तर्द्वन्द्वप्रधान नाटको में प्राय ही अनिवार्य तथा विशिष्ट रहती है। 'स्कन्दगुप्त' इसका जीवन्त उदाहरण है। उसकी नाटकीय विशिष्टता का सौध विराग की ही नीव पर खडा हुआ है। नटों में शम के अभाव को लेकर प्रसाद का कहना है कि नटो मे तो किसी भी आस्वाद का अभाव है, इसलिए शान्तरस भी अभिनीत हो सकता है, इसकी आवश्यकता नही कि नट परम शान्त, सयत हो ही। अभिनेता का अभिनय में भोक्तृभाव होना अपेक्षित तो है, किन्तु अनिवार्य नही। यह बात इस विरुद्ध-तर्क के आधार पर भी सिद्ध की जा सकती है कि वासना रूप में हृदयस्थित रत्यादि वृत्तियो का साधारणीकरण हो जाने पर वे कवि, नट और सामाजिक—तीनो के लिए अभेदभाव से रस रूप में आस्वाद्य हो जाती है। अत· ताटस्थ्य और तादात्म्य—दोनो पद्धतियो से शान्त का अभिनय सभव है।

शान्तरस की रागद्वेषहीनता के प्रसंग में कहा जा सकता है कि इसका आश्रय अनिवार्यत· सन्यासी ही हो, ऐसा नही है। जीवोन्मुक्त होकर जीनेवाले भी इसी लोक में होते और उन्हें अन्यों की ही भाँति अभिनय का विषय बनाया जा सकता है तथा बनाया भी गया है। इस सन्दर्भ में भरत का यह विचार महत्वपूर्ण है कि आयु तथा व्यक्तिभेद से विभिन्न रस विभिन्न जनों के लिए आस्वाद्य होते है। भरत द्वारा 'डिम' के वर्णन में जो आठ ही रसों का उल्लेख करते हुए इसे छोड दिया गया है, वह एक प्रासगिक बात है, सैद्धान्तिक नही। रौद्रप्रधान 'डिम' में शान्तरस के लिए कोई गुजाइश नही, अतः उसका नामोल्लेख न होना उचित ही है। अन्यत्र भरत ने 'क्वचित् शमः', 'मोक्षकामः',

'तपस्विनाम्' आदि उक्तियो से इसकी ओर संकेत किया है। अभिनवगुप्त ने इन्ही के आधार पर इसे भरत-सम्मत माना है। वीर तथा वीभत्स मे इसके अन्तर्भाव की बात व्यर्थ है। यह एक अतिवादी दृष्टि है, जिसका उत्तर उसी शैली से इस प्रकार दे दिया गया है कि सभी स्थायी भावो की उत्पत्ति शातरस से होती है और उसी मे उनका विलय भी होता है। विलय की बात प्रसाद भी मानते है, किन्तु उनकी इस मान्यता के पीछे एक सुश्रृङ्खल, सास्कृतिक और दार्शनिक तर्कशास्त्र है, दुराग्रहपूर्ण अतिवाद मात्र नही। अस्तु, शान्त अन्य रसो की ही भाँति अभिनेय और नाटक में प्रयोजनीय है। प्रसाद के नाटको में वीर और श्रृङ्गार के साथ इसकी सर्वातिशायिनी अवस्थिति कुछ विचित्र अवश्य लगती है, किन्तु स्वय लेखक की रसानुभूतिविषयक दार्शनिक धारणा इसका सुन्दर समाधान दे देती है। इसके शास्त्रीय प्रमाण भी है। अभिनव के शब्दो में 'जहाँ शान्त रस का प्रयोग होता है, वहाँ पुरुषार्थोपयोगी श्रृङ्गारवीरादि मे से एक रस अवश्य होता है और उसी प्रधानभूत शान्तरस में उनका भी आस्वाद होता है।'

इस प्रकार अगागिभाव न होने पर वीर और शान्त के आस्वाद को परस्पर विरोधी प्रकृति का नही माना जा सकता। शान्त की इस विशिष्टता से अपरिचित होने के कारण बहुधा आलोचको को प्रसाद के नाटको मे रस-व्याघात दिखायी पडता है और कभी-कभी आँख मूँदकर नाटकीय सक्रियता के आधार पर वीर या श्रृङ्गार के अंगी होने की घोषणा कर देते है। इस प्रसंग मे एक शास्त्रीय अध्ययनकर्ता के कुछ निष्कर्ष दिलचस्प हो सकते है। 'स्कन्दगुप्त' का अन्तिम दृश्य उनके सामने 'रस-सम्बन्धी एक प्रश्न' खडा कर देता है। उनका कहना है कि 'स्कन्दगुप्त की आद्यन्त कर्मवीरता के अखण्ड साम्राज्य मे समष्टि-प्रभाव शात के पक्ष में हो ही नही सकता' अतएव शान्त रस का यह आभास उन्हे 'वर्तमान पाश्चात्य प्रणाली से प्रभावित' और 'अनगकीर्तन' प्रतीत होता है। 'अजातशत्रु' मे 'सब अवयवो के रहते हुए भी' वे शान्त की स्थिति मानने से इनकार कर देते हैं। एक दूसरे विचारक के शब्दो में उनकी यह बात स्वय भरतमुनि की भी समझ में न आने योग्य है।

प्रसाद के नाटकों मे वीर और श्रृङ्गार रसो का शान्त द्वारा यह अतिक्रमण और आत्म-समाहरण एक व्यापक करुण प्रभाव की सृष्टि करता है। शम की उदात्त मन.स्थिति में ले आनेवाली त्यागवृत्ति करुणामूलक होती भी है। यह करुणा सामान्य दु.ख की भावना से परे है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रसाद का आनन्दवाद लौकिक सुखानुभूति से अलग और विशिष्ट हो जाता है। करुणा की यह धारणा उन्हें बौद्धदर्शन से मिली थी। बौद्धमत के इस नैतिक उद्देश्य को प्रसाद ने अपने साहित्य में भावनात्मक सदर्भ दिया है। उनके समग्र साहित्य में व्याप्त जीवनदर्शन की रीढ करुणा ही है। आपातत: विरोधात्मक प्रतीत होते हुए भी प्रसाद के आनन्द-सिद्धान्त और करुणावाद में अद्भुत सामंजस्य और पारस्परिक अनुकूलता है। प्रसाद को 'सुख से सूखे जीवन' से अरुचि थी, क्योकि

वह व्यक्तिबद्धता, स्वार्थपरता और निष्क्रियता की ओर ले जाता है। इसीलिए उन्होने 'भूमा' और 'सामरस्य' के रूप में सुख की विराट् और उदात्त सास्कृतिक परिकल्पना को अपनी साहित्य-चिन्ता का मूलाधार बनाते हुए उसे परम प्रासव्य बताया। आनन्दविषयक यह धारणा उस विराट् आत्मा अथवा ब्रह्म से जुडी हुई है जो समस्त अस्तित्व-रूपो का उनकी समस्त द्वन्द्वात्मकता के साथ अधिष्ठान भी है, और लयरूप भी। इस विराट् तक पहुँचने का एकमात्र लोकपथ करुणा है।

वैयक्तिक दु ख जब परदु खकातरता और सहानुभूति से परिष्कृत और प्रोज्वल होकर लोक-सवेदना का रूप ग्रहण कर लेता है, तब उसे करुणा की सज्ञा मिलती है। समष्टि की इस मनोभूमि मे आकर दु ख की उस वैयक्तिकता का परिहार हो जाता है जो क्लेश, सकोच और स्वार्थवृत्ति का आधारभूत कारण है। इसे इस लोक का मोक्ष कह सकते है और यह पूर्वोक्त विराट् आनन्दभाव से जुडी हुई है। यही आनन्दमयी करुणा प्रसाद-साहित्य का प्रमुख प्रदेय है। 'भूमा' और 'सामरस्य' यदि अन्तिम आध्यात्मिक आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित किये गये है तो करुणा उसकी लोक-भूमिका है। प्रसाद के नाटको के लोकोत्तर आदर्श-चरित्र व्यापक रूप में इसी से भावित है—चाणक्य भी, जिस पर व्यक्तिगत प्रति-हिंसा से ग्रस्त होने का आरोप लगाया जाता है। यदि उसमे प्रतिशोध की वैयक्तिकता ही होती तो केवल मगध सम्राट् नन्द उसका अपराधी नही था—उसे सतत् पददलित और अपमानित् करने के लिए प्रयत्नशील राक्षस और उसकी हत्या का प्रयास करनेवाला मौर्य भी उसके प्रतिशोध के विषय बन सकते थे। फिर, उसके व्यक्तित्व के विजन बालुका-सिन्धु में सुधा की एक लहर के समान दौड पडनेवाली सुवासिनी भी उसका प्रासव्य हो सकती थी। किन्तु वह सबको क्षमा कर देता है और सब कुछ त्याग देता है। नन्द के विनाश के साथ चन्द्रगुप्त का राज्याधिरोहण जुड़ा हुआ है और चन्द्रगुप्त के सम्राट् होने के साथ राष्ट्र-संरक्षण—अत. वह चाणक्य की एकमात्र निजी प्रतिहिंसा का विषय नहीं। मूलत चाणक्य ब्राह्मण है, जिसका किसी से द्वेष नही। वह क्रूर है, केवल वर्तमान के लिए; भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नही। श्रेय के लिए वह स्वय सब कुछ त्याग देता है और दूसरो से भी उसकी यही उपेक्षा है। चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर उसका रगमच से हट जाना उसके उदार लोकभाव का ही परि-चायक है। व्यक्ति को विश्वात्मक बनानेवाली यह लोकमंगलमयी करुणा स्वभावत उस सर्वलयी तथा सर्वात्मक शमभाव की सहयोगिनी है, जिसे दार्शनिको और साहित्य-मनी-षियों ने जीवन का चरम प्रासव्य कहा है।

करुणा का तत्त्व एक ओर भारतीय रसवर्ग मे करुणरस से जुडा हुआ है, और दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रमुख विवेच्य त्रासदी से। अरस्तू के मतानुसार त्रासदी मानव-जीवन के गंभीर, पूर्ण और विस्तृत कार्य व्यापार का अनुकीर्तन (Imitation) है। इसमें नाट्यकार ऐसी घटनाओ का सयोजन करता है जो करुणा और

भय के भावावेगो को उद्दीप्त करके उनका परिष्कार (Catharsis) करने में समर्थ हो। अरस्तू की यह स्थापना प्लेटो के इस विचार का प्रतिवाद और संशोधन करती है कि कवि, जिसमें नाट्यकार भी सम्मिलित है, अनुकृति की अनुकृति करते है, उनके विषय और उपकरण कल्पित होते है वे रागो के प्रति निवेदन करते है, आत्मा के निम्न और उच्छिष्ट अशो को उद्वेलित करते हुए उन्हे सपोषण-सम्बल देते है और इस प्रकार वे हमारी उन उच्छृखल एवं असन्तुलित भावनाओ को उद्दीप्त करते है जिनकी सामान्य जीवन मे वर्जना होनी चाहिए।

अरस्तू ने कहा कि कवि अथवा नाट्यकार भावावेगो का पोषण नही करता प्रत्युत् उन्हे उद्दीप्त करके उनका परिष्कार करता है। परवर्ती विचारको ने अरस्तू के 'केथार्सिस' की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की। किसी ने उसे ग्रीक चिकित्साशास्त्र के पारिभाषिक शब्द के रूप मे 'विरेचन' के अर्थ मे लिया (इग्रम बाइवाटर), किसी ने उसे भावावेगो का परिष्करण या पवित्रीकरण (Purification) माना (लेसिंग) और किसी ने उसे व्यक्तिगत करुणा और भय के उदात्तीकरण (Sublimation) के रूप में स्वीकार किया। कहना न होगा कि ये विविध व्याख्याएँ शब्द भेद से एक ही अर्थ की पुष्टि करती है। अरस्तू के इस परिष्करण-सिद्धान्त (Theory of Catharsis) के मूल म वह ग्रीक जीवन दर्शन है, जो चित्तवृत्तियो के निरोध की शिक्षा न देकर उनके सयत उपभोग के माध्यम से उन पर विजयी होना सिखाता है।

ग्रीक सस्कृति मे संयम और विलास के परस्पर-विरोधी आदर्शों का अद्भुत समन्वय मिलता है। एपोलो और डायनिशस-दोनो ही उनके पूज्य और आदर्श देवता है—एक कठोर संयम का प्रतीक है, दूसरा स्वच्छन्द विलास का। प्लेटो ने संयम का एकपक्षीय दृष्टिकोण अपनाया था, अरस्तू ने उसमे प्रवृत्तिगत लालित्य का अभिनिवेश करके एक समन्वित आदर्श प्रस्तुत किया। यह ऐतिहासिक दृष्टि से भी समीचीन था। प्राचीन यूनान में शराब के देवता डायोनियस अथवा बैकस की पूजा बडे आनन्दोल्लास से होती थी। यह पूजन-समारोह वन्सत के दिनो में हुआ करता था। इसी के कोरस या समूह गान से नाटक का जन्म हुआ। छठी शताब्दी ई० पू० में कैस्सिपस ने कोरस मे संवादो का समावेश किया था। 'ट्रैजेडी' का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'अज-गान' भी इस उत्सव से जुड़ा हुआ है, क्योकि इसमें बकरे की बलि दी जाती थी। इस उत्सव के पीछे यह विश्वास था कि इसके प्रभाव से विगत दोषों, कलंकों एवं पापों से मुक्ति मिलेगी और मृत्यु तक का दंशन समाप्त हो जायेगा। गिल्बर्ट मरे ठीक ही कहता है कि डायनिशस का यह पूजन-समारोह अपने आप में एक 'कैथार्मास' या 'कैथार्सिस' था। परिष्करण का यह विचार ग्रीक जीवन दर्शन में परिव्याप्त मिलेगा। नाटक के सन्दर्भ मे केवल त्रासदी ही नही, कामदी भी इस उद्देश्य की पूर्ति करती है। प्रॉकलस का कहना है कि ट्रैजेडी और कॉमेडी—दोनों ही उन मनोवेगो का विशुद्धीकरण करते हैं, जिनका न तो पूर्ण दमन

सभव है और न निरापद भोग । इन्हें अभिव्यक्ति के लिए सम्यक् सरणि चाहिए । नाटकीय प्रदर्शन उन्हे यह अवसर प्रदान करते है, जिससे एक लम्बे समय के लिए हम इनके तनाव से मुक्ति पा जाते है । अरस्तू का मौलिक अभिप्राय यही है । परिष्कार की इस स्थिति को दु ख-सुख के सामान्य वर्गों मे ऐकान्तिक रूप से नही रखा जा सकता । जीवन का अन्तिम उद्देश्य आनन्द की उपलब्धि है । परिष्करण-प्रक्रिया से प्राप्त होने वाला मानसिक आह्लाद इसी का कलात्मक प्रतिरूप है । मिल्टन की सुविख्यात त्रासदी 'सैम्सन एगानिस्ट्स' की अन्तिम पक्तियाँ यही कहती हैं—

His servants He with new acquist
Of true experience from this great event
With peace and consolation hath dismist
And calm of mind, all passion spent.

भारतीय रसशास्त्र में इस मानसिक आह्लाद का श्रेय करुण-रस को मिला है । त्रासदी के आधारभूत तत्व करुणा और त्रास इसमे विद्यमान रहते हैं । यो भी, ये दोनो सम्बद्ध मनोभाव है । करुणा के उदय के लिए व्यक्तिगत या सामाजिक त्रास अथवा वेदना की भूमि का होना अनिवार्य है । इष्टनाश अथवा अनिष्ट-प्राप्ति को करुणा रस का वस्तु-विषय माना गया है, जो निश्चयत. त्रासद स्थिति है । यह स्थिति त्रिधा बतायी गयी है— नियतिकृत, व्यक्तिकृत और आदर्शकृत । इसका चरम रूप मृत्यु है, किन्तु उसका घटित होना करुणरस की अवतारणा के लिए अनिवार्य नही । त्रासदी में भी मरण अनिवार्य नही कहा गया है । उसमे जीवन की विभीषिका के साक्षात्कार के लिए व्यापक परिस्थितियो का संयोजन और अनुकीर्तन होता है और यह साक्षात्कार करुणा और त्रास के विशिष्ट भाव जगाता है । इस प्रकार करुण रस को त्रासदी का सहधर्मी कहा जा सकता है । दोनो में समस्तरीय मानवीय मनोभाव अभिव्यक्ति पाते है । दोनो का ही सम्बन्ध जीवन के दु खात्मक और भयावह पक्ष से है और दोनो ही अन्त' चित्त का परिष्कार करते हैं ।

अभिनवगुप्त ने दार्शनिक आधार पर रसानुभूति को मानसिक विश्रान्ति की स्थिति बताया है । उन्होने 'शाकुन्तलम्' के 'ग्रीवाभंगाभिराम'....' श्लोक का हवाला देते हुए कहा है कि 'भयभीत मृग को देखकर प्रेक्षक को विघ्न-विनिर्मुक्त और विशेष सम्बन्धों से रहित करुणा और भय की अनुभूति होती है। विशुद्ध भावों की यह अनुभूति विश्रान्ति-जनक होती है । इसे ही मानसिक आह्लाद कहा जा सकता है । आनन्दवर्धन का मत है कि करुणरस से मन अधिकाधिक माधुर्य और आर्द्रता को प्राप्त होता है । मन की यही उदात्त स्थिति त्रासदी में 'केथार्सिस' के माध्यम से प्राप्त होती है । कहना न होगा कि प्रसाद ने शैवागमों के आधार पर जिस सामरस्यपरक रस-दर्शन की अवतारणा की है, उससे त्रासदी अथवा करुणरस के ये सिद्धान्त कुछ अधिक भिन्न नही, अन्तिम उद्देश्य को लेकर तो बिलकुल नही । सामरस्य मूलतः दर्शन और अध्यात्म-साधना की चीज है ।

प्रसाद ने उसे जीवन और साहित्य के स्तर पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया। अस्तु, उनके नाटको मे व्याप्त करुणा का तत्व एक ओर त्रासदी और करुणरस—पाश्चात्य और पौर्वात्य नाट्य-दृष्टियो के मेल मे है, दूसरी ओर वह रसानुभूति के व्यापक रूप-सामरस्य-का सम्पोषण करता है।

प्रसाद की विचार-दृष्टि उदार और समन्वयशील थी। प्रबल सास्कृतिक अभि-रुचि और तत्परक सदाग्रह रखते हुए भी उन्होने पश्चिम के महत्वपूर्ण विचारो की चर्चा की है और कई बार उन्हे अपनी कृतियो मे भी उभारा है। नाटक के प्रसग में उन्हे पश्चिम का परिष्करण-सिद्धान्त प्रिय था, किन्तु उसकी निराशवादिता उन्हे ठीक न लगी। वे लिखते हैं—'सामाजिक इतिहास मे, साहित्यसृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओ को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारो मे चरित्र निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा सँभाल पाया तो साहित्य ने सशोधन का काम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी। किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी वह दु ख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है।'

इस दु.खवाद और निराशा का निराकरण उन्हें भारतीय करुण-रस में मिला। भारतीय आर्यों को निराशा न थी। बौद्धिक स्तर पर उनके एक दल ने निश्चय ही ससार में सबसे बडे दु'ख-सिद्धान्त का प्रचार किया, किन्तु वह विशुद्ध दार्शनिक ही रहा। साहित्य में उसे स्वीकार नही किया गया। इसीलिए अपने यहाँ करुण-रस में दया और सहानुभूति से अधिक रसानुभूति देखी गयी। करुणा से सम्बन्धित इस पाश्चात्य-पौर्वात्य दृष्टि भेद के पीछे उनके अपने जातीय इतिहास है। ग्रीक और रोमन लोगो को भाग्य और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखात्मक स्थितियो से सतत सघर्ष करना पड़ा था, अत. उन्होने इस जीवन को ट्रैजेडी ही मान लिया। अपने घर में सुव्यवस्थित रहने वाले भारतीय आर्यो के सामने स्थापित और प्रतिष्ठित होने की वैसी समस्याएँ नही थी, अतः उन्होने प्रत्येक भावना में अभेद निर्विकार आनन्द लेने मे अधिक सुख माना। यही कारण है कि त्रासदी मे कथानक की जटिलता और कार्य-व्यापार पर कही अधिक ध्यान दिया गया है। ब्रुनेटियर ने कार्य-व्यापार को सघर्ष का समशील माना। आर्कर इसे चरमसीमा के रूप में देखता है। रोमानी त्रासदी में इस कार्य-व्यापार को मनोजगत् में भी प्रसरित होना पडता है। आगे चलकर आभ्यन्तर कार्य-व्यापार ही प्रधान हो गया है। मेटरलिंक तथा बर्नर्डशा के नाटको में बाह्य व्यापार का घोर विरोध मिलता है। प्रसाद ने कार्य-व्यापार के इस महत्व को समझा था। करुण की रसात्मकता और भारतीय आनन्दवाद को स्वीकार करते हुए उन्होने अपनी नाटकीय सरचना में विरोध और संघर्ष को प्रमुखता दी। यह कार्य-व्यापार जटिल है और दुहरा भी। आभ्यन्तर सघर्ष को उन्होने कम

शेष सभी नाटको मे त्रास का परिहार मिलेगा। कहना न होगा कि यह परिहार रसानुभूति विषयक आनन्दवादी धारणा का ही एक सहज परिणाम है।

करुणा अपने उदात्त रूप में शम की सहयोगिनी बनकर आनन्दात्मक रसानुभूति का घटक बन सकती है, किन्तु त्रास के लिए वैसा नही। प्रसंगतः इतना और कह देना अनुचित न होगा कि त्रासदी में त्रास की अनिवार्य स्थिति मानते हुए भी उसके समग्र प्रभाव को आनन्दात्मक ही कहा गया है। डेविड ह्यूम का कहना है कि त्रासदी का अभिनय आत्मा मे प्रबल उद्वेग उत्पन्न करता है, जो कि समग्रत. आनन्दपूर्ण होता है (A strong movement which is altogether delightful)। हेगल उसमें नैतिक-बोध की उपलब्धि का स्थायी आनन्द देखता है। नीत्शे का मत है कि त्रासदी एक उत्कृष्ट कला है जो जीवन में आस्था उत्पन्न करती है। उसमे हम अनिवार्य युद्ध और द्वन्द्व पाते हैं, किन्तु उनकी वास्तविक पीडा से हम मुक्त रहते है।

प्रख्यात समीक्षक रिचर्ड्स का मनोभाव-सामरस्य (Harmony of Impulses) भी इसी विचार का पोषक है। इसके अनुसार त्रासद प्रक्रियाएं द्वन्द्व और संघर्ष के मध्य विश्रान्ति, सन्तुलन और स्वस्थता को जन्म देती है। विरोध भावो को उद्दीप्त करके उन्हे शान्त और समरस बनाने के लिए त्रासदी एक अन्यतम साहित्य-विधा है। लूकस ने जिज्ञासा की मनोवृत्ति के आधार पर इसमे भावभुक्ति का आनन्द देखा है। इस प्रकार त्रासदी का समग्र प्रभाव आनन्दात्मक ही माना गया है। कतिपय विचारक अवश्य ऐसे है जो त्रासदी के प्रभाव को दु खात्मक मानते है जैसे रूसो और शॉपेनहार, किन्तु उनके विचार व्यापक रूप मे स्वीकृति नही पा सके। अपने यहाँ इसी प्रकार करुणरस को रामचन्द्र-गुणचन्द्र, रुद्रभट्ट जैसे कुछ आचार्यों ने दु खात्मक बताया था और वे भी स्वीकृत नही हुए थे। अत त्रासदी-सिद्धान्त प्रसाद की रसानुभूति विषयक अवधारणा से साम्य रखता है, कम से कम विरोधी तो बिलकुल नही है।

सामरस्य-सिद्धान्त के आधार पर प्रसाद ने त्रासदी की अनेक विशिष्टताओं को अपने नाटको मे स्थान दिया है। ये नवीनताएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रसानुभूति को प्रभावित करती हैं और रस-सम्बन्धी पुरातन धारणा पर आघात करती है। प्रसाद इस व्याघात को समझते थे और उन्होंने ऐसा रस-दृष्टि को युगानुरूप बनाने के लिए ही किया है। इसे हम अंगागि-सम्बन्ध वाले एकतान प्रभाव के विघटन की प्रक्रिया भी कह सकते है और नवीन सामरस्य मूलक रसानुभूति का स्थापक भी। बहुधा उनके नाटको में रस एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करते हुए मिलेंगे; अधिकतर करुण और शान्त प्रहारक की भूमिका निभाते रहे है क्योंकि परिणति में उन्हे ही उभरकर सामने आना था। इस विषय में प्रसाद का स्पष्ट मत है कि रस मे फलयोग अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है और बीच के भावों में उसे खोजना उसे छिन्न-भिन्न कर देना है।

मध्यवर्ती व्यापार संचारी भावो के प्रतीक है और मुख्य रसवस्तु के सहायक मात्र

हैं। यह रसानुभूति निम्नकोटि की नही कही जा सकती, क्योकि इससे मुख्य रस का आनन्द बढता है । अन्वय और व्यतिरेक—दोनो प्रकार से वस्तुनिर्देश किया जाता है। इस प्रकार वे यथार्थवादी नाटको की परम्परा के भावात्मक घात-प्रतिघात को व्यतिरेक-पद्धति के रूप में स्वीकार कर लेते है। यही कारण है कि 'ध्रुवस्वामिनी' मे वीर और शृंगार का घात-प्रतिघात चलता रहता है और अन्त मे किसी की भी पूर्ण सिद्धि नही होती । प्रकटत चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के लक्ष्य पूरे होते है किन्तु क्या अन्त में 'उत्साह' अथवा 'रति' की अनुभूति शेष रह जाती है ? निश्चयत नही। जो बच रहता है, वह करुणात्मक शम से कुछ अधिक भिन्न नही। ध्रुवस्वामिनी द्वारा रामगुप्त का विरोध औचित्यपूर्ण अवश्य है, किन्तु अन्तत रामगुप्त की मृत्यु से प्रेक्षक को कोई विशेष सुख नही होता—पुरातन सस्कार बाधक हो ही जाता है। ध्रुवस्वामिनी के प्रति भी हम अन्त तक सहानुभूतिशील बने रहते है—रामगुप्त के मरने पर भी। कुल मिलाकर स्थितियो की विडम्बना प्रधान हो जाती है। इसे मानव-जीवन की त्रासद विभीषिका ही कह सकते है। 'कामना' में अन्तत नायिका का मोहभग भी इसी कोटि के प्रभाव की सृष्टि करता है। शृगार, वीर और वीभत्स के मनोभाव बीच मे उद्बुद्ध और उद्दीप्त होते है, किन्तु अन्त में यह सारा उपप्लव ठंडा पड जाता है और वह वैचारिक भावना प्रधान हो जाती है, जो विवेक, सन्तोष और करुणा के माध्यम से आरम्भ से ही पक्ष अथवा प्रतिपक्ष के रूप मे चली आ रही थी। 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य की आसक्तिहीन कूटबुद्धि नायक की वीरता पर अन्त तक छायी रहती है । शृंगार को भी वह कल्याणी और मालविका की मृत्यु के द्वारा आहत करती है। अजातशत्रु की वीरता पर कुचक्र, स्वार्थबुद्धि और अविवेक का आवरण पड़ा रहता है।

व्यतिरेक-पद्धति की दूसरी प्रक्रिया व्यक्तिवैचित्र्यमूलक है और यह भी यथार्थवादी धारा की देन है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'स्कन्दगुप्त' है, जिसमे नायक का एक साथ शम, उत्साह और रति का आश्रय बना रहता है। प्रवृत्तिगत द्वन्द्व इस नायक की नायिका देवसेना मे देखा जा सकता है। प्रणय और स्वाभिमान का ऐसा द्वन्द्व कदाचित् हिन्दी-नाटको मे अन्यत्र न मिलेगा। यदि दोनो के आश्रय भिन्न होते, तो नाटक करुण-शमान्त न होकर वीर या शृंगारप्रधान होता। ऐसा न होने के कारण ट्रैजिक अन्त अपरिहार्य था। चाहे तो इसे सर्वगुण सम्पन्न त्रासदी-नायको का 'ट्रैजिक एरर' या 'एमोप्टिया' मान सकते है। स्कन्द मे उसकी विरक्ति मूलक उदासीनता और देवसेना में अतिशय स्वाभिमान ट्रैजिक चरित्र-दोष के रूप में देखे जा सकते है। विजया की महत्वप्रियता उसे ले डूबती है। अन्य नाटकों के प्रमुख पात्रो मे भी यह दोष प्रधान या अप्रधान रूप मे विद्यमान है। 'चन्द्रगुप्त' मे पर्वतेश्वर का दंभ, मालविका की अतिशय अच्छाई तथा कल्याणी का व्यक्तिगत स्वाभिमान ट्रैजिक चरित्र दोष ही है, जो उन्हे विनाश तक ले जाते है। प्रसाद ने अधिकतर इस चरित्र दोष का परिणाम दुःखभोग दिखाया है। 'अजातशत्रु' मे बिम्बसार

और प्रसेनजित अपने राज्यमोह के कारण प्रताडित होते हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे नायक अपनी क्रोधान्धता और क्रूरता के कारण अनेक बार अवमानना सहता है। 'विशाख' का नरदेव भी जनमेजय की कोटि का है। इसे प्रसाद की समन्वयशील और सद्ग्रहण-वृत्ति का ही निर्दशन मानना होगा।

यथार्थवादी त्रासदियो की प्रमुख चारित्रिक विशेषता उन्हे प्रिय लगी और उसे उन्होने अपनाया, किन्तु उसका प्रयोग अपने ढग से किया। नियतितत्व का अभिनिवेश भी उनकी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है, जो व्यतिरेक-पद्धति का एक शक्तिशाली उपकरण है। अपने यहाँ शैवागमो मे प्रमुखत और गौणत. बौद्धमत मे नियति की अवधारणा विद्यमान है और प्रसाद ने इसे वही से लिया भी है। इसे सयोग ही कहेगे कि त्रासदी के साथ भी यह नियति अनिवार्यत' जुडी हुई है। पाश्चात्य नाटको के उद्गमस्थल यूनान मे यह आम धारणा थी कि मनुष्य नियति का दास है और अतिशय प्रयत्न करने पर भी वह उसके पजो से छुटकारा नही पा सकता। यह विश्व-शक्ति देवताओ तक का नियत्रण करती है। इसके द्वारा कर्म और परिणाम पूर्व-निश्चित कर दिये जाते हैं और अपने लक्ष्य-निर्वाह मे यह किसी के भी प्रति दया-माया नही दिखाती। कही यह 'दैवी ओरेकल' भविष्यवाणी-के रूप मे लक्षित होती है, कही अन्ध होकर मनचाहा शुभाशुभ फल देने वाली और सयोगो आकस्मिकताओं की सृष्टि करने वाली भाग्यदेवी के रूप मे प्रकट होती है, कही अति के प्रति प्रतिकारशीला 'नेमिसिस' के रूप में मानवो को दण्डित करती है। और कही उभयधा व्यंग्योक्ति—आइरनी—के रूप में मानव-शक्ति का मखौल उडाती है।

प्रसाद के नाटको में नियति का रूप प्राय इसी प्रकार का है। आधार रूप मे उन्होने शैवागमो से इसे ग्रहण किया था, किन्तु नाटकीय प्रयोगो में यह सम्भावत त्रासदी की धारणाओ से समरूप होती गयी है। समस्त नाट्यकृतियो मे यह तत्व मिलेगा। कही-कही तो इसे अतिरिक्त महत्व दे दिया गया है जैसे 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे। पराक्रमी जनमेजय बराबर इस विचार से ग्रस्त रहता है कि मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। नियति-तत्व की प्रधानता मानवीय शक्ति का महत्व कम कर देती है और वह कठपुतली जैसा हो जाता है। नायक अथवा किसी भी अन्य नाटकीय चरित्र की यह परवश कार्यशीलता रसानुभूति को भी प्रभावित करती है। यदि सब कुछ नियति की ही प्रेरणा से हो रहा है, तो मानव के सारे भाव प्रदर्शन-रूप अथवा अवास्तविक अभिनय मात्र है। यही कारण है कि 'नागयज्ञ' मे वीररस अपेक्षाकृत अधिक दबा हुआ है। अन्य नाटको मे भी यह इसी प्रकार मानवीय कर्तृत्व का नियन्त्रण करती रही है। चन्द्रगुप्त में चाणक्य के हृदय पर भारत की नियति जलद-पटल में बिजली के समान कौंधती रहती है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार को प्रत्येक असम्भावित घटना के मूल मे इसी का बवडर दिखायी देता है—जल में भँवर के रूप में, स्थल में वात्याचक्र, राज्य में विप्लव, समाज

मे उच्छृङ्खलता और धर्म मे पाप के रूप में। कर्मठ जीवक इस नियति की डोरी पकडकर निर्भय कर्मकूप मे कूदने को तत्पर रहता है। इस नाटक मे 'नेमिसिस' और 'आइरनी' का रूप भी विद्यमान है। समुद्रदत्त इस आइरनी का ही शिकार बनकर नष्ट हो जाता है। बिम्बसार को इसके 'नेमिसिस' रूप का अनुभव तब होता है, जब वे कहते है कि प्रकृति दभी मानव को अन्धकार की गुफा मे ले जाकर उसके रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती रहती है और वह फिर भी राह पर नही आता। 'चन्द्रगुप्त' मे दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी दैवी ओरेकल का ही एक रूप है। पूर्वाभास को इसी का एक विशिष्ट रूप कह सकते है, जिसका इस नाटक मे बाहुल्य है।

सयोगतत्व तो प्रसाद के नाटको का सर्वसामान्यतत्व है, विशेषकर परवर्ती नाटको का। उनके जटिल और वृहत् कथानको के निर्वहरण के लिए इसकी विशेष आवश्यकता पडी है।। 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य ठीक उसी समय पहुँच जाता है, जब पर्वतेश्वर आत्म-हत्या करने जा रहा है। राक्षस भी ठीक वक्त पर पहुँचकर सुवासिनी को नन्द की कामुकता का शिकार होने से बचा लेता है। चीते से कल्याणी और चन्द्रगुप्त की रक्षा भी अकस्मात् होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' मे चन्द्रगुप्त ऐन मौके पर पहुँचकर ध्रुवस्वामिनी को आत्महत्या से विरत करता है। निश्चय ही सयोगतत्व के ये रूप त्रासदी के दुर्वि-सयोगो से अलग पड जाते है, क्योकि वहाँ समस्त विडम्बना विषमता—आकस्मिक या कि स्वाभाविक-नायक के प्रति होती है। प्रसाद के नाटको में इसका रूप सामान्य है और इसका फलाफल किसी को भी भोगना पड सकता है। इसका कारण यही है कि प्रसाद त्रासदी का अन्धानुकरण नही करना चाहते थे। उन्हें तो समस्त नाटकीय संविधान की समरसता की ओर मोडना था, अत. उन्होने रसानुभूति के सन्दर्भ मे व्यतिरेक की व्यापक पद्धति अपनायी, जो बहुत कुछ त्रासदी की मान्यताओ से मिलती-जुलती है और उनसे प्रेरित-पोषित होती है।

प्रसाद प्रबुद्ध साहित्यस्रष्टा थे। उनकी मनीषा गहन और व्यापक थी। अपने श के प्रति सास्कृतिक आग्रह और अभिरुचि रखते हुए भी उन्होने अन्यदेशीय विचारों तथा समसामयिक प्रवृत्तियों की अवहेलना नही की। ऐसा वे कर भी नही सकते थे, क्योकि संतुलन और सामजस्य उनका प्रकृतिगत वैशिष्ट्य था। यही कारण है कि सभी विधाओं में उनका कृतित्व अपनी मौलिक विशिष्टता के कारण अलग दिखायी पडता है और नये युग का प्रवर्तन करता है। नाट्य-क्षेत्र में उन्हे पाश्चात्य त्रासदी विषयक धारणाओ, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो एवं यथार्थवादी विचारों ने आकर्षित किया था। जीवन के वैविध्य, वैचित्र्य और सघर्ष की वास्तविकता के प्रति वे संवेदनशील थे। अतः या तो वे परम्परागत रसदृष्टि का अनुसरण नही कर पाये, या फिर उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टि का ही परिचय दिया। सैद्धान्तिक स्तर पर उन्होने रसवाद का समर्थन किया अवश्य है, किन्तु उसे एक दार्शनिक मोड देते हुए। प्रकृत रूप में उसकी यथावत

साहित्यिक अवतारणा उनके उदार संवेदन के अनुरूप नही पडती थी। परम्परागत नाट्य-सविधान, सन्धियो, अर्थप्रकृतियो और कार्यावस्थाओ के सम्यक् सयोजन पर आधृत था और उसी पर रसो की निष्पत्ति निर्भर थी। पाश्चात्य नाट्य-दृष्टि के अभिनिवेश के कारण जहाँ इन तत्वों में विघटन हुआ, वहाँ रसानुभूति भी प्रभावित हुई। ऐतिहासिक वस्तुविषय के साथ वैसे भी रस-दृष्टि को यथावत् रहने में असुविधा होती है।

प्रसाद के नाटक तो इसके साथ-साथ स्वच्छन्दतावादी भी है। शेक्सपीयर ने स्वच्छन्दतावादी त्रासदियो का रूप खडा किया था। आगे चलकर गेटे और शिलर ने ऐतिहासिक स्वच्छन्दतावादी त्रासदी की उद्भावना की। इसमे पात्र इतिहास से चुने हुए होते हैं और उनके माध्यम से देश के तत्कालीन राष्ट्रीय, राजनैतिक व सामाजिक संघषो को अभिव्यजित किया जाता है। प्रसिद्ध विचारक वॉन का कहना है कि गेटे और शिलर द्वारा उद्भावित ऐतिहासिक नाटक एक नया क्षितिज खोलते है, जो अपनी नव्यता मे नाटक के इतिहास को पीछे छोड देता है। प्रसाद की भी नाट्य-कृतियो ने अपनी नवीनता से हिन्दी-नाटक के इतिहास मे एक नया अध्याय जोडा था और वे अपनी निजी विशेषता के साथ इस नाट्यवर्ग मे रखी भी जा सकती हैं। वही तीव्रता और उग्रता (Voielence), वही कर्मशील संघर्ष, वही चरित्र-चित्रण की केन्द्रीयता, वही सम्यगनुबन्धि से मुक्ति, वही अलकृत भाषा व ललित शैली और वही समग्र प्रभाव का गम्भीर आह्लाद इनमे भी मिलेगा, जो ऐतिहासिक स्वच्छन्दतावादी त्रासदियो में मिलता है। परवर्ती रूपक 'एक घूंट' अवश्य अपने सामान्य चरित्र, सामान्य घटना, वैचारिक द्वन्द्व, व्यक्ति और समाज के घात-प्रतिघात और रगमचीय सरलता व प्राकृतिकता के कारण यथार्थवादी वर्ग में रखा जा सकता है। शेष सारे नाटक पूर्वोक्त वर्ग की ही विशेषताओ से युक्त है और उनकी रसानुभूति भी तदनुरुप समग्र प्रभाववाद से भावित है। प्रसाद की अद्वैतपरक आनन्दवादी निष्ठा सिद्धान्त के स्तर पर उसे सामरस्य के रूप मे स्वीकार करती है, जिसका रसवर्गीय आधार करुणामूलक उदात्त शम है। भारतीय रस-सिद्धान्त की यह एक नवीन उपलब्धि कही जा सकती है, जिसका विश्लेषण और प्रवर्तन प्रसाद ने ही किया था। आज उनकी स्थापना भले ही पुरानी लगे, किन्तु अद्यतन यथार्थपरक रंग-संरचना का आरम्भ उन्ही से मानना होगा।

संवाद, भाषा और अभिनय

सवाद नाटक का एकमात्र शैलीगत वैशिष्ट्य है जो उसे अन्य साहित्य-विधाओं से पृथक् करता है। माध्यम की यही विशेषता नाट्यानुभूति की वर्तमानता को चरितार्थ करती है और उसे मचीय योग्यता प्रदान करती है। नाटक का कथ्य सवादात्मक होता है अतः अपने यहाँ नाट्यवृत्त और कथोपकथन को अभिन्न मानते हुए उसे बहुधा 'पाठ्य' शब्द से विवक्षित किया गया। प्लेटो के अनुसार काव्य वर्णनात्मक और अभिनयात्मक दोनो ही है। जहाँ कवि स्वय अपने शब्दो मे वर्णन करता है वहाँ वर्णनात्मक और जहाँ कथोपकथन उपन्यस्त करता है, वहाँ अभिनयात्मक।' यो, मूक अभिनय भी नाट्य-कला का ही एक रूप है किन्तु वह कला ही है, साहित्य नही। साहित्य के वर्ग मे आने के लिए भाषिक माध्यम का होना अनिवार्य है। नाटक का भाषिक माध्यम संवाद है और उसकी यह आधारभूत महत्ता उसके समक्ष सभी बडे दायित्वो के आयाम उद्घाटित कर देती है जिनके निर्वाह के प्रति उसे इतना प्रतिबद्ध होना पडता है कि वही उसके अस्तित्व की सार्थकता या अर्थवत्ता बन जाता है। इस गुरु दायित्व के प्रमुख घटक हैं—कथानक, चरित्र और रस। सवाद को यदि नाट्य पुरुष का शरीर कहे तो कथानक, चरित्र और रस उसके प्राण, प्रकृति एव आत्मा हैं। शरीर की ही भाँति संवाद का यह दायित्व हो जाता है कि वह उन्हे रूपायित करे, सक्रियता दे और अनुभूय बनाये। साथ ही उसे अपने इस मूल धर्म का भी निर्वाह करना होगा कि वह वास्तविक और स्वाभाविक लगे। निश्चय ही संवाद-रचना नाटककार की प्रतिभा की कसौटी है।

कथावस्तु के सन्दर्भ मे सवादों का दायित्व यह है कि वे उसे व्यवस्थित रूप में सानुक्रम, पूर्वदीप्ति अथवा सूच्य की पद्धति पर प्रस्तुत करें और उसके विकास के सूत्रो का विनियोजन करते रहे। सानुक्रम-प्रस्तुतीकरण का वैशिष्ट्य यह है कि सवादो के माध्यम से कथा आगे बढती रहे, उसमे अवरोध न आने पाये। प्रसाद के नाटको में प्रासगिक वृत्तो का आधिक्य होने के कारण इस विशेषता का दुहरे स्तर पर निर्वाह मिलेगा। वे मुख्य उपकथा को आधिकारिक वृत्त के समानान्तर अथवा साथ-साथ उप-स्थापित करते रहे है। समानान्तर प्रस्तुतीकरण मे अधिकतर दृश्यान्तर की पद्धति अपनायी जाती रही है, अत. इसमे सवादो का निजी गुण उनका वृत्तबद्ध होना है। 'अजातशत्रु' मे अजात, विम्बसार, छलना, वासवी आदि के संवाद मुख्य कथा को प्रस्तुत करते हैं और मल्लिका, महामाया, बन्धुल आदि के सवाद उपकथा को। दोनों की रचना प्रकृति में विभेद मिलेगा, जिसका आधार कथाओं का प्रकृति-भेद है। 'स्कन्दगुप्त' मे इसी

प्रकार स्कन्द, देवसेना और विजया के वृत्तो का विभेद उनकी सवादीय प्रकृति मे देखा जा सकता है। उपकथा जब मूल वृत्त से जुडती है तब सवादो की भूमिका विशेष महत्व-पूर्ण हो उठती है। 'स्कन्दगुप्त' के प्रथम दृश्य मे मालव-दूत से स्कन्द की वार्ता इसका एक अच्छा उदाहरण है। स्कन्द का उससे यह कहना 'जाओ निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड सकेगा' प्रासगिक कथा को मुख्य कथा से जोडने वाला है। तीसरे अक के पहले दृश्य मे देवसेना और विजया के संवाद दोनो की कथादिशाओ के परिवर्तन की पुष्टि करते हैं।

पूर्वदीप्ति की दो शैलियाँ है। नाटककार पूर्वघटित वृत्तसूत्रो को सहज कथोपकथनो की त्वरा के द्वारा भी प्रस्तुत करता है और एकाकी स्मरण के रूप मे भी। अधिकतर प्रसाद ने प्रथम पद्धति अपनायी है। प्राय प्रत्येक नाटक का पहला दृश्य पूर्ववृत्त को प्रमुख पात्रो के सवादो के माध्यम से प्रस्तुत कर देता है। 'चन्द्रगुप्त' का पहला दृश्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। 'अजातशत्रु' मे भी पारिवारिक कलह की पृष्ठभूमि पहले ही दृश्य की बहस मे भलीभाँति उजागर हो गयी है। एकाकी स्मरण मे स्वगत अथवा आकाशभाषित जैसी शैली होती है। 'स्कन्दगुप्त' मे मातृगुप्त का अपने पूर्व प्रेम और काश्मीर का स्मरण ऐसा ही है। 'अजातशत्रु' मे इसी प्रकार मागन्धी और श्यामा अपने पूर्वजीवन का स्मरण करती हुई उसे वर्तमान से जोडती है। 'ध्रुवस्वामिनी' का आरम्भ हो प्रमुख पात्र के आत्मचिन्तन से होता है। कहना न होगा कि वृत्त को प्रस्तुत करने मे वार्तालाप की ही पद्धति अधिक नाटकीय और औचित्यपूर्ण ठहरती है और, प्रसाद ने अधिकतर उसी का आश्रय लिया है।

सूचनात्मक सवाद प्राय निर्जीव होते हैं क्योकि वे प्रत्यक्ष वर्तमान के संवाहक न होकर उसकी पृष्ठभूमि से जुडे रहते हैं। प्रसाद के नाटको मे प्राय: ही ऐसे दृश्यो की योजना मिलेगी, जिनमे साधारण अथवा मध्यम नाट्य-स्तर के चरित्र अपने वार्तालाप मे कथा के अनभिनेय भाग की सूचना देते हैं। 'स्कन्दगुप्त' के प्रथमाक के तीसरे दृश्य में मातृगुप्त, मुद्गल और कुमार दास के सवाद ऐसे ही हैं। 'नागयज्ञ' और 'चन्द्रगुप्त' मे इस प्रकार के सवादो की अधिकता है। जहाँ सूच्य वर्तमान मे से स्वत: उभर आता है, वहाँ सवाद की विशेष सफलता कही जायेगी। 'अजातशत्रु' मे विरुद्धक का बन्धुल से सहसा यह कहना कि वही दस्यु शैलेन्द्र है—नाटककार के सवाद-शिल्प का एक अच्छा उदाहरण है।

कथानक को आगे बढाना भी सवादो का एक महत्वपूर्ण दायित्व है। यों तो नाटक की समूची कथा ही सवादों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है, किन्तु नाटककार की विशेष योग्यता का परिचय तब मिलता है जब कथोपकथन की प्रकृति ही ऐसी हो कि वृत्त-सूत्रो मे गत्यात्मक सक्रियता बनी रहे। 'ध्रुवस्वामिनी' मे रामगुप्त, ध्रुव-स्वामिनी और चन्द्रगुप्त के सवाद ऐसे ही हैं। उनकी बातचीत से समस्या उलझती

ही जाती है, जोकि नाटककार का अभीष्ट है। इसी प्रकार 'अजातशत्रु' मे विम्बसार जितना ही छलना को समझाने का प्रयास करते है, वह उतनी ही उग्रतर होती चली जाती है। 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य के नन्द और पर्वतेश्वर से सवाद इसी कोटि के है। सयोजनात्मक विकास 'चन्द्रगुप्त' मे अलका और मालविका, अलका और सिंहरण तथा अलका और पर्वतेश्वर के कथोपकथनो मे देखा जा सकता है। 'अजातशत्रु' मे श्यामा और शैलेन्द्र की साँठ-गाँठ भी ऐसी ही है। 'स्कन्दगुप्त' मे अनन्तदेवी और भटार्क या कि भटार्क, प्रपचबुद्धि और शर्वनाग के संवाद सयोजक विकास का प्रभावशाली रूप प्रस्तुत करते हैं। पूर्वाभासी सवाद भी भावी वृत्त की ओर सकेत देकर अपने ढग से कथानक की प्रगति में योग देते है। 'अजातशत्रु' मे श्यामा की हत्या के पहले उसका भयानक स्वप्न देखना, शीतल पेय को विष समझना और शैलेन्द्र से धोखा न देने की बात कहना—पूर्वाभासी कथोपकथन का एक अच्छा स्थल है। 'चन्द्रगुप्त' मे तो दाड्यायन की भविष्यवाणी नाटक का अन्तिम सत्य बन गयी है। 'स्कन्दगुप्त' मे सम्राट कुमारगुप्त की हत्या के पूर्व सैनिक का शर्वनाग से अर्धविक्षिप्त जैसा वार्तालाप आसन्न विभीषिका का अच्छा पूर्वाभास दे देता है।

चरित्र-व्यजकता सवाद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सहजतम भूमिका है। पात्रो की उक्तियाँ उनके व्यक्तित्व का वास्तविक परिचय देती है, क्योकि वे जीवन और जगत की वस्तुस्थितियो के प्रति उनकी सहज प्रतिक्रियाओ का सम्प्रेषण करती है। 'स्कन्दगुप्त' का पहला ही वाक्य—'अधिकारसुख कितना मादक और सारहीन है' कथानायक की मूल वृत्ति को उरेह देता है। अजातशत्रु की उग्र उद्धत प्रकृति का परिचय उसके एक ही वाक्य से मिल जाता है—'राजकर मैं न दूँगा'—यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यो न निकाल ली गयी ?' छलना भी अपनी बर्बर हिंसकता एक ही वाक्य मे अनावृत कर देती है—'मेरी धमनियो मे लिच्छिवी-रक्त बडी शीघ्रता से दौडता है।' 'चन्द्रगुप्त' के नायक का अजेय साहस और आत्म-विश्वास कितने सजीव शब्दों मे व्यक्त हुआ है—'अदृष्ट। खेल न करना। चन्द्रगुप्त मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है। विजय मेरे चिर सहचर।' सवाद के बीच अन्य पात्रो की उक्तियो से मुखर होनेवाली चरित्र-व्यजकता का श्रेष्ठतम उदाहरण चाणक्य के प्रति कात्यायन की इस उक्ति मे देखा जा सकता है—'हँसो मत चाणक्य। तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है।' विचारक और दार्शनिक कोटि के पात्रों का व्यक्तित्व उनके व्याख्यानो अथवा व्याख्यानात्मक स्वगतो के माध्यम से प्रकट हुआ है, जो नाटकीय दृष्टि से उतने चुस्त-दुरुस्त न होने पर भी चारित्रिक परिचय देते ही है। त्वरापूर्ण और नाटकीय चारित्र-व्यंजकता साहसी कर्मठ राष्ट्रवीरों तथा उनके प्रचण्ड प्रतिपक्षियो के सवादो मे देखी जा सकती है। 'स्कन्दगुप्त' में अनन्तदेवी और विजया का वार्तालाप इसका एक सुन्दर

उदाहरण है । 'ध्रुवस्वामिनी' मे ध्रुवा और रामगुप्त, शकराज और चन्द्रगुप्त के संवाद भी इस दृष्टि से अच्छे बन पडे हैं । पथभ्रष्ट पात्रो के अवचेतन की श्रेष्ठता का भी परिचय देने मे प्रसाद की सवाद योजना बडी सफल है । 'स्कन्दगुप्त' मे पृथ्वी-सेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक के आत्मघात कर लेने पर पुरगुप्त प्रसन्न होता है, किन्तु उसके षड्यन्त्र का प्रमुख अस्त्र भटार्क सहसा ही कह उठता है—'परन्तु भूल हुई । ऐसे स्वामिभक्त सेवक ।' भटार्क की यह उक्ति उसके भीतरी सत्य को बिजली की चमक के समान क्षण भर के लिए प्रकाशित कर जाती है । स्कन्दगुप्त द्वारा क्षमा कर दिए जाने पर भी उसकी ग्लानि उसके प्रसुप्त अन्त: सत्व का परिचय देती है, जब वह प्रपच बुद्धि से कहता है—'मुझे अपमानित करके क्षमा किया । मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया । 'शर्वनाग की भी वास्तविक प्रकृति इसी प्रकार उसके इन शब्दो मे प्रकट हुई है—'नापतौल मै नही जानता, मुझे शत्रु दिखा दो । मै भूखे भेडिये की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यो न मारा जाऊँ परन्तु निरीह हत्या—यह मुझसे नही ...... ।'

प्रतिगामी चरित्र-व्यजकता भी प्रसाद के नाटको मे बडे सुन्दर रूप मे विद्य-मान है । इसका रूप 'आयरनी' जैसा है जिसमे दूसरे के लिए कही गई कोई बात अपने ही पर घटित होती है । 'स्कन्दगुप्त' मे प्रपचबुद्धि अपनी विफलता पर सिर धुनते हुए कहता है—'इस दुरात्मा स्कन्दगुप्त ने मेरी आशाओ के भन्डार पर अर्गला लगा दी ।' इसमे प्रतिगामी व्यजना यह है कि कहने वाला स्वय दुरात्मा है -स्कन्द नही । यही प्रपंचबुद्धि अन्यत्र शर्वनाग के यह पूछने पर कि वह कौन सा धर्म है जिसकी हत्या हो रही है, कहता है—'यही हत्या रोकना, अहिंसा, गौतम का धर्म है । यज्ञ की बलियो को रोकना, करुणा सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रसार करना ।' कथन की विडम्बना यह है कि हत्या रोकने के नाम पर वह नरबलि का आयोजन कर रहा है । कुछ इसी प्रकार की स्थितिपरक चरित्र-व्यंजना 'अजातशत्रु' मे समुद्रदत्त और श्यामा के प्रकरण मे है । समुद्रदत्त को श्यामा के प्रति यह धूर्तता भरी औप-चारिकता 'तुम्हारे लिए यह प्राण प्रस्तुत है'—उसके लिए बडी महँगी पडती है, क्योकि वह अक्षरश घटित हो जाती है । श्यामा और शैलेन्द्र के प्रसंग मे भी प्रसाद ने यही शैली अपनाई है । श्यामा का शैलेन्द्र से यह कहना 'तुम मुझे धोखा तो नहीं दोगे'—उसके जीवन की विडम्बना और विरुद्धक की अविश्वसनीयता को व्यजित करते हैं क्योकि उसी समय उसकी हत्या कर दी जाने वाली है । 'कामना' के तृतीयाक मे क्रूर, दुरवृत्त, प्रमदा और दम्भ के सवाद इसी पद्धति पर रचे गये है, जिनसे उ की मौलिक दुष्प्रवृत्तियो का परिचय मिलता है ।

रसात्मकता तो प्रसाद के नाटकीय संवादो का निजी गुण हैं । उनके कवि-मन की आकाँक्षा नाटको मे मुख्यत. रस-व्यजना के रूप मे चरितार्थ हो सकती थी, अतः

सवादो मे उन्होने अपेक्षित भावमयता का समावेश किया हे। वीर-रस की भूमिका प्राय सर्वत्र प्रधान है। पात्रीय कथन से व्यंजित होनेवाली वीरता के स्थल 'स्कन्दगुप्त' (स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा, पर्णदत्त, चक्रपालित) तथा 'चन्द्रगुप्त' (चन्द्रगुप्त, सिंहरण, पर्वतेश्वर) मे सर्वाधिक हैं और बडे ही प्रभावशाली हैं। वार्तालाप के त्वरापूर्ण घात-प्रतिघात से भी प्रसाद ने वीररस की प्रभावपूर्ण व्यजना की है। नाटकीय सजीवता की दृष्टि से सवादो की यह पद्यति विशेष प्रयोजनीय है और प्रसाद ने अधिकतर इसे ही अपनाया है। कुछ स्थल देखे जा सकते है —

'सिकन्दर—(आश्चर्य और क्रोध से) सिल्यूकस!

चन्द्रगुप्त—सिल्यूकस नही, चन्द्रगुप्त से कहने की बात चन्द्रगुप्त से कहनी चाहिए।' (चन्द्रगुप्तः द्विवतीयाक)

'फिलिप्स—सन्धि राष्ट्र की है। यह मेरी व्यक्तिगत बात है। अच्छा, फिर कभी मैं तुम्हे आह्वान करूगा।'

चन्द्रगुप्त—आधी रात, पिछले पहर, जब तुम्हारी इच्छा हो।' (चन्द्रगुप्त : तृतीयाक)

'शकराज—(चकित सा)' ऐं, यह तुम कौन प्रवचक ?

चन्द्रगुप्त—मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल। मैं अकेला आया हूँ, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने।' (ध्रुवस्वामिनी : द्वितीयाक)

'अजातशत्रु' मे विरुद्धक और बन्धुल का संवाद भो इसका एक अच्छा उदाहरण है, किन्तु वहाँ भाषा की स्फीति अपेक्षित सजीवता नही उत्पन्न कर पाती। इस पद्धति मे शब्द-लाघव अपेक्षित है, जो उत्तरकालीन नाटको मे विशेष रूप से देखने को मिलता है। इसी प्रकार प्रसाद ने वीर के प्रमुख सहकारी रस शृंगार को पात्रीय कथन एवं घात-प्रतिघात की सवादीय-सरचना द्वारा प्रस्तुत किया है। 'अजातशत्रु' मे अजात और वाजिरा, 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना और स्कन्द, 'चन्द्रगुप्त' मे सिंहरण और अलका, सुवासिनी और कार्नेलिया के सवाद दूसरी पद्धति के हैं और 'स्कन्दगुप्त' मे देवसेना, 'चन्द्रगुप्त' मे मालविका तथा 'ध्रुवस्वामिनी' मे कोमा व ध्रुवस्वामिनी की अपनी प्रेमानुभूति-विषयक उक्तियाँ पात्रीय कथन के रूप मे घात-प्रतिघात की पद्धति का शृगार के प्रसगो मे वैसा त्वरापूर्ण रूप नही मिलेगा जैसा कि वीरता के प्रकरणो मे है। शृगार रस की प्रकृति के अनुरूप यहाँ प्रसाद की भाषा हृदय के मधु से भीगकर मन्थर पदक्षेप करने लगी है। इस दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' में सुवासिनी और कार्नेलिया का सवाद सुन्दर बन पड़ा है। 'स्कन्दगुप्त' मे मनो-द्वन्द्व की भूमि होने के कारण देवसेना और जयमाला, देवसेना और विजया, देवसेना और स्कन्द के सवादो मे घात-प्रतिघात की भी विशेषता आ गयी है। करुण वातावरण को संरचना मे देवसेना का

अन्तिम आत्मकथन अत्यधिक सशक्त है। रोमास की वेदना देवसेना के रूप मे मूर्तिमती हो उठी है। समाहारी रस शान्त के प्रस्तुतीकरण मे सवाद विचार-प्रधान एव निस्पृहता की निश्चिन्तता लिए हुए हैं। प्राय वे सभी लम्बे है और वातावरण की समग्रता के कर्णधार होने पर भी तात्कालिक नाटकीयता की दृष्टि से उबाने वाले कहे जा सकते है। हास्य-रस के सवादो मे प्रसाद ने कई स्तर रखे हैं। 'विशाख' मे महापिंगल और 'नागयज्ञ' मे काश्यप के सवाद साधारण सामाजिक स्तर के है। 'अजातशत्रु' मे वसन्तक और 'स्कन्दगुप्त' मे मुद्गल के सवाद विदग्धता, विद्वत्ता एव कथानकीय सम्बद्धता लिए हुए है। 'एक घूट' और 'ध्रुवस्वामिनी' मे प्रसाद ने साधारण स्तर के हास्यजनक सवादो मे तीखे और महत्वपूर्ण व्यग्य भर दिये हैं।

प्रसाद के नाटको मे लम्बे संवादो का होना उनकी एक निजी सामान्यता है, जो नाटकीयता की दृष्टि से चिन्त्य और विचारणीय है। इसे दुहराने की आवश्यकता नही कि उनके कारण क्रिया व्यापार मे शिथिलता आ गयी है। प्रसाद दृश्यपरक प्रभाव को नाट्यसर्जना का अन्तिम लक्ष्य मानते भी नही थे। उनके समक्ष सदैव एक सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य हुआ करता था और कृति के समग्र प्रभाव को वे उसी से अनुबद्ध करना चाहते रहे हैं। यही कारण है कि उनके नाटको मे विचारक और दार्शनिक कोटि के महामानवो की एक लम्बी शृखला विद्यमान है। ये देववर्गीय अथवा उनके अनुवर्ती व्यावहारिक पात्र सस्कृति के सैद्धान्तिक प्रतिनिधि जैसे हैं और उनके कथोपकथन उनकी स्थिति के अनुरूप ही विचार-प्रधान और अनाटकीय है। विवाद का विषय सामने आ जाने पर वे अपने सारे तर्क एक साथ रख देना चाहते हैं, जिससे कि उनका प्रतिपाद्य अकाट्य हो सके। 'स्कन्दगुप्त' मे ब्राह्मण-बौद्ध-विवाद का प्रसंग ऐसा ही है। धातुसेन की अपनी एक विचार पद्धति है, जो प्राय सर्वत्र उसके संवादो मे तटस्थ चिन्तनशीलता की स्थिति उत्पन्न कर देती है। 'नागयज्ञ' के आरभ मे मनसा-सरमा तथा कृष्णार्जुन के विवाद इस प्रवृत्ति का चरम रूप सामने रखते हैं। 'एक घूंट' का तो पूरा ढाचा ही बहस की नीव पर खडा है। 'कामना' मे सतोष और विवेक आवश्यकता से अधिक बोलते हैं। 'अजातशत्रु' मे गौतम, मल्लिका और दीर्घकारायण के सैद्धान्तिक प्रतिपादन इसी वृत्ति से ग्रस्त हैं। 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य और कात्यायन का विवाद भी इसी कोटि का है। यहाँ तक तो फिर भी गनीमत है, किन्तु जब इसमें उपदेश की प्रवृत्ति प्रधान हो जाती है तो सम्पूर्ण वातावरण बोझिल एवं असह्य हो उठता है। 'अजातशत्रु' मे गौतम और मल्लिका बहुधा यही करते रहे है। 'नागयज्ञ मे शौनक और व्यास ने भी यही किया है। द्विधाग्रस्त पात्र भी अधिक बोलने के लिए प्रकृत्या विवश हैं। बिम्बसार एक ऐसा ही कमजोर चरित्र है। सूचनात्मक सवाद भी लम्बे हो गए है। जीवक, वसन्तक, धातुसेन, मुद्गल आदि अनेकानेक पात्रों ने यही काम किया है।

भावुकता और कवित्व के प्रसग तो प्रसाद की दुर्बलता है और उन्हे समग्रत: विवृत करने का लोभ वे किसी भी मूल्य पर सवरण नही कर सकते थे। स्कन्द, देवसेना, जयमाला, मातृगुप्त, सुवासिनी, मालविका, कार्नेलिया, अलका, कोमा, ध्रुवस्वामिनी आदि के सवाद उनके व्यक्तित्व के अनुरूप भावात्मक मन्थरता से युक्त है। छद्म भावुकता और आरोपित कवित्व वाले सवाद भी प्रसाद के नाटको मे मिल जायेंगे। 'अजातशत्रु' मे मदिरा के प्रभाव मे उदयन की मागन्धी के प्रति अतिभावुकता-पूर्ण काव्योक्ति ऐसी ही है। 'नागयज्ञ' मे आस्तीक भी बहुधा अकारण भावुक हो जाता रहा है। इसके विपरीत जहाँ भावावेश की वास्तविक स्थिति है, वहाँ शब्दाधिक्य तथा कवित्व प्रिय लगते हैं। आवेश की स्थिति मे प्राय सभी पात्र अधिक बोलते रहे है और उसमे नाटकीय सजीवता की कमी नही। विरुद्धक, छलना, अजातशत्रु, जनमेजय, मनसा, चक्रपालित, अनन्तदेवी, विजया, ध्रुवस्वामिनी तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आवेशपूर्ण कथोपकथन अपनी विशालता के बावजूद जीवन्त है। ये संवाद नाटकीय क्रियाव्यापार को गत्यात्मक मूर्तिमत्ता देने वाले हैं—वैचारिक, उपदेशात्मक अथवा विकल्पात्मक चिन्तनाओ की भाति उसमे अवरोध उत्पन्न करने वाले नही।

लम्बे स्वगतो की भी प्रसाद के नाटको मे अधिकता है, किन्तु उनका नाटकीय औचित्य सवादो की अपेक्षा अधिक है। कवित्व और भावुकता के कतिपय स्थलो को छोडकर स्वगत कथनप्राय सर्वत्र महत्वपूर्ण नाटकीय भूमिका प्रस्तुत करते रहे है। ध्रुवस्वामिनी के मन का ऊहापोह, स्कन्द का विरक्तिमिश्रित अवसाद, देवसेना की आत्म-यातना, मालविका की मर्मान्तिक करूणा, कोमा के कोमल मन का उद्वेग—तथा इसी प्रकार की अन्य निगूढ और विलक्षण मानसिक स्थितियो का वास्तविक प्रत्यक्षीकरण क्या और किसी पद्धति से सम्भव हो सकता था? फिर प्रसाद ने इन पात्रो के आत्मचिन्तन के माध्यम से वस्तु-भूमियो का भी परिचय दिया है। ध्रुवस्वामिनी का आरम्भिक आकाशभाषित जैसा आत्मकथन नाटक के कलह-मूल का परिचय देता है। चारित्रिक ग्रन्थियो को सामने रखने मे भी वह पद्धति बडो समर्थ सिद्ध हुई है। भटार्क का अनन्तदेवी के विषय मे सोचना, शर्वनाग का कामिनी-काचन-कादम्ब के प्रति अपनी लिप्सा प्रकट करना, विजया को असफल भटार्क का परित्याग करके एक बार पुन: स्कन्द को पा लेने की मानसिक तैयारी, प्रपचबुद्धि का अपनी असफलता पर सिर धुनते हुए अपनी प्रकृति का परिचय देना, चाणक्य का सुवासिनी के प्रति अपने लगाव का विश्लेषण, विरुद्धक को श्यामा से छुटकारा पाने की उदिवग्नता, समुद्रदत्त और श्यामा की दुहरी चालें, काश्यप की अर्थलोभी प्रकृति आदि चारित्रिक प्रस्तुतीकरण की बडी नाजुक स्थितियां हैं जिन्हे मुखर चिन्तन जैसी स्वगत-पद्धति पर ही नाटकीयता दो जा सकती थी।

प्रसाद चरित्र की भीतरी तहो को उनकी वास्तविकता मे खोलना चाहते थे,

अतः उन्हे अच्छे-बुरे सभी प्रकार के प्रमुख पात्रो को आत्म-मन्थन का अवसर देना पडा। इन स्वगतो का बडा होना वहाँ अवश्य खटकता है, जहाँ पात्र पर भावुकता बलपूर्वक आरोपित कर दी गई है। विरुद्धक का मल्लिका के विषय मे सोचना, बिम्बसार का मानव-जीवन को लेकर आप ही आप तर्क-वितर्क कर उठना, श्यामा की अकारण प्रचन्ड विलास-भावना की अतिरंजनामयी आकाँक्षाएँ, आस्तीक का वसन्ताह्वान, ग्रीक-बाला कार्नेलिया का भारत-प्रेम आदि से सम्बन्धित स्वगत इसी कोटि के है और जो अस्वाभाविक है और अकारण ही कथाप्रवाह को बाँधित करते है। इसके विपरीत जहाँ नाट्य-स्थिति की सघनता है, वहाँ भावना, कल्पना और कवित्व वस्तु और चरित्र के उत्कर्षक सिद्ध हुए हैं और उनके कारण होनेवाली शब्दवृद्धि प्रीतिकर लगती है। वस्तुत. ऐसी स्थिति मे अभिव्यक्ति का यही रूप सर्वाधिक सहज हो सकता है।

सवादो की भाषा को लेकर प्रसाद पर एकरसतामयी तत्समता, स्फीति, आभिजात्य तथा अनाटकीयता के जो आरोप लगाये जाते रहे है, वे बहुत समीचीन नही। नाट्यभाषा के सम्बन्ध मे उनकी अपनी एक अवधारणा है जो साहित्य, कला और सस्कृति के व्यापक मानदण्डों पर आधृत है। उनका कहना है 'कि सरलता और क्लिष्टता पात्रो के भावो और विचारो के अनुसार भाषा मे होगी ही और पात्रो के भावो और विचारो के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटको मे होना चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचडी भाषाओ का प्रयोग हिन्दी-नाटको के लिए ठीक नही। पात्रो की सस्कृति के अनुसार उनके भावो और विचारो मे तारतम्य होना भाषाओ के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सास्कृतिक दृष्टि से भाषा मे पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।' यथार्थवादी रगमच की भाषिक प्रकृति से वे परिचित थे, किन्तु उसकी सरलता और वास्तविकता की पुकार को वे एक 'फैशन' ही मानते थे, मच की स्वाभाविक आवश्यकता नही।

उनका कहना सही है कि ऐसे दर्शको और सामाजिको की कमी नही, जो पारसी-स्टेज की गज़लो के शब्दार्थ से अपरिचित रहने पर भी तीन बार तालिया पीटते हैं और दूसरी ओर बिना भाषा के अबोल चित्रपटो के अभिनय मे भाव सहज ही समझ मे आ जाते हैं। उनके मतानुसार अभिनय सुरुचिपूर्ण शब्दो को समझाने का काम रंगमंच के माध्यम से अच्छी तरह कर सकने मे समर्थ है। पात्र की जातीयता तथा उसकी वैयक्तिक सस्कृति के अनुरूप भाषा के प्रयोग की माँग भी कुछ कम बेतुकी नही। प्रसाद मध्यकालीन भारतीय नाटकों की संस्कृत-प्राकृतमयी दुहरी भाषा को कृत्रिम मानते हैं। वर्तमान युग की भाषा-सम्बन्धी माग भी वैसी ही है। इस विषय मे उनका कहना है कि 'आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलो से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतो की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि

अन्य असभ्य पात्र हैं, तो उनकी जगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जायगा। यह विपत्ति कदाचित हिन्दी नाटको के लिए ही है।' 'रगमच' शीर्षक निबन्ध का यह वक्तव्य प्रसाद की दो मान्यताएँ प्रस्तुत करता है। प्रथमत वे नाट्य-भाषा का स्तरोन्नयन चाहते थे, दूसरे वे भाषा की एकतन्त्रता के पक्षधर थे। प्रसाद के समक्ष साहित्यिक भाषा का एक निश्चित प्रतिमान था और यह उनका लेखकीय गौरव ही था कि वे पाठक या दर्शक की भाषिक समझ को समुन्नत करना चाहते थे।

सास्कृतिक वस्तु-विषय के अनुरूप उनकी भाषा भी परिष्कृत, सुरुचिपूर्ण एव आभिजात्य से सम्पन्न है—भले ही इसके कारण उनके नाटको को अनभिनेय कहा जाए और पाठ्य-वर्ग मे रख दिया जाए। यो, विशिष्ट सामाजिको के बीच उनके नाटको का मचन भी सफलतापूर्वक किया जाता रहा है और उसमे भाषा का नाटकीय औचित्य भी प्रमाणित होता रहा है। दूसरी मान्यता सवाद-रचना की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। प्रसाद भाषा मे पात्र की जातीयता अथवा वैयक्तिक सस्कृति के आधार पर परिवर्तन करना उचित नही समझते, क्योकि इससे भाषा की मूल प्रकृति नष्ट होने लगती है और उसकी 'इमेज' के टूटने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। अपने आरम्भिक एकाकी 'प्रायश्चित' मे पात्रानुरूप भाषा का एक दृश्य मे प्रयोग करके मानो उन्होने इसी भाषिक अराजकता एव कृत्रिमता का परिचय देना चाहा है। मुहम्मद गोरी और उनके दरबारियो के सवाद की भाषा का एक नमूना ले—

'बहादुर शफकत। आज सचमुच हिन्दोस्तान हलाली झडे के नीचे आ गया। और यह सब तो एक बात है, दरअसल खुदाये पाक को अपने पाक मजहब को जीनत देना मजूर है। नही तो भला इन फौलादी देवजादे हिन्दुओ पर फतह पाना क्या मुमकिन था।' यह भाषा प्रसादीय तो है ही नहीं, हिन्दी भी इसे नही कह सकते। अतिनाटकीयता और अस्वाभाविकता इसकी अतिरिक्त देन है। इसकी तुलना मे तो प्रसाद की परिनिष्ठित भाषा कही अधिक नाटकोचित और सहज लगती है। जहाँ तक भाषिक एकरसता का प्रश्न है, प्रसाद उससे उत्पन्न होनेवाली ऊब से भलीभाँति परिचित थे और उन्होने उसमे यथोचित वैविध्य लाने का प्रयत्न किया है। यह वैविध्य भावो और विचारो की प्रकृति के आधार पर भी प्रस्तुत किया गया है और पात्रो के व्यक्तित्व के आधार पर भी। जहा उग्र मनोभाव है, वहाँ भाषा मे त्वरा, व्यग्य एवं तीखापन है, जहा कोमल भावनाएँ हैं वहा मन्थरता, कवित्व एव माधुर्य है और जहा वस्तुस्थिति का निवेदन है वहां सधी हुई, परिवेशोचित और व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया गया है। संवादों का आकार-प्रकार भी इन्ही के अनुरूप घटता-बढता रहा है। उग्र प्रकृति वाली स्त्रियो की भाषा में सर्वाधिक तीखापन है। छलना, मनसा और अनन्त देवी की कटूक्तियो का मारक पैनापन उनके व्यक्तित्व का सही रूप प्रस्तुत करता है।

इसके विपरीत कोमल मनोभाववाली युवतियो की भाषा मे मसृणता और

मार्दव है। 'चन्द्रगुप्त' मे सुवासिनी और कार्नेलिया का सवाद इसका एक अच्छा उदाहरण है। 'स्कन्दगुप्त' मे देवसेना की भाषा मे यह गुण आद्योपान्त मिलेगा, क्योकि उसका व्यक्तित्व बडे कोमल और जटिल भाव-तन्तुओ से बुना हुआ है। इसी प्रकार वाजिरा, मालविका और कोमा की भाषा भावनात्मक मन्थरता का सौष्ठव लिए हुए हैं। प्रकृति और स्थिति का यही विभेद पुरुष-पात्रो की भाषा मे भी वैविध्य उत्पन्न करता रहा है। सरल व्यावहारिक भाषा अधिकतर बहस और युद्ध के प्रसगो मे मिलेगी। 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीयाक मे पर्वतेश्वर और छद्मवेशी चन्द्रगुप्त आदि का वार्तालाप भाषा की व्यावहारिकता और सक्षिप्तता का एक सजीव निदर्शन है। युद्ध-कालीन वातावरण अनुरूप ही वहाँ भाषा अर्थगर्भ, सक्षिप्त और प्रवेगपूर्ण है। एक भी शब्द आवश्यकता से अधिक न कहा जा सकता है और न हो सुननेवाले के पास इसके लिए धैर्य अथवा अवकाश है। स्कन्दगुप्त' से एक उदाहरण दिया जा रहा है। प्रसग देवकी की हत्या के षड्यन्त्र का है—

भटार्क—कौन ?
शर्वनाग—नायक शर्वनाग।
भटार्क—कितने सैनिक है ?
शर्वनाग—पूरा एक गुल्म।
भटार्क—अन्त:पुर से कोई आज्ञा मिली है ?
शर्वनाग—नही।
भटार्क—तुमको मेरे साथ चलना होगा।
शर्वनाग—मैं प्रस्तुत हूँ; कहाँ चलूँ ?
भटार्क—महादेवी के द्वार पर।
शर्वनाग—वहाँ मेरा क्या कर्तव्य होगा ?
भटार्क—कोई न तो भीतर जाने पावे और न भीतर से बाहर आने पावे।
शर्वनाग—(चौंककर) इसका तात्पर्य ?
भटार्क—(गम्भीरता से) तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा पालन करनी चाहिए।
शर्वनाग—तब भी क्या स्वय महादेवी पर नियंत्रण रखना होगा ?
भटार्क—हाँ।
शर्वनाग—ऐसा !
भटार्क—ऐसा ही।' (स्कन्दगुप्त : प्रथमाक)

प्रस्तुत वातावरण कुचक्र के कार्यान्वयन का है और सवादी अधिकारी और अधिकृत हैं। दोनो ही दृष्टियो से भाषा मे शब्द लाघव अपेक्षित है। इसी प्रकार प्राय: सर्वत्र संकट और तनाव की स्थिति में प्रसाद ने शब्दो के मितव्यय और भाषा की व्यावहारिक सरलता का परिचय दिया है। लम्बे वाक्यों-वाली कवित्वमयी अथवा

तत्सम शब्दावली के घटाटोप-वाली भाषा का प्रयोग प्रसाद ने वही किया है, जहाँ भावानुभूति का कोई नाजुक क्षण है अथवा जहाँ कोई सांस्कृतिक-सैद्धान्तिक स्थापना करनी है। यह बात और है कि प्रसाद के नाटको मे उनकी प्रकृति के अनुरूप भावना-मय, अन्त वैचित्र्यपूर्ण एवं मनीषी-वर्ग के पात्रो की अधिकता है। यो, ये पात्र भी स्थिति के अनुरूप भाषा के कई स्तर प्रस्तुत करते ही है। चाणक्य की कूटनीतिक भाषा का रूप उसके आत्मचिन्तन की भाषा से बहुत भिन्न है। क्रोधावेश मे उसका रूप कुछ और ही हो जाता है। गत्यात्मक चरित्रो के साथ यह वैविध्य सर्वत्र मिलेगा। विरुद्धक, अजातशत्रु, श्यामा, विजया, भटार्क, शर्वनाग, पर्वतेश्वर, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी ऐसे ही पात्र है, जिनके चारित्रिक पहलुओं के साथ भाषा को अनेकविधि सरचनाएँ प्रकट होती रही है। भाषा की एकतन्त्रता को सुरक्षित रखते हुए उसकी एकरसता को तोडते रहने की प्रवृत्ति प्रसाद की निजी विशेषता कही जा सकती है।

प्रसाद के नाट्य-सवादो मे कुछ और भी विशेषताए देखी जा सकती है, जो नाटकीयता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्रसाद की नाट्यभाषा से बहुत सन्तुष्ट न रहने वाले प्रख्यात समीक्षक आचार्य शुक्ल को भी इस प्रसग मे उनकी सराहना करनी पडी है। उनके लिए यह 'सन्तोष की बात है कि प्रसाद के नाटको मे इसके (अभिनय की रोचकता बढाने वाली युक्तियो के) उदाहरण मिलते है जैसे कथोद्घात के ढग पर एक पात्र के मुँह से निकले शब्द को लेकर दूसरे का प्रवेश।' कथोद्घात की युक्ति सवादो मे आकस्मिकता की नाटकीयता उत्पन्न कर देती है। स्वगत अथवा कथोपकथन के बीच सहसा चर्चित अथवा सम्बद्ध पात्र उपस्थित हो जाता है और उनके अन्तिम शब्दो को आधार बना कर अपनी बात कहने लगता है। 'स्कन्दगुप्त' मे शर्वनाग देवकी की हत्या से होने वाली पदोन्नति के सुखो की कल्पना करते हुए जिस समय अपने आप से यह कहता है—'देख-सामने सोने का संसार खडा है', उसी समय उसकी पत्नी रामा यह कहते हुए प्रवेश करती है 'पामर ! सोने की लका राख हो गई।' 'चन्द्रगुप्त' के पहले दृश्य मे सिंहरण चाणक्य से बातें करते हुए कहता है' शीघ्र भयानक विस्फोट होगा' और उसी समय आम्भीक वहाँ पहुँच कर पूछता है—'कैसा विस्फोट ? युवक, तुम कौन हो'? 'अजातशत्रु' में ऐसे स्थल अनेक है। बिम्बसार मानव की महत्त्वाकाक्षा और उसके पतन पर विचार करते हुए जैसे ही यह वाक्य कहता है—'नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या' वैसे ही छलना यह कहते हुए प्रवेश करती है—' और नीचे के लोग वही रहे।' इसी प्रकार अन्यत्र बिम्बसार वासवी से बातें करते हुए जब संसार की प्रत्येक असभावित घटना के मूल मे बवंडर देखता है, तभी छलना अपने को बवडर घोषित करती हुई प्रकट हो जाती है।

वाक्चातुर्य और वाग्विदग्धता प्रसाद के संवादों की दूसरी प्रमुख विशेषताएं कही जा सकती है। वाक्चातुर्य के अन्तर्गत तात्कालिक संवाद-पटुता, तर्कण-शक्ति

और प्रत्युत्पन्नमतित्व को लेना चाहिए। 'ध्रुवस्वामिनी' मे शिखर स्वामी के संवाद इस विशेषता को सर्वाधिक प्रकट करते हैं। ध्रुवस्वामिनी को शक-शिविर मे भेजने के लिए वह राजनय की जैसी व्याख्या करता है—उसका प्रत्याख्यान कम से कम तर्क से सभव नही। उसका वाक्कौशल देखें—'मैं कहूँगा देवि, अवसर देखकर राज्य की रक्षा करने वाली उचित सम्मति दे देना ही तो कर्तव्य है। राजनीति के सिद्धान्त मे राष्ट्र की रक्षा सब उपायो से करने का आदेश है। उसके लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है, किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है।' परिषद के आयोजन और अन्तत: उसके सुरक्षित रह जाने के मूल मे उसका यह वाक्-चातुर्य ही है। 'स्कन्दगुप्त' मे प्रपचबुद्धि का वाग्जाल शर्वनाग को बाँध ही लेता है। सिंहरण और आम्भीक, शर्वनाग और रामा, विजया और देवसेना, अनन्तदेवी और विजया के सवादो मे भी यह गुण विद्यमान है। 'स्कन्दगुप्त' मे शर्वनाग और रामा तथा 'अजातशत्रु' मे श्यामा और समुद्रदत्त के सवाद इसी प्रकार के हैं। 'चन्द्रगुप्त' मे तो ऐसे स्थलो का बाहुल्य है, क्योकि उसमे कर्मशीलता और तज्जन्य त्वरा ही प्रधान है। यो, बहस के प्रसग प्राय: सभी नाटकों मे हैं और उनमे खण्डन-मण्डन की क्रिया बहुत कुछ वाक्चातुर्य के सहारे आगे बढती रही है। वाग्विदग्धता अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और गभीर गुण है। वाक्पटुता सीखी जा सकती है, किन्तु विदग्धता व्यक्ति के सास्कृतिक स्तर से स्वतः उद्भूत होती है। इसमे व्यक्ति की प्रकृति, उसके सस्कार, उसकी बहुज्ञता, उसके लोकानुभव और उसकी वैयक्तिक सस्कृति की भूमिका प्रधान होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' का रामगुप्त कदाचित् प्रसाद का सर्वाधिक वाग्विदग्ध चरित्र है। वह प्रसाद की उपेक्षित चरित्र-सृष्टि है, अन्यथा वह अपेक्षाकृत अधिक सहानुभूति का पात्र था। राजोचित विलास के आभिजात्य ने जहाँ उसे अकर्मण्य बना दिया है, वहाँ उसे बौद्धिक प्रगल्भता एवं विदग्धता भी दी है। उसकी कुछ उक्तियाँ लें—

'विचित्र हो चाहे सचित्र, अमात्य, तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी मे है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल मे परास्त हो।'

'दोनो ओर से घिरा रहने मे शिविर और भी सुरक्षित है। मूर्ख चुप रह।'

'युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है, देखता नहीं, जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नही करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज।'

'तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर, किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय मे डुबा नही सकता।'

शिखरस्वामी की इस उक्ति में भी विदग्धता है—'मेघ-संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।' खड्गधारिणी की विदग्धता बल्लरी के माध्यम से ध्रुवस्वामिनी को प्रोत्साहित करने में देखी जा सकती है। 'स्कन्दगुप्त' मे स्कन्द, पर्णदत्त, देवसेना, मातृगुप्त

और धातुसेन के सवादो मे यह गुण देखा जा सकता है। प्रथमाक के प्रथम दृश्य में स्कन्द और पर्णदत्त तथा द्वितीयाक के प्रथम दृश्य मे देवसेना और विजया के सवाद वाग्वैदग्ध्य से युक्त है। पर्णदत्त को यह गुण लम्बे राजकीय अनुभव से प्राप्त हो गया है और देवसेना को उसकी सगीतप्रियता से। दानो की उक्तियो मे तदनुरूप दृढता और कोमलता मिलेगी। देवसेना जैसी कलाजनित विदग्धता चन्द्रगुप्त' की सुवासिनी मे भी है। कार्नेलिया से उसका रोमानी वार्तालाप उसकी इस विशेषता का यथावत् परिचय देता हे। गंभीर-कोटि के पुरुष-पात्रो मे चाणक्य और स्कन्दगुप्त इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। चाणक्य का कात्यायन और सुवासिनी से वार्तालाप उसके इस वैशिष्ट्य को सामने रखता है। स्कन्द पर दुहरे दायित्व का बोझ होने के कारण उसकी विदग्धता को प्रकट होने का अधिक अवसर नही मिल सका। फिर भी अन्तिम दृश्य मे उसके ये वाक्य इस विशेषता का परिचय दे ही देते है '' मालवेश-कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है ?' इस नन्दन-वन की वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ? ..... और किस वज्रकठोर हृदय से तुम्हे रोकूँ ?' मातृगुप्त कवि है, अत उसके सवादो मे इस गुण का होना स्वभाविक ही है। उसकी अमृत-सरोवर, स्वर्ण-कमल, पुखराज का महल, नवनीत की पुतलो आदि की सश्लिष्ट कल्पना कवित्वमयी तो है ही उसकी वाग्विदग्धता का भी परिचय देनेवाली है। विदूषक- कोटि के दो प्रमुख पात्रो—वसन्तक और मुद्गल मे भी वाग्विदग्धता है। प्रसाद ने इनकी चारित्रिक संरचना बडे मनोयोग से की है और इन्हे केवल मजाकिया नही बनने दिया है। ये विनोदी है, किन्तु इनका विनोद इनके पाण्डित्य और राजकीय अनुभवो से सीझा हुआ है। वसन्तक को प्रगल्भता 'अजातशत्रु' के प्रथमाक मे उसके और जीवक के वार्तालाप मे देखी जा सकती है। मुद्गल की विदग्धता उसके और मातृगुप्त के परिहास मे भली प्रकार प्रकट हुई है। धातुसेन की विदग्धता मे व्यग की तीखी चुटकियाँ हैं। कुमारगुप्त से उसका वार्तालाप इस दृष्टि से अत्यन्त पैना बन पडा है।

'चन्द्रगुप्त' के आरंभिक दृश्य मे आम्भीक के प्रति सिंहरण की उक्तियो मे प्रखर व्यग्य की विदग्धता देखी जा सकती है। चाणक्य ने भी पर्वतेश्वर और नन्द पर बडे तीक्ष्ण व्यग किये हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में रामगुप्त को कई बार तीखे व्यग्य सहने पडे हैं।

संवादों को जीवन्त, सशक्त एवं नाटकीय बनाने के लिए प्रसाद ने कुछ और भाषिक युक्तियाँ अपनायी है। अपूर्ण वाक्य रचना, वाक्यवक्रता, विशेषण-बाहुल्य, शब्दावृत्ति, प्रतीकात्मक व्यंजना, सूक्तिकथन एव मुहावरो का प्रयोग ऐसी ही भाषिक

प्रविधियाँ है। अपूर्ण वाक्य उद्विग्न और आवेशपूर्ण मन· स्थिति के प्रस्तुतीकरण मे सहायक सिद्ध हुए हैं। विजया का उद्विग्न और प्रत्यावर्तित मनोभाव देखें—

'इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह-जैसे सरस्वती के शोषित जल मे इन्दोवर का विकास।' (स्कन्दगुप्त : पंचमांक)

रूपगर्विता मागन्धी के आहत दर्प का उद्वेग इसी प्रकार प्रकट हुआ है—

'इस रूप का इतना अपमान सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ।' (अजातशत्रु प्रथमाक)

अनन्तदेवी का कृत्रिम दु खावेश भी—

'इस शत्रुपुरी मे असहाय अबला इतना-आह।' (स्कन्दगुप्त : प्रथमांक)

और चन्द्रगुप्त की यह वीरोचित निर्भीकता—

'आधीरात, पिछले पहर, जब तुम्हारी इच्छा हो।' (चन्द्रगुप्त : तृतीयाक)

चाणक्य भी अपने निर्देशो मे कम से कम शब्द व्यय करता है—

'मेरी सम्मति है कि तुम शीघ्र तक्षशिला का परित्याग कर दो। और सिंहरण, तुम भी।' (चन्द्रगुप्त : प्रथमांक)

स्वगतो मे यह प्रवृत्ति अधिक मिलेगी, क्योकि वे वस्तुत मौन विचारणा का सवहन करते हैं जो भाषिक दृष्टि से विशृ खल होती ही है। 'ध्रुवस्वामिनी' का यह आकाशभाषित ऐसा ही है—

'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर ··यह कैसा इन्द्रजाल · जिधर देखो कुबडे, बौने, हिजडे, गूंगे और बहरे ··।' वक्रतापूर्ण वाक्य-रचना भी पात्र की उद्विग्न मन· स्थिति की व्यंजना करती है, किन्तु इसमे अपूर्ण वाक्यो की कल्पनाशक्ति और भावमयता के स्थान पर भाषिक सामर्थ्य की ही प्रधानता रहती है। नारी-पात्रो मे यह वक्रता अधिक मिलेगी, क्योकि उनमे व्यग्य और कटूक्ति की प्रतिभा विशेष होती है। कुछ स्थल दिये जा रहे हैं—

'शकराज · तुम रूठी हुई सी क्यो बोल रही हो ?
कोमा—रूठने का सुहाग मुझे मिला कब ?' (ध्रुवस्वामिनी : द्वितीयांक)

'श्यामा—राजरानी होकर और क्या मिलना था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीडा।···शैलेन्द्र, लो यह अपनी नुकीली कटार·· ।' (अजातशत्रु : द्वितीयाक)

'धातुसेन—अभागा मनुष्य सन्तुष्ट है—बच्चो के समान। (स्कन्दगुप्त · प्रथमाक)

विशेषणो का बाहुल्य प्रसाद की भाषा का एक सामान्य लक्षण है। कथ्य के प्रभाव की अभिवृद्धि के लिए ही वे ऐसा करते रहे हैं। आवेशपूर्ण, कवित्वमय तथा लम्बे वक्तव्यो मे यह प्रवृत्ति अधिक मिलेगी। बिम्बसार का एक वाक्य लें—

'यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयो के झुरमुट मे एक अधखिला फूल होता···।' (अजातशत्रु : तृतीयांक)

शब्दाडम्बर से किसी को प्रभावित करने के प्रसग मे भी इस पद्धति का आश्रय लिया गया है—

'अनन्तदेवी -सूचीभेद्य अन्धकार मे छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का प्रज्वलित कठोर नियति का-नील आवरण उठाकर झाँकने वाला ।'

(स्कन्दगुप्त : प्रथमांक)

उदात्त-वर्ग के पात्रो की भाषा मे विशेषणो का बाहुल्य मिलेगा । अंग्रेजी ढग के वाक्यविन्यास ने भी विशेषणो की वृद्धि मे सहयोग किया है । देवसेना का यह वाक्य ऐसा ही है—

'ससार मे ही नक्षत्र से उज्ज्वल-किन्तु कोमल-स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते है ।'

'चन्द्रगुप्त' मे कल्याणी की यह उक्ति भी इसी ढग की है—

'पिता जी, पर्वतेश्वर-उद्दड पर्वतेश्वर ने-जो मेरा अपमान किया है ··।'

शब्दावृत्ति नाटकीयता के प्रभाव-वर्धन मे सहायक सिद्ध हुई है । इससे कथ्य के केन्द्रीय विन्दु की सम्पुष्टि होती है और उक्ति मे बल आ जाता है । इसका रूप सामान्य भी है और पर्यायात्मक भी । सामान्य शब्दावृत्ति में कुछ शब्दो का अन्तराल आ जाने से कथ्य की शक्ति और बढ गयी है । निरन्तर और सान्तराल आवृत्तियो के उदाहरण लें ।

'शकटार—दु:ख । दु:ख का नाम सुना होगा···।' (चन्द्रगुप्त : तृतीयांक)

'सिहरण-हा-हाँ रहस्य है ।···खोल देने का रहस्य है ।···कदापि नही, मालव कदापि बन्दी नही हो सकता ।' (चन्द्रगुप्त : प्रथमांक)

पर्यायपरक आवृति से वक्तव्य मे प्रवाह का गुण उत्पन्न हो गया है—

'मल्लिका—प्रजा के साथ आप इतना छल, इतनी प्रवंचना और कपट-व्यवहार रखते हैं । (अजातशत्रु द्वितीयांक)

'भटार्क—बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचण्ड पराक्रमो से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है ।

'भटार्क—यह क्रूर-कठोर नर-पिशाच मेरी सहायता करेगा ।'

(स्कन्दगुप्त : प्रथमांक)

पर्यायवत् वाक्य-संरचना भी प्रभाव-पुष्टि के लिए की गयी है—

'अनन्तदेवी—उसकी आँखो मे अभिचार का सकेत है, मुस्कराहट मे विनाश की सूचना है, आंधियो से खेलता हैं, बातें करता है—बिजलियो से आलिंगन ।'

(स्कन्दगुप्त : प्रथमांक)

इस शब्दावृति में अंग्रेजी पद्धति की वाक्य रचना ने भी योगदान किया है । 'अजातशत्रु' में छलना का यह वाक्य अपनी संरचना में अंग्रेजी का प्रभाव लिये हुए है—

'वह भिखमगो का जो अकर्मण्य होकर राज्य छोडकर दरिद्र हो गए हैं—उपदेश नहीं ग्रहण करने पावेगा।'

प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग कवित्व एव भाषिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए किया गया है। 'स्कन्दगुप्त' मे मातृगुप्त का काश्मीर और मालिनी से सम्बन्धित अतीत को स्वर्णकमल, भ्रमर वशी, सौरभ, पराग, स्वप्न, नवनीत-प्रतिमा, पोखराज का महल, किरण आदि छायावादी प्रतीको के माध्यम से सकेतित करना इस युक्ति का एक सम्पूर्ण उदाहरण है। 'अजातशत्रु' मे विरुद्धक भी इसी प्रकार मल्लिका के विषय मे कुसुम के माध्यम से अपने भाव प्रकट करता है। 'कामना' और 'एक घूंट' मे तो पात्रो के नाम ही प्रतीकात्मक रखे गये हैं। यो, प्रसाद ने सामान्यत सर्वत्र पात्रो के नामकरण मे उनकी चारित्रिक विशेषताओ को ध्वनित करने की सावधानी बरती है। छलना, शक्तिमती, विरुद्धक, प्रपचबुद्धि, विजया, देवसेना, अनन्तदेवी आदि ऐसे ही नाम हैं, जो व्यक्तिवाची होते हुए भी ध्वन्यर्थ का गुण रखते है। प्रतीकधर्मी शब्दो की द्वयर्थकता नाटकीय वस्तुभूमि से जितनी अधिक जुडी हुई होगी भाषा उतनी ही सार्थक एव प्रभावमयी हो उठेगी। 'अजातशत्रु' मे श्यामा की यह उक्ति इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है—

'स्वर्ण-पिंजर मे भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा—जो उसे हरी डालो पर कसैले फलो को चखने मे मिलता है ? मुक्त नील गगन मे अपने छोटे-छोटे पख फैलाकर जब वह उडती है तब जैसी उसकी सुरीली तान होती है, उसके सामने तो सोने के पिंजडे मे उसका गान क्रन्दन ही है। (द्वितीयाक)

मुहावरो का प्रयोग भाषा को व्यावहारिक जीवन्तता देने के उद्देश्य से किया गया है। भाषा की यह विशेषता प्रखर और विदग्ध पात्रो की उक्तियो मे अधिक मिलेगी।

जिन नाटको मे सक्रियता की त्वरा है, उनकी भाषा मे मुहावरो की अधिकता है। प्रसाद के पास वर्ग के विशेषण-विपर्यय, लाक्षणिकता, व्यंजनाशक्ति आदि अनेक साधन विद्यमान थे, अत उन्होने स्वभावत मुहावरो को आनुपातिक एव उचित स्थान ही दिया है। परवर्ती एव प्रौढ नाटकों मे छायावादी काव्यभाषा की युक्तिया ही अधिक मिलेंगी। कुछ स्थल देखे जा सकते हैं—

'अमगल का अभिशाप अपनी क्रूर हंसी से इस दुर्ग को कपा देगा।'
'मेरी दुर्दशा का पुरस्कार क्या कुछ और है ?'
'वीरता जब भागती है ।' (ध्रुवस्वामिनी)
'प्रजा के साथ आप इतना छल·· कपट व्यवहार रखते हैं। धन्य हैं।'
'मनुष्य·· शासन चाहता है, जो···ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है।
(अजातशत्रु)

'इसकी आखो मे काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलो पर रक्त होकर क्रीडा कर रही है।' (स्कन्दगुप्त)

'वह सामने कुसुमपुर है, जहा मेरे जीवन का प्रभात हुआ था 'मैं अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओ का कंकाल, कठोरताओ का केन्द्र···भयानक रमणीयता है।

(चन्द्रगुप्त)

सूक्तियो के माध्यम से प्रसाद ने जीवन के शाश्वत सत्यो को अभिव्यक्ति दी है। नाटक के सन्दर्भ मे इनका वैशिष्ट्य यह है कि ये मात्र सिद्धान्त-कथन न रहकर कर्म से सम्पुष्ट और चरितार्थ हो चुकी है, अत इनकी वास्तविकता अधिक विश्वसनीय है। एक प्रकार से इसे भाषिक अर्थान्तिरन्यास की पद्धति कह सकते है। प्राय सभी नाटको मे मार्मिक, जीवन के वास्तविक अनुभव से सीखी हुई और अपनी भाषिक सरचना मे संक्षिप्त तथा सौष्ठवपूर्ण सूक्तिया विद्यमान है—

'स्मृति जीवन का पुरस्कार है।'

'महत्वाकाक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी मे रहता है।'

'आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।' (चन्द्रगुप्त)

'एक दुर्भेध नारी-हृदय मे विश्व-प्रहेलिका का रहस्यबीज है।'

'जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है।'

'भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है।'

कष्ट हृदय की कसौटी है।' (स्कन्दगुप्त)

'वाक्सयम विश्व मैत्री की पहली सीढी है।'

'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते है ··वहीं तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।' (अजातशत्रु)

'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।' (नागयज्ञ)

उदात्त प्रकृति के पात्रों के सवादो मे जीवन के उच्चादर्शो को प्रस्तुत करने वाली सूक्तियो का बाहुल्य है। प्रसाद के अनुभव सम्पन्न एव मननशील व्यक्तित्व का उनसे वास्तविक परिचय पाया जा सकता है।

प्रसाद की नाट्य-भाषा को अपेक्षाधिक कवित्वपूर्ण एव एकरस कहा जाता रहा है। यह आरोप अपने आप में एकाँगी है। वस्तुत· विकास-क्रम और वस्तु-भूमि की दृष्टि से उनकी भाषा के अनेक स्तर है और उनमे यथेष्ट वैविध्य हैं। प्रसाद के नाटकों मे लम्बे और काव्यमय सवाद ही नही है, प्रसंगानुसार उनमे क्षिप्र और अत्यन्त सक्षिप्त कथोपकथन भी है। 'स्कन्दगुप्त' मे भटार्क और शर्वनाग का वार्तालाप इसका एक अच्छा उदाहरण है। 'नागयज्ञ' और 'चन्द्रगुप्त' मे तो इसी प्रकार के संवादो का आधिक्य है। विकासक्रम की दृष्टि से 'विशाख' तक प्रसाद की भाषा और उनके संवाद बहुत कुछ अपरिपक्व है और उन पर भारतेन्दु-युग की छाप स्पष्ट है। पारसी-मच की पद्यात्मक

सवाद-पद्धति भी उनमे मिल जायेगी। 'अजातशत्रु' तक मे एकाधिक स्थलो पर पद्यो का अनवसर प्रयोग मिल जायेगा—'स्कन्दगुप्त' मे भी एक स्थल पर जनता छन्दबद्ध त्राहि-त्राहि करती है, किन्तु वे पहले के सस्कार के अवशिष्ट अन्तिम चिन्ह-मात्र हैं नाटककार की सहज प्रवृत्ति के बोधक नही। प्रसाद अपनी कमियाँ पहचानते थे और हर अगली कृति मे वे उनसे उबरते रहने के लिए सचेष्ट और सावधान रहे है। 'अजातशत्रु' उनकी भाषा के प्रकृत रूप का प्रथम निदर्शन है, यद्यपि उसमे कई दृष्टियो से लचरपन है। उसके बाद की कृतियो मे भाषिक शैथिल्य टूटता रहा है और उसमे वाछनीय तथ्यपरकता आती गयी है। 'स्कन्दगुप्त' की कथाभूमि के अनुरूप उसकी भाषा कवित्वपूर्ण है और चन्द्रगुप्त की तथ्यपरक। 'ध्रुवस्वामिनी' मे इन दोनो गुणो का मंजुल समन्वय है। न एक शब्द अधिक और न ही कम। यदि प्रसाद के नाटको की भाषा का विचार इस ऐतिहासिक एव वस्तु-प्रकृति के परिप्रेक्ष्य मे किया जाए, तो उसमे विसंगति के स्थान पर सहजता और सौष्ठव ही अधिक मिलेंगे।

शब्द-समूह की दृष्टि से प्रसाद की नाट्यभाषा का रूप विशद है। ऐतिह्य और सास्कृतिक वस्तुभूमि के अनुरूप उन्होने एक बडी सख्या मे प्राचीन पारिभाषिक शब्दो को ग्रहण किया है। स्कन्धावार, गुल्म, वाहिनी, गणतंत्र, महाबलाधिकृत, नासीरसेना, प्रकोष्ठ, वल्गा, प्रणिधि, दण्डाधिकरण, अभिसन्धि, विग्रह, शिविका, शिविर, दुर्गतोरण, युद्ध-परिषद्, गणमुख्य, विषयपति, महानायक, खड्गधारिणी, महादेवी, राजमहिषी, राजमाता, महासन्धि, विग्रहिक, महाप्रतिहार, क्षत्रप आदि युद्ध और प्रशासन से सम्बन्धित अनेकानेक शब्द प्रसाद की नाट्यकृतियो मे विद्यमान है, जो अतीत मे व्यवहृत होते थे। सामरस्य, भूमा, ऋत, अमृत, स्वस्त्ययन, कृत्या, छिन्नमस्ता, देवकुलिक, नियति, अनात्मभव, बोधिसत्व, महाकरुणा आदि शब्द दर्शन और धार्मिक व्यवस्था से सम्बद्ध है। वसन्तोत्सव, आपानक. देवपुत्र, आर्यपुत्रपरमभट्टारक, ब्रह्मस्व, रंगशाला, व्यवस्था, विनय, कुलवृद्ध, आदि शब्द उस समय की राजकीय सामाजिकता से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार उन्होने अतीत की भौगोलिक शब्दावली को व्यापक रूप मे ग्रहण किया है।

अपनी भाषा को देशकाल के अनुरूप बनाने का प्रसाद ने हर सभव प्रयास किया है और उन्हे सफलता मिली है। प्रस्तुतीकरण की उनकी अपनी भाषा उनके युग के श्रेष्ठतम परिनिष्ठित स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। सही तो यह है कि उन्होने ही हिन्दी के परिनिष्ठित रूप की अवधारणा प्रस्तुत की और अपनी गद्य-कृतियों मे उसे माध्यम बनाकर चरितार्थ किया। यदि आज का आलोचक उस पर छायावादी होने का आरोप लगाता है, तो उसका क्या उत्तर हो सकता है। फिर, प्रत्येक साहित्यकार की अपना विशिष्ट रुचि भी होती है जिसका न्याय पाने के प्रसाद सही हकदार है।

प्रसाद के नाटको पर प्रायः ही यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वे रग-धर्मी नही हैं या कि उनमे अभिनेयता की कमी है। इस आरोप के आधार भी अनेकविध हैं जैसे भाषिक साहित्यिकता, बौद्धिकता का अतिरेक, नाटकीय गत्यात्मकता की कमी, सवादो और स्वगतो का बडा होना, जटिल एव लम्बी वाक्य-रचना, कथा-भार, दृश्यो और पात्रो का आधिक्य आदि आदि। प्रायः इन सभी की चर्चा पहले हो चुकी है और उनके औचित्य-अनौचित्य का विश्लेषण किया जा चुका है। यहाँ मेरा मन्तव्य प्रसाद और हिन्दी रगमच के सन्दर्भ मे इस आरोप की सगति-विसंगति की परख करने का है। स्वय प्रसाद ने इस दिशा मे पर्याप्त मनन किया था और अपनी नाट्य-सर्जना से उत्पन्न होनेवाली इन प्रतिक्रियाओ की वे निश्चित पूर्वकल्पना कर चुके थे। कदाचित् इसीलिए उन्होने अपने नाट्य-विषयक निबन्धो एव नाटको की भूमिकाओ मे अपनी मान्यताएँ स्पष्ट कर देना आवश्यक समझा। पहले उन्हे देख लेना ठीक होगा।

प्रसाद के समय मे हिन्दी का अपना कोई रगमच नही था। प्रायः सत्तर वर्ष पहले से पारसी थियेटर ही इस क्षेत्र मे अपना प्रभुत्व जमाये हुए था। सामान्य दर्शक के लिए उसमे सब कुछ था, किन्तु साहित्य-रसज्ञो के लिए उसमे सस्ती नाटकीयता और फूहड भडैंती के अतिरिक्त कुछ नही था। यह सही है कि विकल्प के अभाव मे अनेक प्रमुख प्रारम्भिक हिन्दी-नाटक इस मच के माध्यम से प्रस्तुत किये गये और इसके रंग-शिल्प ने अनेक नाटककारो के साथ प्रसाद जैसे प्रबुद्ध स्रष्टा को भी एक महत्वपूर्ण सीमा तक प्रभावित किया, किन्तु यह एक सामयिक मजबूरी ही थी और साहित्य-जीवी वस्तुतः इसके घटिया और निम्नस्तरीय प्रदर्शनो से अत्यधिक विक्षुब्ध थे। भारतेन्दु ने इसकी समकक्षता मे हिन्दी का रगमच निर्मित भी किया, जिसके माध्यम से तत्कालीन अनेक नाटक अभिनीत किये गये। उनकी परम्परा मे एकाधिक नाट्य-संस्थाएँ बनी और इस प्रकार हिन्दी के मंच की एक परिकल्पना चरितार्थ होने लगी थी, किन्तु भारतेन्दु के बाद यह सारा सम्भार बिखर गया।

भारतेन्दु जितने प्रबुद्ध नाटककार थे, उतने ही प्रबुद्ध रंगनेता और निर्देशक भी। उनके जैसे त्रिमुखी व्यक्तित्व के अभाव मे हिन्दी का अपना रंगीय आन्दोलन निष्प्राण हो गया। तब फिर उसी पारसी-स्टेज और उससे प्रभावित नवोदित चित्रपटो का बोलबाला। प्रसाद 'रंगमच' निबन्ध मे लिखते हैं—'हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलनेवाले चित्रपटो का अभ्युदय हो गया और फलत अभिनयो का रंगमंच नही-सा हो गया। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का सम्पूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है।' पारसी रंगमंच के विषय में उनकी धारणा यह है—'..... पारसी स्टेज ने अपना भयानक ढग बन्द नही किया। पारसी स्टेज मे दृश्यो और परिस्थितियो के संकलन

की प्रधानता है। वस्तुविन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो, किन्तु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिए। कुछ नही तो एक असबद्ध फूहड भडैती से ही काम चल जायगा।'

यथार्थवादी रगमच की माँग को भी वे बहुत उचित नही मानते क्योकि उसमे केवल जीवन का विरूप यथार्थ प्रस्तुत किया जाता है, जबकि उदात्तता और महानता का भी एक यथार्थ जीवन में है, जो अपेक्षाकृत अधिक रचनात्मक है। उसके रगशिल्प की कृत्रिमतामया रूढि पर वे व्यंग्य करते हैं—'दृश्यो की योजना साधारण होने पर भी खिडकी के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने मे मकडी का जाला दृश्यों मे प्रमुख होते हैं—वास्तविकता के समर्थन मे।' इस प्रकार प्रसाद के समय मे हिन्दी का अपना रंगमच नही था और जो कुछ था, वह उनके मनोनुकूल नही था। उनके आलोचकों ने यह तथ्य नही समझा—' पुकार होती है आलोचको को, हिन्दी में नाटको के अभाव की। रगमच नही है, ऐसा समझने का कोई साहस नही करता। क्योकि दोष-दर्शन सहज है।' तब फिर प्रसाद की रग-कल्पना का आधार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें उनके एतद्विषयक निबन्धो विशेषकर 'रगमंच' शीर्षक निबन्ध को थहाना होगा।

प्राचीन भारतीय नाट्यविधि और रंगमंच का प्रसाद ने बारीकी से अध्ययन किया था और उसमे उन्हें अभिनेयता के व्यापक आयाम मिले थे। 'रंगमंच' की कुछ पक्तियों से इसे समझा जा सकता है...... 'भारत मे दोनों तरह के रगमंच होते थे। एक तो वे, जिनके बडे-बडे नाट्य मन्दिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमच जो काठ के विमानो से बनाये जाते थे।......नाट्यमन्दिरो के भीतर स्त्रियो और पुरुषो के सुन्दर चित्र भीत पर लिखे जाते थे और उनमे स्थान-स्थान पर वातायनो का भी समावेश रहता था। नाट्य मण्डप के कक्षाएँ बनाई जाती थी, जिनमे अभिनय के दर्शनीय गृह, नगर, उद्यान, ग्राम, जंगल, पर्वत और समुद्रो का दृश्य बनाया जाता था।......दृश्यों का विभाग करके नाट्य-मण्डप के भीतर नकी इस तरह से योजना की जाती थी कि उनमे सब तरह के स्थानों का दृश्य दिखलाया जा सकता था; और जिस स्थान की वार्ता होती थी, उसका दृश्य भिन्न कक्षा मे दिखाने का प्रबन्ध किया जाता था। स्थान की दूरी इत्यादि का भी सकेत कक्षाओ मे उनकी दूरी से किया जाता था।......आकाशगामी सिद्ध विद्याधरो के विमानो के भी दृश्य दिखलाये जाते थे। ......तो यह मानना पडेगा कि रंगमच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उसमें बैलो से जुते हुए रथ और घोडो के रथ तथा हेमकूट पर चढती हुई अप्सराएँ दिखलाई जा सकती थी।' वर्तमान रगमंच से असन्तुष्ट प्रसाद को अतीत के इस व्यापक रगशिल्प का आधार मिल गया था और उनको नाट्य-सरचना इसी से भावित है।

उनकी मंचीय परिकल्पना के अनुसार दृश्य-बाहुल्य, काल-विस्तार, स्थल-वैविध्य,

सूच्याधिक्य आदि सहज अभिनेय है। वर्तमान स्टेज यदि उन्हे प्रस्तुत करने मे अक्षम हैं, तो यह उसकी कमी है—उसके लिए नाटककार अपने को छोटा क्यो करे। रगमच को नाटक के अनुसार विकसित होना चाहिए। उनका स्पष्ट मत है—'रगमच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते है तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यो के अनुसार प्राचीन रगमच विकसित हुए और रगमचो की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नही हुए। अर्थात् रगमचो को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पडा और यह प्रत्येक काल मे माना जायेगा कि काव्यो के अथवा नाटको के लिए ही रगमच होते है। काव्यो की सुविधा जुटाना रगमंच का काम है। क्योकि रसानुभूति के अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायो से नही प्रदर्शित किये जा सकते और रगमच ने सुविधानुसार काव्यो के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप-परिवर्तन किया है।'

इसी से सम्बन्धित दूसरी बात स्रष्टा के अह की है। प्रसाद मच और दर्शक के स्तर को उठाना चाहते थे, न कि उसके लिए अपने स्तर को गिराना। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने उनके मन्तव्य को इन शब्दो मे प्रस्तुत किया है—'मेरी रचनाएं तुलसीदत्त शैदा या आगा हश्र की व्यावसायिक रचनाओ के साथ नही नापी तौली जानी चाहिए। मैंने उन कम्पनियो के लिए नाटक नही लिखे है जो चार चलते अभिनेताओ को एकत्र कर, कुछ पैसा जुटाकर, चार परदे मगनी माग लेती है और दुअन्नी अठन्नी के टिकट पर इक्के वाले, खोचे वाले और दूकानदारो को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। 'उत्तर रामचरित', 'शकुन्तला' और 'मुद्रा राक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओ के द्वारा अभिनीत हो सकते और न जनसाधारण मे रसोद्रेक के कारण बन सकते। उनकी काव्य-प्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हो, सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक हो और पर्याप्त द्रव्य काम मे लाया जाय, तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते है।

भाषा के सम्बन्ध मे भी प्रसाद की यही दृष्टि है। उनके मतानुसार अभिनय सुरुचिपूर्ण शब्दो को समझाने का काम रगमच से अच्छी तरह कर सकता है, अतः सामान्य दर्शक की रुचि अथवा चलतू स्टेज की सस्ती लोकप्रियता के विचार से भाषा का सौरस्य और उसकी एकतन्त्रता नष्ट करना ठीक नही। पात्रो की सस्कृति के अनुसार उनके भावो और विचारो मे तारतम्य लाना भाषा-परिवर्तन की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। फिर, देश और काल के अनुसार भी सास्कृतिक दृष्टि से भाषा मे पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए। भाषा की सरलता की पुकार का कोई अर्थ नही। पारसी-स्टेज पर गायी गयी गजलो के शब्दार्थों से अपरिचित रहकर भी सामान्य दर्शक तालियाँ पीटता है और दूसरी ओर अबाल चित्रपटो के भी अभिनय मे भाव सहजैव प्रत्यक्ष हो

जाते है। अतः प्रसाद किसी भी दृष्टि से अपना नाट्य-स्तर गिराना नही चाहते थे। उनकी सर्जना नाट्यधर्मी है, न कि लोकधर्मी।

प्रसाद के नाटको का कथ्य भी कम नाटकीयतापूर्ण नही। विरोध-तत्व और उससे सम्बद्ध क्रिया-व्यापार की तीव्रता एव सघनता उसमे रोमाँचक मचीय आकर्षण उत्पन्न कर देती है। प्राय. सभी नाटको मे दुरभिसन्धि, षडयन्त्र और युद्ध की भीषण परिस्थितिया विद्यमान हैं। द्वन्द्व का दुहरापन उन्हे अतिरिक्त नाटकीयता प्रदान करता है। पात्रीय जीवन्तता भी इसका एक महत्वपूर्ण उपकरण है। प्रसाद के पात्र इतने सजीव और वास्तविक है कि उनकी छाप सामाजिक के हृदय पर अमिट हो जाती है। ऐतिहासिक वृत्तो का युगीन सन्दर्भ एक अतिरिक्त नाट्यगुण की सृष्टि करता है। सामाजिक के लिए यह व्यजना एक गहरा आकर्षण रखती है। अपने इस नाटकीय तथ्य के प्रस्तुतीकरण को भी प्रसाद ने रगधर्मी बनाने का निरन्तर प्रयास किया है। अभिनय और रगमच की अस्वाभाविक लगने वाली रूढियो का वे परित्याग तथा प्रतिस्थापन करते रहे है। सूत्रधार, नटी, नान्दी, भरतवाक्य आदि की पारम्परिक पद्धति से उन्हे कुछ भी लगाव नही था, क्योकि वे अतिरिक्त और आरोपित अभिनय लगते हैं। भरतवाक्य के निवेश की मूल प्रेरणा से वे अवश्य जुडे थे, क्योकि उनका कथ्य सांस्कृतिक था जिसके मूल मे उदात्त मंगल-भावना का होना अनिवार्य है। आरम्भिक नाटको मे उन्होने भरतवाक्य का प्रयोग किया, किन्तु परवर्ती और प्रौढ कृतियो मे उन्होने उसका रूप बदल दिया है। 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' के समापन मे भरतवाक्य की आत्मा विद्यमान है, किन्तु इस रूप मे वह नाटकीय व्यापार का अंग हो गयी है, आरोपित और अतिरिक्त मगलपाठ जैसी नही लगती। प्रस्तुतीकरण को स्वाभाविक और वास्तविक बनाने का उनका प्रयास 'ध्रुवस्वामिनी' मे पूर्णता प्राप्त कर सका है, जिसमे अधिकाश मच-सज्जा मचस्थ पात्रो द्वारा अभिनय के ही दौरान और नाटकीय क्रिया व्यापार के अवयव-रूप मे निर्मित की गयी है—उसके लिए अतिरिक्त व्यवस्था और पटपरिवर्तन की आवश्यकता नही होती। 'एक घूंट' का भी प्रस्तुतीकरण प्राय ऐसा ही है। अन्य प्रमुख नाटको मे वस्तु-भार, पात्राधिक्य और दृश्य-बाहुल्य के कारण यह पद्धति व्यवहार्य न थी, अत वहा अन्य युक्तियो से यह प्रभाव उत्पन्न किया गया है। ये युक्तिया वस्तुविन्यास, दृश्य विधान, क्रिया व्यापार, सवाद-सरचना एव पात्र-सृष्टि से सम्बन्धित है, जिन पर विचार किया जा चुका है।

प्रभावी और रोमाचक दृश्यो का विधान प्रसाद के नाटको की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। उनके नाटको का दृश्य-फलक व्यापक है और उसमे वैविध्य का आकर्षण है। राजकीय परिवेश के ही अनेक दृश्य मिलेंगे। राजप्रासाद, प्रकोष्ठ, अन्त पुर, चन्द्रातप, राजसभा, परिषद्, दुर्ग, शिविर, स्कन्धावार, मन्त्रणागृह, रणभूमि, राजपथ,

बन्दीगृह, रंगशाला, विलास-कानन आदि के दृश्य राजोचित और ऐतिहासिक परिवेश को उसके विविध रूप-रगो मे उभार देते है। सामाजिक और धार्मिक सन्दर्भों मे उन्होने नगर प्रान्त, नगरपथ, वीथी, कुटीर, भवन, मदिर, चैत्य, मठ, खेत, आश्रम, स्तूप आदि के दृश्य रखे है। प्राकृतिक दृश्यो मे वन, उपवन, वनपथ, नदी तट, बाढ, अग्नि, समुद्र, पर्वत, फूल-मडप, वृक्ष-कुज, पर्णकुटीर, फूलो का द्वीप, छायादार वृक्ष आदि की प्रधानता है। दृश्यो की यह अनेकविधता दर्शक के लिए रजनकारिणी है। इनके मचन मे विशेष असुविधा भी नही होगी। प्रसाद ने कदाचित इसी दृष्टि से वातावरण-प्रधान मच-सज्जा रखी है। प्रत्येक नाटक का अपना एक सीमित वातावरण है और उसमे थोडे-बहुत परिवर्तनो के साथ अनुरूप दृश्य रखे गये है। 'कामना', 'नागयज्ञ' और 'एक घूंट' मे प्राकृतिक दृश्यो का प्राधान्य है, 'विशाख' और 'राज्यश्री' मे सामाजिक-धार्मिक वातावरण की प्रधानता है--शेष ऐतिहासिक नाटको मे राजकीय परिवेश के दृश्य हैं। इन्हे विभिन्न धरातलो वाले यूनिट' दृश्यबन्ध पर आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है। सीढियो, ढलानो एव चबूतरो के आकार वैचित्र्य एव व्यवस्था-कौशल से अधिकतर दृश्यो के प्रस्तुतीकरण की समस्या हल हो जाएगी। कुछेक पदो का भी उपयोग कलात्मक पद्धति पर किया जा सकता है।

रोमाचक दृश्यो की योजना प्रसाद ने प्राय प्रत्येक नाटक मे की है और इसके मूल मे निश्चय ही पारसी-स्टेज से प्रेरित सामाजिक रुचि है। प्रसाद ने जन-साधारण की दिलचस्पी को भरसक तुष्ट करने का प्रयास अपने ढग से किया है। यही कारण है कि उन्होने अग्निदाह, बाढ, तरगायित समुद्र, श्मशान, उल्कापात, आधी, अमावस्या की कुचक्रमयी निशा, घोर तान्त्रिक अभिचार एव साहसपूर्ण अभिसार के दृश्यो का विनियोजन पूरी सतर्कता के साथ किया है। द्वन्द्व युद्ध, सामूहिक युद्ध, हत्या एव आत्महत्या के प्रसग भी प्राय: सभी प्रमुख नाटको मे विद्यमान हैं, जो अपना मचीय आकर्षण रखते है।

पारसी-रंगमच मे आधी, पानी, आग, अन्धकार और रक्तपात के दृश्यो की प्रधानता रहती थी, क्योकि ये अपनी असामान्यता और भयावहता के कारण दर्शक को चमत्कृत करने की योग्यता रखते हैं। प्रसाद ने पारसी-मच के स्थूल भद्देपन की विगर्हणा करते हुए भी उसकी इस चमत्कार प्रधान लोकप्रियता को अपने नाटकों मे अनिवार्यत: स्थान दिया है। आकस्मिक, असामान्य एवं अतिप्राकृत दृश्यो का भी समावेश उन्होने इसी दृष्टि से किया है। 'प्रायश्चित्त' मे संयोगिता की छाया-प्रतिमा का उभरना, 'नागयज्ञ' मे मनसा के मन्त्रबल से खाडवदाह के विभीषिकापूर्ण अन्त: दृश्य का प्रत्यक्षीकरण, 'स्कन्दगुप्त' मे प्रपचबुद्धि की शव-साधना, 'विशाख' और 'राज्यश्री' की यक्षवाणी, 'चन्द्रगुप्त' मे शकटार का भूमि-सन्धि तोड़कर सर्प के समान बाहर निकलना और 'ध्रुवस्वामिनी' मे धूमकेतु का उदय मचीय नाटकीयता की दृष्टि

से बडे सशक्त एव प्रभावी दृश्य है। 'चन्द्रगुप्त' मे दो बार मंच पर व्याघ्र की अवतारणा भी ऐसा ही आकर्षण रखती है। अग्निदाह का रोमांचक दृश्य 'नागयज्ञ' का प्रमुख मचीय आकर्षण है—आरभ मे खाडवदाह और अन्त मे नागयज्ञ। 'विशाख' मे राजप्रासाद मे आग लगायी गयी है और 'अजातशत्रु' मे मागन्धी के जलते हुए महल की लपटें दिखायी देती हैं। 'कामना' मे द्वीपवासियो का विलास के प्रभाव मे आकर जगल मे आग जलाकर मास भूनना भी एक ऐसा ही यथार्थवादो दृश्य है। चिता का दृश्य 'स्कन्दगुप्त' मे भी है। 'चन्द्रगुप्त' मे रक्त को लालिमा का वातावरण प्रधान है। समुद्रतट, जल-सन्तरण एव डूबने के दृश्य भी यथास्थल रखे गये है। विलास और लालसा की नाव 'कामना' के उद्वेलित समुद्र मे उलटकर डूब जाती है। 'स्कन्दगुप्त' का नायक कुभा के अनर्गल जलप्रवाह मे अश्वो और सैनिको के साथ बह जाता है। 'चन्द्रगुप्त' के अनेक दृश्य नदी तट और समुद्र से सम्बन्धित हैं। 'राज्यश्री' की आकस्मिक आधी भी कम नाटकीय नही। अन्धकार का वातावरण 'अजातशत्रु' मे श्यामा-शैलेन्द्र, 'स्कन्दगुप्त' मे प्रपंचबुद्धि की श्मशान-साधना और कुभा की बाढ़ मे स्कन्द के बह जाने के प्रसगो मे नाटकीय रहस्य और कौतूहल की सृष्टि करता है। षडयन्त्र और चाणक्य की नीति-लता के पनपने के लिए भी एक अन्धकार चाहिए, जो प्राकृतिक तम से कही अधिक भयावह और अभेद्य होता है। आकस्मिक दृश्यो मे स्कन्द का देवकी को बचाने के लिए द्वार तोडकर घुस आना, चन्द्रगुप्त का इसी प्रकार चाणक्य को बन्दीगृह से मुक्त करने के लिए आ जाना, विजया के भूमि-गर्भ मे छिपे रत्नगृह का प्रकट होना, नागो की आहुति के समय पहाडी मे से एक गुफा का मुंह खुल जाना आदि सामाजिको के लिए यथेष्ट रोमाचक एव चमत्कारी है।

युद्ध और हत्या का वातावरण तो प्रत्येक नाटक मे है। मूर्च्छा से सम्बन्धित दृश्यो का भी प्रसाद के नाटकों मे विधान किया गया है। आतंक और रोमाच की सृष्टि मे इस दृश्य का महत्व रक्तपात से कम नही। राज्यश्री, चन्द्रलेखा, विम्बसार आदि पात्र मच पर आकस्मिक आघात से मूर्छित होते दिखाये गये हैं। 'स्कन्दगुप्त' मे तो देवकी की सहसा मृत्यु ही हो जाती है। इस प्रकार प्रसाद के नाटको मे प्रभावशाली दृश्यों का बाहुल्य है। किन्ही नाटकों मे इस प्रकार के प्रभावशाली दृश्यो की शृंखला ही रच दी गयी है, जिससे दर्शक देर तक उसके रोमाचक प्रवाह मे बहता चला जाता है। 'कामना', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' मे यह विशेषता सर्वाधिक है। 'कामना' का तो समग्र दृश्य-विधान ही एकान्वयी एवं शृंखलाबद्ध है। 'स्कन्दगुप्त' का पहला अंक इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। 'चन्द्रगुप्त' के प्रथमांक मे कुछ अन्तराल के साथ आकर्षक दृश्यों की मालिका मिलेगी।

दृश्यों के बाहुल्य को लेकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनमे से बहुतेरे क्रिया वेगरहित, अनाटकीय एवं फालतू हैं। बहुधा उनमें सूच्य कथांश रखा गया है,

जिसे साधारण चरित्र अपने सवादो मे प्रस्तुत करते हैं। ये दृश्य अधिकतर पथो से सम्बन्धित है—कभी नगर पथ कभी राजपथ और कभी वन-पथ। वस्तुत कथा-भार के कारण प्रसाद को बहुत सी अवान्तर घटनाओ को सूच्य रूप मे रखना पडा है। इन सूचनात्मक दृश्यो को निष्प्रयोजन नही कहा जा सकता, क्योकि कथानक एव कथ्य की समग्र परिकल्पना के प्रत्यक्षीकरण मे उनकी अपनी भूमिका होती ही है। यह अवश्य है कि उनके लिए अतिरिक्त दृश्य-विधान उतना आवश्यक नही लगता उन्हे प्रमुख दृश्यो का सवादाश भी बनाया जा सकता था। मचीय दृष्टि से उनकी यह उपयोगिता अवश्य है कि बहुधा वे अगले दृश्य की सज्जा के लिए अवकाश दे देते है और दर्शक के सामने कुछ न कुछ अभिनय चलता रहता है। उदाहरणार्थ 'स्कन्दगुप्त' के प्रथमाक मे दूसरे तथा चौथे दृश्य क्रमश राजपरिषद् एव अन्त पुर के सुसज्जित प्रकोष्ठ के है। इनके बीच का अर्थात् तीसरा दृश्य पथ का है जिसमे मुद्गल, मातृगुप्त एवं धातुसेन के सवादो के माध्यम से सूचनाए मिलती है एव वस्तुस्थिति के आन्तरिक सत्य की व्यजना होती है। यह दृश्य फालतू कहा जा सकता है, किन्तु इसके कारण प्रकोष्ठ की सज्जा का अवसर भी रगकर्मी को मिल जाता है। 'नागयज्ञ' तथा 'चन्द्रगुप्त' मे ऐसे दृश्यो का बाहुल्य है। कुछेक दृश्य केवल शील-वैचित्र्य की दृष्टि मे रख दिये गये हैं, जैसे 'नागयज्ञ' मे दामिनी के शील-विप्लव एव गुरुकुल मे छात्रो के वार्तालाप से सम्बन्धित दृश्य। 'चन्द्रगुप्त' मे भी दो ब्रह्मचारियो का व्यजनात्मक वार्तालाप रखा गया है, किन्तु वह दृश्याश के रूप मे है, स्वतन्त्र दृश्य नही। परिषद् एव सास्कृतिक बहस के दृश्य अवश्य नाटकीय दृष्टि से अनुपयोगी है, किन्तु वे कथ्य का सम्पोषण अवश्य करते है। प्रसाद के युग मे ऐसे दृश्यो को अवश्य अतिरिक्त कहा जा सकता था—किन्तु आज के रगकर्मी को इस विषय मे शिकायत करना वाजिब नही, जबकि नाटक मे क्रिया व्यापार का तिरस्कार करके गोष्ठी वार्ता या विचिन्तन की स्थिति को ही पेश कर देना अलम समझा जाने लगा है। प्रसाद ने स्वय दृश्य-विधायक सवादो की योजना करके इस दिशा में पहल की थी। प्राय. सभी नाटको मे प्राकृतिक वातावरण एव विराट दृश्यो को सवादो से सकेतित करने की पद्धति का प्रयोग मिलेगा। 'अजातशत्रु' मे मागन्धी के जलते हुए प्रासाद की लपट को सूचित कर दिया गया है।

'कामना' मे अरुणोदय, समुद्र, पवन आदि के दृश्यो को प्राय: ही सवादीय प्रत्यक्षता दी गयी है। 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य का एक वाक्य—'वह सामने कुसुमपुर है'—दृश्यविधान के लिए पर्याप्त है। 'स्कन्दगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' मे ऐसे स्थलो की बहुलता है। अधिकतर प्रसाद ने स्वगत को दृश्यविधान का माध्यम बनाया है।

पात्रो का बाहुल्य भी कथाविस्तार के कारण हो गया है। प्रसाद जीवन को उसकी वास्तविकता एवं समग्रता मे प्रस्तुत करना चाहते थे, अतः इसके लिए भी उन्हे व्यापक चरित्र-सृष्टि करनी पडी है। एक ही स्तर के अनेक चरित्रो की सर्जना करके

वे उनके सूक्ष्म प्रवृत्तिगत विभेद को दिखाना चाहते थे। इसमे उन्होने यथाप्रसग नाटकीय चमत्कार भी उत्पन्न करना चाहा है। 'अजातशत्रु' मे मागन्धी, श्यामा एवं आम्रपाली के व्यक्तित्वो का एकीकरण इसका एक सुन्दर उदाहरण है। राजकुमार विरुद्धक एवं दस्यु शैलेन्द्र को भी इसी प्रकार एक पात्र के दुहरे व्यक्तित्वो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है 'राज्यश्री' मे शान्तिभिक्षु और विकटघोष की एकता भी कम नाटकीय नही। इन युक्तियो के बावजूद इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि प्रसाद के नाटको मे समस्तरीय पात्रों की अधिकता है, जिससे मचीय एकरसता उत्पन्न होती है। वस्तुतः इस प्रकार का वैविध्यपूर्ण शीलवैचित्र्य विदग्ध सामाजिक की अपेक्षा रखता है, जो उनके सूक्ष्म विभेद को समझ सके। आज के रगमच और उसके दर्शकों के लिए इसके प्रस्तुतीकरण मे कोई असुविधा नही होगी।

गीतो का बाहुल्य भी नाटकीय दृष्टि से चिन्त्य है। नर्तकियो से सम्बद्ध गान तो ठीक हैं, किन्तु आधिकारिक कथा को आगे बढानेवाले मुख्य पात्र जब सहसा ही विशुद्ध साहित्यिक गीत गाने लगते हैं, तब नाट्य-व्यापार अवश्य शिथिल हो जाता हैं। प्रसाद के कवि-व्यक्तित्व की इसे एक कमजोरी ही कह सकते है। बहुत से गीत केवल युग-बोध के विचार से रख दिये गये हैं। देशप्रेम से सम्बन्धित कविताएँ प्रायः सभी नाटकों मे हैं और उनका सन्दर्भ सामयिक है। सबसे अधिक खटकते है वे पद्य, जो भक्तिभाव एवं दार्शनिक विचारणा का भार ढोते हैं। 'विशाख', 'नागयज्ञ' और 'अजातशत्रु' मे ऐसे पद्यो की बहुलता है। इन तथा अन्य आरभिक नाटको मे पद्य-संवाद, स्फुट शेर तथा आनुप्रासिक गद्य-सवाद भी विद्यमान हैं, जो नितान्त अरुचिकर एवं भोंडी नाटकीयता से युक्त हैं। कहना न होगा कि पारसी-मंच का यह प्रभाव प्रसाद की प्रौढतर कृतियों मे कमतर होता गया है। 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' मे वे इस प्रवृत्ति से पूर्णतः मुक्त है नृत्य की स्थिति गीतो की अपेक्षा अधिक नाटकोचित है। एक तो उनका आधिक्य नही है, दूसरे वे प्रेक्षकों का रंजन करने के साथ अगले दृश्य की सज्जा का अवसर दे देते हैं। फिर, सम्राटो और सामन्तो की वस्तुभूमि मे उनका होना देशकाल की दृष्टि से नितान्त औचित्यपूर्ण है। प्रसाद ने इन नृत्यो मे यथोचित वैविध्य भी रखा है। वातावरण एव पात्रीय प्रकृति के अनुरूप नृत्य के आयोजन बदलते रहे हैं। इस दिशा मे प्रसाद ने अध्ययन और मनन भी किया था, जिसका परिचय 'रगमंच' शीर्षक निबन्ध मे पाया जा सकता है।

प्रसाद के नाटक अपने प्रस्तुतीकरण के लिए विकसित 'रगमच' कुशल अभिनेता एवं प्रबुद्ध सामाजिक की अपेक्षा रखते हैं। अभिनेताओं का सुप्रशिक्षित होना सर्वाधिक आवश्यक है, क्योकि अभ्यास एवं संस्कार के अभाव मे प्रसाद की भाषा और उनके सूक्ष्म भावात्मक सम्प्रेष्य को सही मंचीयता नही दी जा सकती। सपाटबयानी

और रूढ़ अंगसचालनों से प्रसाद के कथ्य को सम्प्रेषित नही किया जा सकेगा। 'शार्ट-कट' अपनाने के लिए इन नाटको को पात्र, संवाद, दृश्य एव गीतों के क्षेत्र मे 'कट-शार्ट' किया जा सकता है, किन्तु उससे नाटककार की निजी परिकल्पना का विचत रूप ही सामने रखा जा सकेगा। नाटककार अपनी नाट्यकृति का प्रथम दर्शक स्वय होता है, अत उसकी दृष्टि से उसे देखने-समझने के लिए यथावत् प्रस्तुतीकरण ही सगत कहा जाएगा।

आरम्भिक रचनाएँ एकाकी रूपक

प्रसाद ने अपनी नाट्य-सर्जना का समारम्भ एकाकी रूपको से किया है। जिस प्रकार अपनी आरंभिक कविताओ मे परम्परा से जुडे रहकर उन्होने विकास की समावनाओ की खोज का प्रयास किया है, उसी प्रकार इन आरभिक रूपको मे उनकी परम्पराश्रयी प्रयोगशीलता लक्षित होती है। प्रयोग-काल मे अधिक वस्तु-भार लेकर चलना प्रायः विपरिणाम की सृष्टि करता है। प्रसाद इस व्यावहारिक तथ्य से सुपरिचित थे, अत आरम्भ-युग मे वे किसी एक प्रसग या घटना पर केन्द्रित हुए। आगे चलकर धीरे-धीरे उनके नाटको मे नव्य नाट्यशिल्प की समावनाओ के चरितार्थ होने के साथ-साथ वस्तुभार बढ़ता गया है और लेखक उसकी सरचनात्मक अन्विति का निर्वाह अधिकाधिक कौशल के साथ करता रहा है। नाट्य शिल्प की विकास-प्रक्रिया के विचार से एकाकी रूपको—'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' और 'प्रायश्चित' को प्रथम सोपान पर रखा जा सकता है, जिनमे समसामयिक ढग के सवादात्मक प्रस्तुतीकरण की सामान्यता और सविधानक के स्तर पर परम्परागत नान्दीपाठ, सूत्रधार, भरत-वाक्य आदि की उपयुक्तता व अनुपयुक्तता के विषय मे नाटक कार की द्विविधापूर्ण मन. स्थिति मिलेगी। दूसरे सोपान पर 'राज्यश्री' और 'विशाख' को रखा जा सकता है, जिनमे सक्रमण की प्रवृत्ति उभरकर सामने आती है और भावी सर्जना के आयाम उद्घाटित होते है। परम्परा की अप्रासंगिक और महत्वहीन पद्धतियो के परित्याग और युगीन प्रचलन के बीच युगानुरूप शिल्प के अभिनिवेश की प्रक्रिया यहाँ देखी जा सकती है। तीसरे और अन्तिम सोपान पर 'अजातशत्रु' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक समस्त परवर्ती कृतियाँ रखी जा सकती हैं, जिनमे लेखक का नाट्यशिल्प उसकी निजी विशेषता के साथ उद्भासित है। इस स्तर पर प्रयोगधर्मी बहुमुखता एवं परम्परा व नवीनता के द्वन्द्व निःशेष हो चुके हैं और प्रसाद अपनी प्रकृत सर्जन-भूमि मे आ गए हैं। व्यंजकता, जो प्रसाद की विशिष्टता है, भी इन परवर्ती कवियो मे उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और ध्रुवस्वामिनी' मे समसामयिक राजनीति और सामाजिकता के स्वर विशेष परिस्फुट हैं।

सज्जन

'सज्जन' प्रसाद का प्रथम एकाकी है। इसका प्रकाशन 'इन्दु' मे १६१०-११ में हुआ और फिर 'चित्राधार' मे इसे संकलित किया गया। इसका घटना-प्रसग महा-

भारत का है। दुर्योधन की दुष्टता से बारम्बार प्रवचित और प्रताडित होने पर भी धर्मराज युधिष्ठिर की सज्जनता मे फर्क नही पडता और वे चित्रसेन गन्धर्व द्वारा दुर्योधनादि के बन्दी बना लिए जाने पर अर्जुन को उनकी मुक्ति के लिए युद्ध करने का आदेश देते हैं। आरभ नान्दीपाठ और सूत्रधार व नटो के वार्तालाप से होता है। नाटक पाच दृश्यो मे लिखा गया है। समाप्ति विद्याधरियो के भरतवाक्य से होती है।

यह घटनाप्रधान एकाकी है, अतएव वस्तुविन्यास की दृष्टि से इसमे कुछ भी उल्लेखनीय नही। प्रमुख घटना युधिष्ठिर के उदार क्षमा-भाव का प्रदर्शन है जिसकी ओर सारा प्रसग-प्रवाह निर्विशेष सरलता और सहजता के साथ शीघ्रता से बढ़ जाता है। जिस प्रकार परिस्थितियो का आरोहावरोह यहाँ नही है, उसी प्रकार चरित्र-विधान की जीवन्त भूमिकाओ का भी इसमे अभाव है। केवल युधिष्ठिर की सज्जनता का ही परिचय इसमे मिलता है और यही लेखक का अभीष्ट भी है। कर्ण की वीरता, दुर्योधन व दु शासन का दौर्मनस्य एव शकुनी की दृष्टिकूट-बुद्धि के हलके सकेत मिलते हैं। इसी प्रकार अर्जुन के पराक्रम और चित्ररथ की सदाशयता का भी चरित्र-गुण की सीमा तक प्रसार नही हो पाता। पद्यात्मक सवादो की बहुलता है। पारसी थियेटरो की यह पद्धति भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी नाटको मे मिलती है। इसके पद्य ब्रजभाषा मे हैं और इनमे नाटकोचित स्थिति-स्थापकता के स्थान पर स्वतत्र कवित्व की ही विशेषता मिलेगी। गद्य सवाद सामान्य बोलचाल की भाषा मे हैं और उनमे कवित्व व भावुकता का अभाव है जो आगे चलकर प्रसाद के सवादो की निजी विशेषता बन गये हैं। इस रूपक का वस्तुविषय यद्यपि शान्त रस का सकेत देता है, किन्तु प्रधानता इसमे वीरोत्साह की ही है। नान्दीपाठ, प्रस्तावना और भरत-वाक्य इसे परम्परा से जोडते है। विदूषक का भी रूप परम्परागत ही है। प्रस्तावना मे इस रूपक को लघु-प्रबन्ध कहा गया है।

कल्याणी परिणय

'कल्याणी-परिणय' का प्रकाशन १९१२ मे 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे हुआ था। इसका घटना-वृत्त इतिहास से लिया गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य से सिल्यूकस का पराजित होना और उसकी पुत्री कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का परिणय इसकी दो प्रमुख घटनाएँ हैं जो कारण-कार्य-प्रवाह की दृष्टि से एक ही शृङ्खला की दो कड़िया हैं। प्रथम घटना को नियताप्ति कह सकते हैं और द्वितीय का फलागम। नाटक का आरम्भ कौटिल्य चाणक्य की आत्म-विचारणा और दूरदर्शिनी कूट-बुद्धि की विनियोजनाओ से होता है। उसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि चन्द्रगुप्त उसकी सहायता से विदेशी आक्रामक सिल्यूकस को परास्त करने मे समर्थ हो और दोनो मे मैत्री का सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जाए। अगले दृश्य मे कथा-नायक चन्द्रगुप्त आखेट के अवसर पर सुन्दरियो के प्रति आशसामयी अभिरुचि प्रकट करता है। इसी समय सिल्यूकस के आक्रमण की

सूचना मिलती है और वह अपने सेनापति को प्रतिरोध और प्रत्याक्रमण की व्यवस्था करने का आदेश देता है। सिल्यूकस पराजित होता है और इस दु खमयी व विक्षुब्ध मन स्थिति मे उसे सीरिया पर उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी एन्टिगोनस के आक्रमण की त्रासद सूचना मिलती है। वह सधि-प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है और तदनुसार वह अपनी पुत्री कार्नेलिया, जो प्रथम दर्शन मे ही चन्द्रगुप्त को अनुरक्ता हो गयी थी, का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर देता है। चन्द्रगुप्त मैत्री और सम्बन्ध के प्रमाण के रूप मे उसकी सहायता के लिए अपने सेनापति चण्डविक्रम को नियोजित करता है।

इस एकाकी का कथानक 'सज्जन' की अपेक्षा अधिक नाटकोचित है किन्तु विन्यास-कौशल के निदर्शन की व्यापक भूमि यहाँ भी नही मिलेगी। कथा-धारा की सरल और क्षिप्र गति रूपक की अपेक्षा पुराना घटना-प्रधान कहानी का अधिक निकट-वर्ती गुण है। घटना-प्रवाह की त्वरा मे पात्रो के व्यक्तित्व भी एकागी रूप मे ही उभर सके है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, कार्नेलिया और सिल्यूकस इसके प्रमुख चरित्र हैं। चाणक्य दूरदर्शी, कूटनीतिकुशल और कभी हतोत्साह न होनेवाला कर्मठ ब्राह्मण है। वैयक्तिक स्तर पर वह निर्लिप्त है किन्तु राष्ट्रीय भूमिका मे उसमे जातीयता के प्रति पूरी निष्ठा है। चन्द्रगुप्त वीर और कुशल योद्धा है। साथ ही वह सहृदय, उदार, सौदर्यप्रेमी और व्यवहारकुशल भी है। कार्नेलिया भावमयी युवती है और निर्विकल्प रीझ ही उसके चरित्र का मूल गुण है। सिल्यूकस स्वाभिमानी वीर है। साथ ही व्यवहारकुशल भी है। प्रमुख पात्रो के ये चरित्र-गुण कथा-फलक की लघुता के कारण सकेतित हो हो सके हैं। परवर्ती सर्जन-युग मे प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक की रचना करके मानो इस कमी को ही दूर करने का सार्थक प्रयास किया है। उसमे नाट्य-वस्तु का विस्तार सहजैव चरित्र-विधान की वैविध्यमयी भूमिकाएँ प्रस्तुत कर देता है। इस एकाकी मे भी 'सज्जन' की ही भाँति नान्दीपाठ और भरतवाक्य की योजना मिलती है। सवाद पद्यो मे हैं। वीर रस की इसमे प्रधानता है, शृङ्गार उसके सहकारी रूप मे आया है।

करुणालय

यह एकाकी गीतिनाट्य है। इसका प्रकाशन १६१२ मे 'इन्दु' मे हुआ। फिर इसका सकलन 'चित्राधार' मे हुआ और बाद मे स्वतन्त्र पुस्तक के रूप मे इसे प्रकाशित किया गया। पौराणिक वृत्त को लेकर लिखे गये इस काव्य-नाटक मे पाँच दृश्य हैं। इसमे प्रसाद ने यज्ञो मे होनेवाली हिंसा (नरबलि) का विरोध किया है। अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित के स्थान पर दरिद्र और लोभी ऋषि अजीगर्त के पुत्र शुनःशेफ की बलि देना चाहते है। इसके लिए वे अजीगर्त को सौ गाएँ देते हैं। सौ गाएँ और मिलने के प्रलोभन पर अजीगर्त स्वय अपने हाथो पुत्र की बलि देने के लिए

तैयार हो जाता है। अकस्मात् होनेवाली दैवी प्रताडना (गर्जनयुक्त आकाशवाणी) से यह बलि बाधित हो जाती है और सब शक्तिहीन हो जाते है। विश्वामित्र हिंसात्मक बलि को अनार्य और क्रूर आसुरी कर्म कहते हैं। वे हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा को ही यज्ञ-कार्य को पूर्णता मानते हैं। इसके प्रमाण के रूप मे शुन शेफ के बन्धन स्वत खुल जाते हैं और सभी पुन शक्तिमान हो जाते हैं।

यह गीतिनाट्य अतुकान्त सममात्रिक छन्द मे लिखा गया है जिसमे वाक्यानुसार विराम-चिन्हों का प्रयोग किया गया है। प्रसाद ने सस्कृत (कुलक) अंग्रेजी (ब्लैकवर्स) और बँगला (अमित्राक्षर) के अनुकरण पर हिन्दी मे यह प्रयोग किया था, जा अपने आप मे यथेष्ट सफल रहा। हिन्दी मे मुक्त-छन्द की परम्परा के प्रचलन मे इस रचना का महत्वपूर्ण योगदान है। इसकी वाक्यानुसार विराम-योजना की प्रणाली इसे अतुकान्त संस्कृत वर्ण-वृत्तो से अलग कर देती है। प्रवाह और प्रभाव की दृष्टि से यह पद्धति बडी उपयोगी सिद्ध हुई है। कमयोग और करुणा का जीवनदर्शन इस रचना मे सहज सुन्दर रूप मे व्यक्त हुआ है। प्रवाहशीलता के कारण कथा मे प्रभावान्विति स्वत: आ गयी है।

प्रसाद गीतिनाट्य को प्राचीन राग-काव्य की परम्परा से जोडते है। वे कहते हैं—'अभिनवगुप्त ने गद्य-पद्य मिश्रित नाटको के अतिरिक्त राग-काव्य का भी उल्लेख किया है।··· राघव-विजय और मारीच-वध नाम के राग-काव्य ठक्क और ककुभ राग मे कदाचित अभिनय के साथ वाद्य-ताल के अनुसार गाये जाते थे, ये, प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा मे गीति-नाट्य कहे जाते है।' प्रसाद की इस मान्यता के अनुरूप ही इस रचना मे कवित्व और नाटकीयता का मजुल समन्वय मिलता है। आरम्भ मे प्राकृतिक सौन्दर्य का अकन काव्य-गुण से सम्पन्न है। सवादो की त्वरा, आकस्मिक संयोग का तत्व, आकाशभाषित और इन्द्र की छाया-प्रतिमा आदि इस रचना के सीमित परिदृश्य मे यथेष्ट नाटकीय गुण की सृष्टि कर सके हैं। अपनी सीमा म इसकी घटनाएँ भी आरोहावरोहपूर्ण है। भरत-वाक्य भी इसके अन्त मे है,—इस नवीनता के साथ कि मानो इस मगल-प्रार्थना के ही तात्कालिक प्रतिफल के रूप मे देवी चमत्कार घटित होता है और लेखक के आदर्श की व्यावहारिक सिद्धि के साथ उसकी आधिदैविक-पुष्टि भी हो जाती है। वस्तुत: यह उद्देश्य-प्रधान रचना है अतएव सैद्धान्तिक समर्थन के लिए उन्हे अतिप्राकृतिक अवतारणाएँ भी करनी पडी है। निश्चय ही इससे व्यावहारिक जीवन की वास्तविक सक्रियता को आघात पहुँचा है किन्तु नाटककार अपने कथ्य के सम्प्रेषण व सम्पोषण मे सफल भी बहुत कुछ इसी आधार पर हुआ है। पौराणिक वस्तु-वृत्त होने के कारण कवि की वह एक प्रासगिक विवशता भी थी। प्राचीन यज्ञो की हिंसा-वृत्ति के प्रति यही विरोध-भाव आगे चलकर 'स्कन्दगुप्त' मे व्यापक स्तर पर प्रस्तुत किया गया है किन्तु वहाँ ऐतिहासिक कथा-भूमि होने के कारण

ग्राकस्मिकता ग्रौर ग्राधिदैविकता का ग्रभाव है। 'करुणालय' को ग्रारंभिक युग की एक सफल कृति कहा जा सकता है।

प्रायश्चित

इस रचना का प्रकाशन 'इन्दु' मे १९१४ मे हुग्रा ग्रौर बाद मे इसे 'चित्राधार' में सकलित किया गया। इसमे इतिहास से जुडी हुई एक किंवदन्ती को कथा-प्रसग के रूप मे लिया गया है। पृथ्वीराज व जयचन्द का वैमनस्य ऐतिहासिक तथ्य है। प्रसाद ने इस तथ्य को मूल मे रखते हुए जयचन्द की प्रतिशोध ग्रौर पश्चात्ताप की भावनाग्रो का इस एकाकी मे किंवदन्ती ग्रौर कल्पना के सहारे प्रस्तुत किया है। प्रथम दृश्य मे दो विद्या-धरियो का रात्रि मे रणभूमि मे नदी के कगार पर वार्तालाप दिखाया गया है जिससे यह सूचना मिलती हे कि जयचन्द ने यवनों से ग्रभिसन्धि करके ग्रपने जामाता पृथ्वीराज का सर्वस्वान्त कर दिया है। दूसरे दृश्य मे जयचन्द रणभूमि मे पृथ्वीराज की बुझती हुई चिता के पास रात्रि क ग्रन्धकार मे ग्रपने क्रूर प्रतिशोध की चरितार्थता देखने ग्रौर हिंसक सुख पाने के लिए ग्राता है। इसी समय ग्राकाशवाणी होती है कि उसकी पुत्री सयोगिता पृथ्वीराज के शव के साथ सती हो गयी है। जयचन्द को घोर दुख होता है ग्रौर ग्राकाश वाणी उसे जामातृवध के लिए शत्रु-वध ग्रौर देशद्रोह के लिए ग्रात्मवध का प्रायश्चित पूरा करने की प्रेरणा देती है। तीसरे दृश्य मे कन्नौज के राजभवन मे जयचन्द ग्रपने मन्त्री से यह समाचार पाकर क्षुब्ध ग्रौर क्रुद्ध होता है कि गौरी उसे विजित भूमि ग्रर्थात् दिल्ली का राज्य नही देगा। वह गोरी से युद्ध करने को तैयार होता है। किन्तु सहसा उसे ग्रन्तरिक्ष मे सयोगिता की छाया प्रतिमा उभरती हुई लक्षित होती है ग्रौर वह ग्रर्धविक्षिप्त सा हो उठता है। वह युद्ध की बात भूलकर प्रायश्चित के ही विषय मे विचार करने लगता है। चतुर्थ दृश्य मे मुहम्मद गोरी दिल्ली-दरबार मे ग्रपने सभा-सदो से वार्तालाप करते हुए पृथ्वीराज की वीरता ग्रौर जातीय निष्ठा की प्रशसा करता है ग्रौर जयचन्द के विनाश का निश्चय करता है। पाचवें दृश्य मे जयचन्द को मन्त्री से यह सूचना मिलती है कि ग्रन्य राजा उससे सहयोग करने को तैयार नही है ग्रौर उसकी ग्रपनी सेना का ग्रधिकाँश पिछले युद्ध मे नष्ट हो चुका है। इसी समय चर से गोरी की सेना के कन्नौज की ग्रोर बढते चले ग्राने की सूचना मिलती है। जयचन्द हताश होकर राज्य से विरक्ति प्रकट करता है ग्रौर राजकुमार पर सारा दायित्व ठेलकर प्रायश्चित करने चल देता है। ग्रन्तिम दृश्य मे जयचन्द ग्रपने कुछ सैनिको के साथ गंगातट पर ग्रन्तिम वार्ता करते हुए उनसे शहाबुद्दीन गोरी के वध की प्रार्थना करता है। इस प्रकार पहले प्रायश्चित्त का भार ग्रपने सैनिको पर छोड कर वह गज पर ग्रारूढ होकर गगा मे ग्रात्म- विसर्जन करता है।

प्रसाद के ग्रारंभिक एकाकी रूपको की ग्रन्तिम कडी 'प्रायश्चित' कई दृष्टियो से एक महत्वपूर्ण रचना है। नाट्य-कला की दृष्टि से प्रसाद इस रचना मे पहली बार

विद्याधारी की इस उक्ति मे आत्मगौरव की यह चेतना देखी जा सकती है—'जिस दिन से कोई जाति, अपने आत्मगौरव का अपने शत्रु से बदला लेना भूल जाती है, उसी दिन उसका मरण होता है।' जयचन्द को जो लोक-विगर्हणा मिलती है, वह देशद्रोह के ही कारण है। उसे दो प्रायश्चित्त करने थे—जामातृ-वध के लिए शत्रुवध और देशद्रोह के लिए आत्मवध। अपने गुरुतर या कि गुरुतम अपराध का प्रायश्चित वह स्वय करता है और व्यक्तिगत अविवेक के सम्मार्जन का दायित्व अपने उत्तराधिकारी को सौप देता है।

प्रसाद का यह पहला चरित्र-प्रधान रूपक कहा जा सकता है। जयचन्द इसका प्रधान पात्र या नायक है और उसी के चरित्राकन पर लेखक केन्द्रित है। कथा की इतनी अल्पावधि मे उसके चरित्र का जैसा आरोहावरोह और उसके मनोद्वन्द्व का जैसा उतार-चढाव प्रस्तुत किया गया है वैसा अन्यत्र कम ही मिलेगा। व्यक्ति-वैलक्षण्य पर आधारित द्वन्द्वमय चरित्राकन की जो विशेषता प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ नाटक 'स्कन्दगुप्त' का प्राण-तत्व है वही इस रूपक की भी अन्त. प्रेरणा है किन्तु जीवन की उतनी विशद और जटिल भूमिका न होने के कारण यहाँ वह उतनी मुखर नही हो सकी है। जयचन्द प्रतिशोधान्ध है, अविवेकी है, कुचक्री है, देशद्रोही है किन्तु है वह महान्। जितना भीषण उसका प्रतिशोध है, उससे कम निर्दय उसका प्रायश्चित्त नही। उसका आत्मविसर्जन स्कन्दगुप्त के आत्मविसर्जन के समान मन पर छा तो नही जाता, किन्तु उसे कही छू अवश्य लेता है।

भाषा के स्तर पर लेखक ने पात्रानुरूप शब्द योजना का भी इसमे प्रयोग किया है, किन्तु यह कसौटी पर खरा नही उतरा। चौथे दृश्य मे मुहम्मद गोरी और उसके सभासदो के वार्तालाप मे अरबी-फारसी शब्दो का बाहुल्य नाटकीय गुण के स्थान पर व्याघात की ही सृष्टि करता है। स्वय प्रसाद को यह पद्धति नही रुची और दुबारा उन्होने इसका उपयोग नही किया। इस प्रसग मे यह भी ज्ञातव्य है कि प्रसाद भाषा की एकतन्त्रता के प्रबल पक्षधर थे। यथार्थवाद के नाम पर नाट्यभाषा को सरल तथा पात्रानुरूप बनाने की माग को उन्होने कभी प्रोत्साहन नही दिया। ऐसा लगता है कि उन्होने इस माग की विडम्बना प्रत्यक्ष करने के लिए ही इस रचना मे उसका नमूना रख दिया है।

———

संक्रमणयुगीन कृतियाँ

इस वर्ग मे 'राज्यश्री' और 'विशाख' को रखा जा सकता है जिनमें प्रसाद की नाट्यकला अपने रूप का विस्तार एव निर्धारण करती है। वस्तु और शिल्प दोनो ही दृष्टियो से नाटककार व्यापकतर प्रयोग कर रहा है और अपने प्रकृत नाट्यशिल्प की दिशाएँ खोज रहा है। आरम्भिक एकाकी रूपको मे उसने इस दिशा मे प्रयास और अभ्यास किया था, अब वह प्रयोग की भूमिका में आ गया है। अब वह एकाधिक घटनाओ वाले कथा-प्रसग चुनता है, उनके सम्यक् निर्वाह की नाटकीय व्यवस्था का ध्यान रखता है, वैविध्यमयो भूमिकाओ मे चरित्रा की प्राणप्रतिष्ठा करता है, सघर्ष और विरोधों के बहुक्षेत्रीय सूत्रो का संचयन करता है और समग्र रूप मे उन्हे नाटकीय औचित्य और परिणति देने का प्रयास करता है।

राज्यश्री

'राज्यश्री' का प्रकाशन 'इन्दु' मे १९१५ मे हुआ था। फिर इसे 'चित्राधार' मे संकलित किया गया और बाद मे इसे स्वतन्त्र पुस्तक का रूप मिला। इसके प्रथम संस्करण के बाद इसके रूपाकार मे परिवर्तन-परिवर्धन किया गया है। लेखक के मतानुसार 'उस समय यह अपूर्ण ही सा था, इसका वर्तमान रूप कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है।' इसके प्रथम संस्करण मे तीन अक थे, वर्तमान रूप मे चार अक है। कथानक और घटनाक्रम पहले जैसा ही है। बीच-बीच मे कुछ दृश्य जोडे गये है और कुछ नवीन पात्र भी लाये गए है। प्रथम संस्करण मे नान्दीपाठ था जिसे बाद मे हटा लिया गया। इसी प्रकार पद्यात्मक कथोपकथन भी परवर्ती सस्करण मे हटा दिया गया है। संवादो का रूप प्रथमावृत्ति मे अव्यवस्थित और लचर था। यह दोष भी दूर करने का प्रयास किया गया है। कवित्व और अभिव्यक्ति की वक्रता भी बाद के सस्करण मे आ गई है। यह परिशोधन लेखक की प्रयोगशील और प्रगतिमुखी मनोदृष्टि का परिचायक है और इसमे सन्देह नही कि सशोधित रूप मे यह नाटक एक महत्वपूर्ण और स्तरीय कृति बन गया है।

प्रसाद इसे 'अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक' मानते हैं। इससे पूर्व उन्होंने पौराणिक प्रसंगों और इतिहास से जुडी हुई किंवदन्तियों को कथानक के रूप मे चुना था। 'राज्यश्री' मे वे व्यापक रूप मे इतिहास का आधार लेते हैं। 'राज्यश्री' और हर्षवर्धन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ का आधार हर्षवर्धन के राजकवि बाण का 'हर्षचरित' और चीनी यात्री सुएनच्वाग का वर्णन है। इस नाटक की प्रमुख घटनाएँ

प्रभाकरवर्धन के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन का थानेश्वर के सिंहासन पर बैठना, उसकी बहन राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा की मालवाधिपति देवगुप्त द्वारा हत्या और राज्यश्री का बन्दी बनाया जाना, राज्यवर्धन का मालव पर आक्रमण, गौड़ाधिप शशाक या नरेन्द्रगुप्त द्वारा छलपूर्वक राज्यवर्धन की हत्या, कन्नौज पर शशाक का अधिकार और उसका राज्यश्री को कारागार से मुक्त करना, राज्यवर्धन के अनुज हर्षवर्धन का शशाक से प्रतिशोध लेने के लिए सेना सहित प्रयाण किन्तु मार्ग मे सेनापति भण्डि से राज्यश्री के मुक्त होकर विन्ध्य-पर्वत की ओर जाने की सूचना पाकर उनका राज्यश्री की खोज मे निकल पडना, हर्षवर्धन का दिवगत ग्रहवर्मा के बाद बौद्ध सन्यासी दिवाकरमित्र की सहायता से राज्यश्री से मिलना आदि इतिहास-सम्मत हैं। राज्यश्री की बौद्ध धर्म मे अभिरुचि, हर्षवर्धन के राज्यकाल मे कन्नौज की महती धर्मसभा, प्रयाग का महादान-महोत्सव, हर्ष का प्रथा-निर्वाह के रूप मे सर्वस्वदान आदि भी ऐतिहासिक तथ्य हैं। चीनी यात्री सुएनच्वाग और हर्षवर्धन की हत्या के प्रयत्न भी इतिहास से अनुमोदित हैं। सभी प्रमुख पात्र भी ऐतिहासिक है। इतिहास के इस ढाचे को प्रसाद ने अपनी कल्पना के सस्पर्श से सजीव बना दिया है? सुरमा और विकटघोष जैसे पात्रो और उनसे जुडी हुई घटनाओ की कल्पना इस कृति की नाटकीयता मे कितनी महत्वपूर्ण भूमिका रखती है, यह कहने की आवश्यकता नही। राज्यश्री का अन्त मे काषायधारिणी बने रह जाना भी प्रसाद की कल्पना है जो उसके चरित्र-निर्माण और अन्तिम प्रभाव के स्थायित्व की दृष्टि से सर्वथा सराहनीय है। 'हर्षवर्धन के जीवन का अन्तिम दृश्य इसमे नही लिया गया है, क्योकि इस रूपक का उद्देश्य है राज्यश्री का चरित्र-चित्रण।'

नाटक का आरभ सीधे शान्तिदेव और सुरमा के वार्तालाप से होता है जिससे शान्तिदेव की राज्यश्री के प्रति आसक्ति की सूचना मिलती है। यह आसक्ति ही कथागत घटनाओ के विकास और उलझाव का मूल कारण है। नान्दी पाठ और प्रस्तावना की पारम्परिकता से मुक्त होकर प्रसाद ने अब सीधे वस्तु परिचय का निजी पद्धति विकसित कर ली है। नाटक चार अको का है और इसमे क्रमश· दृश्य कम होते गये हैं। पहले अंक मे सात दृश्य है और अन्तिम मे चार। पहले अंक की प्रमुख घटनाए है मालवाधिपति देवगुप्त की मालिन सुरमा से मैत्री, उसकी राज्यश्री के प्रति आसक्ति तथा तदर्थ कुचक्र रचना, राज्यश्री द्वारा शान्तिदेव की भर्त्सना, विजय की मागलिक प्रार्थना के अवसर पर प्रतिमा का अट्टहास और उसके कारण अर्ध-विक्षिप्त सी राज्यश्री का देवगुप्त की वन्दिनी बन जाना। दूसरे अक मे शान्तिदेव दस्यु विकटघोष के रूप मे प्रकट होता है, कपटपूर्वक सेनापति भण्डि के गुल्म मे शामिल हो जाता है और राज्यश्री का अपहरण कर लेता है। देवगुप्त युद्ध मे राज्यवर्धन के हाथो मारा जाता है। तीसरे अक की घटनाए हैं— नरेन्द्रगुप्त शशाक के कुचक्र मे शामिल विकटघोष द्वारा राज्यवर्धन की

हत्या, चीनी यात्री सुएनच्वांग का विकटघोष और उसके साथी दस्युओं से बचना, मरणाकांक्षिणी राज्यश्री का बौद्ध संन्यासी दिवाकरमित्र के आश्रम मे वास, हर्षवर्धन का पुलकेशिन् की सन्नद्धता और वीरता से प्रसन्न होकर युद्ध बन्द करना और राज्यश्री से मिलकर उसके साथ सर्वस्वदान के लिए कृतसकल्प हो जाना। अन्तिम अंक मे हर्षवर्धन और राज्यश्री बुद्धप्रतिमा के समक्ष सर्वस्वदान करते है। दुरात्मा विकटघोष को इस अवसर पर राज्यश्री सार्वजनिक रूप से क्षमा करती है। हर्षवर्धन सबके कहने से मुकुट और राजदण्ड धारण कर लेता है और राज्यश्री काषायधारिणी बनी रह जाती है। माँगलिक प्रार्थना से नाटक की समाप्ति होती है।

'राज्यश्री' प्रसाद का चरित्र-प्रधान ऐतिहासिक रूपक है। प्रसाद ने ऐतिहासिक वस्तुवृत्त के माध्यम से भारतीयता के स्वाभिमान और गौरव के परिदृश्य प्रस्तुत किए हैं और इस प्रस्तुतीकरण की परम्परा का सूत्रपात्र सही अर्थों मे इसी नाटक से होता है। हर्षवर्धन (शासन० ६०५-६४७ ई०) का समय भारतीय इतिहास का एक आलोकमय अध्याय है। उसके शासनकाल मे साहित्य, कला और धर्म का विशेष उत्कर्ष हुआ था। प्रसाद ने इस नाटक मे भारत को धर्मगत महानता-करुणा और क्षमा का आदर्श प्रस्तुत किया है और उसका माध्यम हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री को बनाया है। राज्यश्री इस रूपक मे प्रधान चरित्र है। परवर्ती युग मे इसी प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना नारी-पात्र को केन्द्र मे रखकर की गयी है। अन्य ऐतिहासिक रूपको मे भी उन्होने नारी को महत्वमयी भूमिकाएँ दी हैं।

नारीत्व की सार्थकता वे करुणा, त्याग, ममता तथा समर्पण मे देखते है और उनके आदर्श नारी चरित्र इन मानवीय गुणो से विभूषित है। दूसरी ओर नारी की पतनशीलता का आधारभूत कारण वे महत्वाकांक्षा मानते हैं, जो उसके वैयक्तिक पतन के साथ-साथ व्यापक सघर्षों का सूत्रपात करती है। नारी के स्वाभिमान के प्रश्न को महत्वाकांक्षा से अलग करके देखना होगा। प्रसाद नारी के आत्मगौरव के प्रबल पक्षधर हैं, यहां तक कि राष्ट्रीय स्वाभिमान का दायित्व भी उन्होने उसके कन्धो पर तेजस्वी वीर पुरुषों के ही समान रख दिया है, किन्तु क्षुद्र स्वार्थबुद्धि से परिचालित अहंभाव को उन्होने सदैव उसका चरित्र-विघातक माना है। प्रस्तुत नाटक मे उनकी ये मान्यताएं पहली बार उभर कर सामने आयी हैं। राज्यश्री आदर्श नारी-चरित्र है और उसमे त्याग और करुणा की वृत्तिया चरम उत्कर्ष तक पहुँची हुई हैं। वह अपने को अपमानित करने वाले और अपने भाई राज्यवर्धन के हत्यारे विकटघोष तक को प्राणदान देती है। आत्मगौरव, तेजस्विता और चारित्रिक दृढता भी उसमे है। देवगुप्त के प्रत्याख्यान मे उसके ये गुण भली प्रकार प्रकट हो जाते हैं।

नारी का दूसरा रूप सुरमा मे देखा जा सकता है। अपनी चंचलता और महत्वाकांक्षा के कारण वह देवगुप्त की प्रणयिनी बनती है और फिर विकटघोष के साथ

भयानक दुष्कर्मों मे संलग्न होती है। अन्ततः राज्यश्री की अपार करुणा उसके मन का परिष्कार करती है और वह भिक्षुणी बन जाती है। पुरुष पात्रो में हर्षवर्धन, विकटघोष, राज्यवर्धन, देवगुप्त और दिवाकर मित्र प्रमुख हैं, किन्तु नाटककार की दृष्टि राज्यश्री पर केन्द्रित होने के कारण इनके व्यक्तियो की मोटी रेखाएं ही उभर सकी है। इनमे विकटघोष सर्वाधिक जीवन्त चरित्र है। अपनी अवमानना के प्रतिशोध और महत्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए वह भिक्षु शान्ति देव से दस्यु विकटघोष बनता है और अपहरण व हत्या के क्रूर कुकर्म करता है। अन्त मे राज्यश्री के प्रभाव से उसका हृदय-परिवर्तन होता है। 'अजातशत्रु' मे इसी प्रकार विरुद्धक भी शैलेन्द्र बनकर नाटकीय रोमाचकता उत्पन्न करता है। हर्षवर्धन तेजस्वी वोर सम्राट् है। उसमे राष्ट्र की सुरक्षा का प्रबल भाव है। चालुक्य की सन्नद्धता और वीरता से सन्तुष्ट होकर वह युद्ध बन्द कर देता है। राज्यश्री के प्रभाव से वह सर्वस्व-दान करता है और अन्त मे उसी के समर्थन से वह पुन. राजदण्ड धारण करता है। राज्यवर्धन तेजस्वी वीर पुरुष है। अपनी सरलता के कारण वह छल से मारा जाता है। देवगुप्त कुचक्री और व्यभिचारी है। दिवाकरमित्र आदर्श-बौद्ध-तपस्वी है, जो भ्रान्त प्राणियो का पथ प्रदर्शन करता है। सुएनच्वाग धर्मप्राण चीनी यात्री है जो राज्यश्री और हर्ष की उदारता और धर्मनिष्ठा से अभिभूत होता है। नरेन्द्रगुप्त ईर्ष्यालु प्रकृति का महत्वाकाक्षी एवं कुचक्री युवक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस नाटक मे राज्यश्री का ही चरित्र मुख्य रूप से अकित किया गया है। अन्यपात्रो की प्रासगिक व एकपक्षीय विशेषताए ही प्रकाश मे आ सकी है। इसका बहुत कुछ दायित्व कथानक की लघुता पर भी है। फिर भी, चारित्रिक वैचित्र्य तो इसमे है ही। परवर्ती नाटको मे जिन यथार्थ, मानवीय व सास्कृतिक मूल्यो के आधार पर व्यापक चरित्र-विधान किया गया है, वे इसके पात्रों मे पहली बार स्फुरित होते हैं। राज्यश्री, सुरमा, हर्ष, विकटघोष, देवगुप्त व दिवाकर-मित्र प्रसाद के प्रत्येक ऐतिहासिक नाटक मे मिलेंगे।

सघर्ष और षड्यन्त्र का ताना-बाना भी इस रूपक मे पहली बार प्रसाद ने बुना है। कथानक छोटा होने के कारण विरोध पक्ष को प्रबल बनाने वाले सूत्र यहाँ कम हैं, किन्तु उनके जुडने की वही प्रक्रिया इसमे मिलेगी जो परवर्ती नाटको मे है। देवगुप्त, शशाक और विकटघोष तीन विरोध-बिन्दु हैं, जो यथावसर मिलकर कुचक्र को सघनता व त्वरा देते हैं। धर्म की धारा भी इससे जुडी हुई है, किन्तु उसका आदर्शात्मक पक्ष अधिक प्रबल है। दुरभिसन्धि, अपहरण और हत्या का रोमाचक वातावरण अन्त तक चलता है, जिस पर राज्यश्री की करुणा विजयिनी होती है। अतिप्राकृत घटनाए भी इस रोमाचकता मे योग देती है। सुएनच्वांग की बलि के अवसर पर सहसा आधी और अन्धकार का घिरना नाटकीयता की सृष्टि करता है। देवप्रतिमा सा ठठाकर हंसना भी कम नाटकीय नही। इस घटना की वास्तविकता से अवगत होने पर भी इसका

नाटकाय प्रभाव कम नहो होता। चरम सीमा, जो प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको की निजी विशेषता है, भी इसमे विद्यमान है किन्तु वह सघर्ष की न होकर प्रधान पात्र के आधारभूत चरित्र-गुण की है। विकटघोष जैसे जघन्य अपराधी का राज्यश्री द्वारा क्षमा किया जाना ही इसमे चरम सीमा के रूप मे है। बीज और बिन्दु, यदि इन पारिभाषिक शब्दो को लिया ही जाए तो, भी इसी के अनुरूप शान्ति भिक्षु की राज्यश्री के प्रति आसक्ति और राज्यश्रो द्वारा उसकी अवमानना के रूप मे देखे जा सकते हैं। विरोध के सभी प्रमुख सूत्र प्रथम अंक मे ही सामने आ जाते है और सुनिश्चित दिशा ग्रहण कर लेते हैं। निश्चय ही यह नाटक प्रसाद के भावी नाट्यशिल्प की प्रथम पुष्ट भूमिका है।

विशाख

'विशाख' का प्रकाशन १९२१ मे हुआ। प्रसाद ने इसमे प्रथम शताब्दी के आस पास की एक ऐतिहासिक घटना को कथानक के रूप मे लिया है। परिचय मे वे लिखते हैं—'भारत के प्राचीन इतिहास की जैसी कमी है वह पाठको से छिपी नही है। यद्यपि धर्मग्रन्थो मे सूत्र-रूप से बहुत सी गाथाए मिलती हैं किन्तु वे क्रमबद्ध और घटना-परम्परा से युक्त नही हैं संस्कृत साहित्य मे इतिहास नाम से लब्धप्रतिष्ठ केवल राजतरगिणी नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। कल्हण पडित ने अपने पूर्व के कई इतिहासो का और उनके लेखको का उल्लेख किया है पर वे अब नही मिलते। यह नाटक राजतरंगिणी की एक ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है।' लेखक के निर्देशानुसार इस नाटक का इतिवृत्त कल्हण की 'राजतरंगिणी' से लिया गया है और उसमे नाटकीय अपेक्षा का ध्यान रखते हुए कल्पना का पुट दिया गया है। प्रेमानन्द, महापिंगल आदि कतिपय पात्र और कुछ घटनाएँ, जैसे अन्त मे राजा नर का जीवित रहना, चन्द्रलेखा को विहारध्वंस के मूल मे रखना आदि काल्पनिक है।

इतिहास मे कल्पना का यह औचित्यपूर्ण अभिनिवेश प्रसाद की विशिष्टता है। वे ऐतिहासिक देशकाल की सहजता सुरक्षित रखते हुए अपेक्षित नाटकीय वातावरण की सृष्टि करने मे कुशल है। उनकी यह विशेषता 'राज्यश्री' की ही भाँति 'विशाख' मे भी परिलक्षित होती है। सक्रमण-युग की यह रचना नाटककार की स्वतंत्र प्रतिभा के विकास की एक प्रायोगिक कडी कही जा सकती है। 'राज्यश्री' मे वस्तु की सघनता को लेकर प्रयोग किया गया है और 'विशाख' मे कथावस्तु के जनात्मक प्रसार की उपयोगिता का आकलन किया गया है। संभवतः इसीलिए इस कृति मे एक ओर हास्य-विनोद के स्थलों की बहुलता है और दूसरी ओर भावात्मक आदर्शों की प्रतिष्ठा का यथासंभव निरन्तर प्रयास किया गया है। रंगमच को, प्रयोग के स्तर पर, लेखक ने अधिकाधिक जनात्मक 'बनाने का प्रयास किया है। भाषा की साधारण चमत्कृति,

जन-सगीत की प्रचुरता एव कतिपय स्थितियो व घटनाओ की लोक-सामान्यता प्रयोग शील मनोदृष्टि के ही प्रतिफलन हैं। यह और बात है कि लेखक ने इनमे अधिक नाट-कीय उपयोगिता नही पायी और परवर्ती नाटको मे उसने आभिजात्य को ही प्रश्रय दिया। यो, इस रचना को विकास की दृष्टि से नितान्त अनुपयोगी भी नही कहा जा सकता। परवर्ती नाटको मे अनेक स्थलो पर हास्य, विनोद, एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओ के नाटकीय प्रसग मिलेंगे जिनका सूत्रपात इसी कृति से होता है। नाट्यशिल्प की जो प्रगतिशीलता 'राज्यश्री' मे आरम्भ होती है, वह भी इसमे सुरक्षित है। नान्दी-पाठ व प्रस्तावना इसमे भी नही है। इसी प्रकार चरित्र-विधायक वस्तु-सगठन की प्रवृत्ति भी इसमे कुछ अधिक ही तत्परता के साथ विद्यमान है।

'राजतरंगिणी' मे प्रस्तुत इतिवृत्त इस प्रकार है। किन्नरपुर का राजा नर कामुक और उच्छृखल था। बौद्ध श्रमण द्वारा रानी को कुपथ मे ले जाये जाने के कारण उसने सब बौद्ध विहारो को जलवा दिया और सारी भूमि ब्राह्मणो को दे दी। उसने वितस्ता के तट पर सुन्दर नगरी बसायी, जिसमे जलाशय के पास सुश्रवा नाग रहता था। उसकी दो कन्याए थी—इरावती और चन्द्रलेखा। एक दिन एक ब्राह्मण से जला-शय पर दोनो का परिचय हुआ और उसे उन्होने तक्षकोत्सव मे आमन्त्रित किया। ब्राह्मण ने सुश्रवा के खेत के बौद्ध रक्षक को, जो मत्र-बल से खेत की रक्षा करता था और न उसका अन्न स्वयं खाता था, न किसी को खाने देता था, चातुर्य से अन्न खिला दिया। चन्द्रलेखा से उसका विवाह हुआ। नर ने चन्द्रलेखा को बलपूर्वक प्राप्त करना चाहा, इस पर नागो ने उपद्रव किया और राजा नर मारा गया। किन्नरपुर उजड़ गया। आगे चलकर नर के पुत्र सिद्ध ने योग्यतापूर्वक शासन किया।

इस इतिवृत्त को 'विशाख' मे थोडे परिवर्तन के साथ तीन अको मे प्रस्तुत किया गया है। प्रथम अक मे तक्षशिला विश्वविद्यालय से नया नया निकला स्नातक विशाख चन्द्रलेखा और इरावती से यह जानकर कि उनकी सारी भू-सम्पत्ति हरण करके राजा ने बौद्धमठ मे दान कर दी है, उनके प्रति सवेदनशील होता है और चन्द्रलेखा के प्रति आकर्षित होता है। कुछ भिक्षु चन्द्रलेखा को पकड ले जाते है। विशाख राजा सहचर महापिंगल के माध्यम से राजा नरदेव से कानीर विहार के बौद्ध महन्त की यह दुष्टता निवेदित करता है। विहार का महन्त सत्यशील विशाख के गुरू प्रेमानन्द के समझाने से भी चन्द्रलेखा को मुक्त नही करता। नरदेव सत्यशील के दुष्टाचरण से क्रुद्ध होकर विहार मे आग लगवा देता है किन्तु प्रेमानन्द के समझाने से शान्त हो जाता है। चन्द्रलेखा मुक्त हो जाती है। नरदेव उसका रूप देखकर आसक्त हो जाता है, किन्तु प्रकटरूप मे कुछ नही कहता। द्वितीय अंक मे विशाख और चन्द्रलेखा का विवाह निश्चित होता है और सूचना मिलती है कि नरदेव ने सुश्रवा नाग की सम्पत्ति विहार से लेकर उसे लौटा दी है। महापिंगल इरावती के रूप पर मोहित होता है और अपनी पत्नी

तरला से प्रताडित होता है। नरदेव चन्द्रलेखा से मिलने के उद्देश्य से मृगया का कार्यक्रम बनाता है। विशाख की अनुपस्थिति मे महापिंगल के साथ नरदेव चन्द्रलेखा के घर जाता है और प्रणय-प्रस्ताव रखता है। पतिव्रता और सन्तोषशीला चन्द्रलेखा से तिरस्कृत होकर वह लौट जाता है। महापिंगल एक भिक्षु को देववाणी के छल से चन्द्रलेखा को बहकाने के लिए नियोजित करता है, किन्तु सन्यासी प्रेमानन्द भिक्षु के षड्यन्त्र को विफल कर देता है। प्रेमानन्द के समझाने से विशाख भिक्षु को छोड देता है। तीसरे अक मे नरदेव से प्रेरित और महापिगल द्वारा आयोजित इस कुचक्र का भेद भिक्षु महारानी के आगे खोल देता है। रानी ग्लानि का अनुभव करती हुई नदी मे कूद पडती है। विशाख महापिंगल के प्रस्ताव से क्रुद्ध होकर उसकी हत्या कर देता है और चन्द्रलेखा के साथ बन्दी बना लिया जाता है। सुश्रवा की बहन रमणी की प्रेरणा से नाग इन दोनो को छुडाने के लिए सन्नद्ध होते हैं, किन्तु प्रेमानन्द के समझाने से वे पहले न्याय की माँग करने को तैयार हो जाते हैं। राजा नरदेव विशाख को और बाद मे क्रुद्ध होकर चन्द्रलेखा को भी, शूली चढाने की आज्ञा देता है। इसी समय नाग-जनता उमड आती है और नाग-रमणी राजा पर कुविचार का अभियोग लगाती है। राजा प्रेमानन्द के समझाने से भी नहीं मानता। क्रुद्ध नाग-जनता राजभवन मे आग लगा देती है और चन्द्रलेखा व विशाख को छुडाकर भाग जाती है। प्रेमानन्द राजा को बचा लेता है और उसका उपचार करता है। नरदेव को अपने कुकर्म पर ग्लानि होती है और उसका हृदय शुद्ध हो जाता है। चन्द्रलेखा राजा के पुत्र को नागो से बचाकर लाती है, जिससे राजा और भी करुणाभिभूत हो जाता है। विशाख प्रेमानन्द की प्रेरणा से राजा को क्षमा करता है। मंगल-प्रार्थना से नाटक की समाप्ति होती है।

कथानक मे ऐतिहासिक परिदृश्य प्राय. यथावत् है। प्रमुख पात्र नरदेव, सुश्रवा, इरावती, चन्द्रलेखा आदि ऐतिहासिक हैं। प्रेमानन्द कल्पित पात्र है और वह प्रसाद के जीवन-दर्शन का सवाहक है। प्रसाद के सभी नाटको मे कम से कम एक पात्र इस कोटि का अवश्य मिलेगा, जो व्यक्तिगत मोह से मुक्त होते हुए भी जीवन-धारा को आदर्श कर्मण्यता और आत्मिक आनन्द व शांति की ओर मोडने का प्रयत्न करता रहता है और अन्तत सफल भी होता है। प्रेमानन्द ऐसा ही पात्र है। उसी की प्रेरणा से विशाख भिक्षु और नरदेव को क्षमा करता है, नाग-जाति उपद्रव न करके पहले न्याय की माँग करने को तैयार होती है, नरदेव बौद्ध बिहारो का विध्वंस बन्द करता है और अन्तत. करुणा की विजय होती है।' महापिंगल भी कल्पित पात्र हैं, जो एक ओर कुचक्र का सूत्रधार बनता है और दूसरी ओर सामाजिकों को अपने मसखरे-पन से हँसाता है।

घटना-सूत्रो मे दो परिवर्तन महत्वपूर्ण है—महारानी के स्थान पर चन्द्रलेखा को उपद्रव के मूल में रखना और अन्त मे नरदेव का जीवित रहना। प्रथम नाटकीय

सक्रियता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और द्वितीय उद्देश्य की दृष्टि से। इतिहास के अनुसार रानी को बौद्धो ने बहकाने का प्रयास किया था, जिसके कारण नरदेव ने बौद्ध विहार जलवा दिये थे। नाटक मे रानी के स्थान पर चन्द्रलेखा को रख देने से वस्तु-प्रपच मे अपेक्षित नाटकीय उलझाव आ गया है, जो अन्यथा स्थिति मे न हो पाता। नरदेव का अन्त मे जीवित रहना और उसका हृदय-परिवर्तन उद्देश्य की दृष्टि से सर्वथा वाछनीय है। नाटककार करुणा का व्यापक प्रभाव अंकित करना चाहता है और इसका सशक्त प्रस्तुतीकरण चरम अपराधकर्ता की हृदय-शुद्धि के ही माध्यम से सभव है। प्रसाद के नाटको मे प्राय. ही प्रमुख अपराध-कर्मो चरित्रो की हार्दिक परिशुद्धि अकित की गयी है। 'राज्यश्री' से इस शृंखला का सूत्रपात्र होता है। उसमे नाटककार ने वैयक्तिक करुणा की चरम सीमा प्रस्तुत की थी, 'विशाख' मे वे उसी का निर्वैयक्तिक सन्दर्भ सामने रखते हैं। प्रेमानन्द व्यक्ति-रूप मे होकर भी व्यक्ति-बाह्य हैं और उनका आदर्श विश्व-मानव की परिकल्पना से सग्रथित है।

कथानक के विकास मे यहाँ प्रसाद की दृष्टि सघर्ष और चरम सीमा पर केन्द्रित रही है। अन्तिम अक मे नरदेव और प्रजा का मौखिक और दैहिक सघर्ष ही वह बिन्दु है, जहाँ तक लाने के लिए पहले की सम्पूर्ण परिस्थितियाँ सयोजित की गयी है। इसके तुरन्त बाद अन्तिम दृश्य मे अप्रत्याशित त्वरा के साथ सघर्ष का उपशम अकित किया गया है, जो पाश्चात्य वैशिष्ट्य निगति का रूप प्रस्तुत करता है। चरम-सीमा और निगति प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको की प्रमुख विशेषताएँ हैं, जिनका रूप 'विशाख' मे आरम्भिक सोपान पर देखा जा सकता है। संघर्ष का ताना-बाना बुनने मे राजनैतिक व धार्मिक सस्थाओ का तालमेल भी इसमे मिलेगा, जो उत्तरोत्तर उनके नाटकों मे विकसित और समृद्ध होता गया है। बौद्धमत के पतनशील तथा उसी के अथवा सम्प्रदायमुक्त, सास्कृतिक आदर्श का द्वन्दव भी प्रवेशक वैशिष्ट्य के साथ यहाँ देखा जा सकता है। प्रेमानन्द अपने नाम के ही अनुरूप उदार व प्रसन्न कर्मण्यता का साँस्कृतिक आदर्श लेकर चलता है और विकृत बौद्ध-धर्म की पतनशील वृत्ति को अपने व्यक्तित्व से पराभूत करता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'विशाख' मे सपाटता मिलेगी। सभी पात्र किसी एक विशेषता का ही आद्योपान्त परिचय देते हैं। उनमे आरोहावरोह नही है। केवल नरदेव का मानसिक परिष्कार उसके क्रोधी, स्वार्थी व कामुक व्यक्तित्व को एक मोड देता है, किन्तु यह मोड भी इतना आकस्मिक व क्षणिक है कि उसकी नाटकीय प्रभाविष्णुता स्थापित नही हो पाती। महापिगल एक दुष्टबुद्धि, हँसोड, गरिमाहीन व व मुँहलगे राज-सहचर के रूप मे सामने आता है और इसी रूप मे समाप्त भी हो जाता है। विशाख एक सामान्य आदर्शवादी गुरुभक्त युवक अन्त तक बना रहता है। नारी-पात्रो मे चन्द्रलेखा की सहनशीलता व निर्भीकतामयी निष्ठा आदि से अन्त तक बनी

रहती है। महापिंगल की पत्नी तरला एक चचल स्वर्णप्रिया युवती के रूप मे वर्गीय प्रतिनिधि चरित्र बन गयी है। नाग-रमणी, जिसका ऐतिहासिक नाम रमण्या है, मे जातीयता का स्वाभिमान है। शेष सभी पात्र साधारण व प्रासगिक हैं। वे इतिवृत्त के युग की सामाजिक व धार्मिक विशेषताओं को उद्घाटित करने के लिए खडे कर दिये गए है, जो लेखक के उद्देश्य की दृष्टि के अवाछनीय नही कहे जा सकते।

इस नाटक का अगी या कि समाहारी रस शान्त है वीर, शृगार, हास्य आदि अन्तत: शान्त मे समाहित हो जाते है। हास्यजनक स्थलो की बहुलता एक आपत्तिजनक सीमा तक इसमे विक्षेप डालने का प्रयास करती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रसाद की मचीय दृष्टि इसमे जनात्मक रही है और इसीलिए इसमे जनरुचि के हास्य-प्रसगो की अधिकता हो गयी है। महापिंगल से सम्बन्धित सभी स्थल हास्य-जनक हैं। तरला से सम्बन्धित वृत्त भी इसी वर्ग मे आता है। चरित्र और घटनाएँ ही नही, सवाद और गीत भी जनात्मक सामान्यता के शिकार हो गए है। सवादो की सस्ती तुकबन्दी और गीतो का भदेस चलतापन जनमचीय दृष्टि के आग्रह के ही विपरिणाम हैं। भाषा भी अत्यन्त साधारण स्तर की है। वस्तुत· प्रसाद ने 'राज्यश्री' की गभीरता की समचता मे 'विशाख' के द्वारा जनमच की अवतारणा की थी। यह उनका एक प्रयोग भर था। यह और बात है कि उनके नाट्यशिल्प की संभावनाएँ इसमे अप्रत्याशित रूप से झलक मार गयी है।

अजातशत्रु प्रकृत सर्जन-भूमि का प्रथम आलेख

'अजातशत्रु' को प्रसाद के नाट्यशिल्प का प्रथम पूर्ण निदर्शन कहा जा सकता है। यो तो प्रत्येक कृति मे सरचनात्मक नवीनता या विशिष्टता विद्यमान होती है और इस दृष्टि से प्रसाद का भी प्रत्येक नाटक अपने आप मे किसी न किसी विशेष नाट्य-गुण से सम्पन्न है, किन्तु यह सम्पन्नता जिस प्रातिभ सिद्धावस्था का प्रतिफलन होती है वह प्रसाद के नाटको मे पहली बार 'अजातशत्रु' मे परिस्फुट हुई है। आरंभिक एकाकी रूपको मे प्रसाद ने प्रयोग करते हुए सर्जन की सम्भावनाए खोजने का प्रयास किया था, सक्रमण-युगीन कृतियो मे उन्होने इन सम्भावनाओं को रूपायित करते हुए उनके सवर्धन सम्मार्जन का प्रायोगिक प्रयास किया और अब वे अपनी प्रयोगशीलता से प्राप्त निष्कर्षों और अनुभवो को एक समग्र रूपाकार देने लगे हैं। इसे प्रसाद की नाट्यसर्जना का अन्तिम सोपान भी कह सकते है किन्तु सही अर्थों मे यही उनका प्रथम सोपान भी है क्योकि यही से उनकी नाट्यप्रतिभा उनकी निजी विशेषताओ को उभार कर सामने लाने लगी है। कथानक की व्यापकता, सघनता और वक्रता, वैविध्यपूर्ण संघर्ष-सूत्रो का चरमाभिमुख सगमन, बहुवर्गीय चरित्रो का जीवन्त आरोहावरोह, परिणति की सास्कृतिक उदात्तता, ऐतिहासिक काल-खण्डो की राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियो का सगुफित विम्बाकन, कवित्व का समायोजन, पौर्वात्य नाट्यपद्धति से पाश्चात्य का समीकरण आदि प्रसाद की निजी विशेषताए इसमे और इसके बाद की कृतियो मे व्यवस्थित और सहज रूप मे प्रकट हुई हैं।

'अजातशत्रु' का प्रकाशन १९२२ मे हुआ। प्रथम संस्करण के बाद इसके संवादो मे थोडा परिवर्तन किया गया है। पारसी पद्धति के प्रभाव में प्रसाद ने आरभिक कृतियो मे पद्यात्मक सवाद लिखे थे और प्रस्तुत नाटक मे भी ऐसे कुछ स्थल थे। बाद मे लेखक ने पद्यो को सवाद से अलग कर दिया है, साथ ही सवादो मे कुछ सक्षेपण या परिवर्धन भी किया है। पद्यो मे भी थोडा न्यूनाधिक्य मिलेगा। अन्य सारी बातें परवर्ती सस्करणो मे यथावत् विद्यमान हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको की जो शृ खला 'राज्यश्री' से आरभ होती है, उसकी प्रथम प्रातिनिधिक कडी 'अजातशत्रु' है। इसका वस्तु-सम्भार विशद और घटनाबहुल है। मगध, कौशाम्बी, कोसल और काशी—इन चार घटना केन्द्रो से आधिकारिक कथा-सूत्र जुडता हुआ आगे बढता है। कथा वस्तु की विशदता के अनुरूप ही इसमे पात्रो की बहुलता है, जिनका वैशिष्ट्य परिस्थितियो की पृष्ठभूमि मे कुशलता से उभारा गया है। विरोध का तत्व इस नाटक मे बाह्य और

आभ्यन्तर स्तरो पर आद्योपान्त व्याप्त है। विविध क्षेत्रो से विरोध के सूत्रो को उभार कर उन्हे संयोजित करते हुए एक चरम सीमा-सघर्ष-तक लाने का प्रसाद का निजी नाट्यकौशल इसमे अपने प्रकृत रूप में देखा जा सकता है। सभी दृष्टियो से यह प्रसाद का प्रथम पूर्ण नाटक है।

प्रसाद ने यथेष्ट छानबीन के अनन्तर अपने ऐतिहासिक नाटको के कथानकों की रूप-रचना की है। नाटकीय प्रभाव और सास्कृतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होने इतिवृत्त मे अनुमान और कल्पना का भी पुट दिया है, किन्तु वह कभी इतना सघन नही होता कि ऐतिहासिक सत्य दब जाए। इतिहास को नाटकीय सगति देने के लिए नाटककार को अनुमान और कल्पना का सहारा लेना ही पडता है, विशेषकर उस इतिवृत्त मे, जो कई घटना केन्द्रो से जुडा हुआ हो।

'अजातशत्रु' की प्रमुख घटनाए तथा प्रमुख पात्र ऐतिहासिक हैं। इसका कथानक बुद्ध के काल का है। सभी इतिहास लेखक यह मानते हैं कि बिंबसार (मगध), प्रसेनजित् (कोसल) और उदयन (कौशाम्बी) बुद्ध के समकालीन थे और बुद्ध का इन तीनो से सम्पर्क हुआ करता था। मगधराज बिंबसार ने अनेक राजकन्याओ से विवाह किया था। प्रसेनजित् की बहन कोसलदेवी और लिच्छवी वश के राजा चेटक की कन्या छलना उसकी प्रमुख रानियो मे थी। अजातशत्रु छलना का पुत्र था। एक साक्ष्य के अनुसार उसकी मा का नाम वासवी था। प्रसाद ने कदाचित् इसी आधार पर कोसलदेवी का नाम इसमे वासवी कर दिया है, यद्यपि अजात छलना के ही पुत्र के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। वैशाली की वृज-जाति (लिच्छवी) की राजकुमारी छलना का झुकाव जैन धर्म की ओर विशेष था, क्योकि जैनतीर्थंकर महावीर स्वामी उसी गोत्र के थे। बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त भी जैनमत का समर्थक था और वह बुद्ध की अहिंसा सम्बन्धी व्याख्या मे परिवर्तन चाहता था। उसने अजात को प्रभावित कर लिया था और बुद्ध के विरोध मे उसे छलना का भी सहयोग मिला। बडी रानी कोसल देवी और बिंबसार बुद्ध के भक्त होने के कारण इनके कोपभाजन बने। प्रसाद ने इस ऐतिहासिक सत्य के साथ छलना के चरित्र मे नारी सुलभ ईर्ष्या का प्रचण्ड रूप कल्पित करके उसे एक जीवन्त और शक्तिशाली चरित्र बना दिया है। देवदत्त ने अजातशत्रु को प्रेरणा दी थी और अजात के हाथ से उसके पिता बिंबसार की हत्या होने का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु ऐतिहासिक सत्य यह माना गया है कि बिंबसार ने स्वय राज्य का त्याग कर दिया था और अजात ने उन्हे बन्दीगृह मे डाल दिया था। पिता बनने पर अजातशत्रु अपने पिता को मुक्त करने गया किन्तु तब बिंबसार जीवन के अन्तिम क्षण गिन रहा था। बिंबसार की मृत्यु के शोक मे कोसल देवी की भी मृत्यु हो गयी थी। प्रसाद ने इन दोनो की मृत्यु नही दिखायी है क्योकि वे दुःखान्त परिणति न चाहकर आदर्शान्त परिणति चाहते थे।

देवदत्त ने बुद्ध की हत्या के कई प्रयास किये थे किन्तु वह असफल रहा था। अन्त मे वह जेतवन के एक जलाशय मे डूबकर या धरती मे फँसकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था। बिंबसार के राजवैद्य के रूप मे जीवक का होना भी ऐतिहासिक सत्य है। अजातशत्रु का पिता के प्रति कठोर होना भी इतिहाससम्मत है। वह पिता के जीवन-काल मे ही चंपा या प्राचीन अग-देश का शासन करता था। प्रसेनजित् बिंबसार का सम्बन्धी एव बुद्ध का प्रशसक था। शाक्यो ने छल से उसका विवाह बासभाखत्तिया नाम की दासीपुत्री से करा दिया था, जो रानी होने पर महादेवी कहलायी और विडुड्डुभ या विरुद्धक इसी का पुत्र था। प्रसाद ने इसका नाम शक्तिमती रखा है। प्रसेनजित् ने उसके कुलशील की जानकारी पाकर उसके पुत्र विरुद्धक को उत्तराधिकार-च्युत कर दिया था, किन्तु बाद मे बुद्ध की प्रेरणा से उन्होने उसे पुन. स्वीकार कर लिया था। विरुद्धक ने इसी सन्दर्भ मे अपने पिता प्रसेनजित् के प्रति विद्रोह भी किया था जिनमे प्रधान सेनापति दीर्घकारायण ने सहायता की थी। दीर्घकारायण के मन मे प्रसेन के लिए इस कारण विद्वेष था कि उसने उसके चाचा और कौशल के सेनापति बन्धुल मल्ल की अजेय वीरता से शंकित होकर उसका छल से वध करवा दिया था। प्रसाद ने बन्धुल के हत्यारे के रूप मे दस्युवेशी विरुद्धक की कल्पना करके कुचक्र और विरोध को नाटकीय अन्विति और सघनता दी है। हत्या की प्रेरणा इसमे भी प्रसेनजित् की ही है, किन्तु इसके साथ विरुद्धक का मल्लिका के प्रति पाप-भाव भी जोडकर नाटककार ने विशेष कल्पना-कौशल का परिचय दिया है।

कौशाम्बी-नरेश उदयन ने कई विवाह किये थे। चण्डमहासेन की पुत्री वासवदत्ता, मगध-शासक दर्शक की बहन पद्मावती और ब्राह्मण-कन्या मागन्धी—तीन रानियो का विशेष उल्लेख मिलता है। दर्शक और कुणीक अजातशत्रु के ही नाम थे, अत· प्रसाद ने अनुमान के आधार पर पद्मावती को वासवी या कोशलदेवी की पुत्री मान लिया है, जिसे असगत नही कहा जा सकता। मागन्धी बुद्ध के प्रति विद्वेष रखती थी। पद्मावती बुद्ध मे आस्था रखने के कारण उसके प्रतिघात का केन्द्र बनी। मागन्धी ने पद्मावती को अपमानित करने के लिए कई षड्यन्त्र किए, जिनमे एक वाद्ययन्त्र मे सर्प छिपाकर उदयन को उसके विरुद्ध भडकाने का था। उदयन ने इस पर पद्मावती पर बाण से प्रहार भी किया था, किन्तु अपने चरित्र-बल के कारण वह बच गयी। सब प्रकार से विफल होने पर मागन्धी ने उसके महल मे आग लगा दी थी। प्रसाद ने यह प्रकरण भी प्रायः ज्यो का त्यो रहने दिया है। घटना को यथार्थ और विश्वसनीय बनाने के लिए प्रसाद इसमे पद्मावती पर प्रहार न दिखाकर प्रहारोद्यत उदयन का वासवदत्ता द्वारा निवारण दिखाते हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण कल्पना मागन्धी के चरित्राकन मे मिलती है। प्रसाद ने उसे आगे चलकर वेश्या श्यामा तथा अन्त मे आम्रपाली के रूप मे प्रस्तुत किया है।

बौद्ध-ग्रन्थो मे ग्राम्रपाली का वर्णन कई स्थलो पर मिलता है। वह पतिता और वेश्या थी किन्तु अन्त मे बुद्ध ने उसे पवित्र किया था। उसने सद्धर्म मे दीक्षित होकर अपना उद्यान अबपालि-वन सघ को अर्पित कर दिया था। इसी प्रकार काशी की वेश्या सामावती या श्यामावती का भी उल्लेख बौद्ध ग्रन्थो मे है। प्रसाद ने एक ही चरित्र के माध्यम से मागन्धी, श्यामा और ग्राम्रपाली के वृत्त प्रस्तुत कर दिये है, जो नाटकीयता की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। इस कल्पनाश्रित एकीकरण के मूल मे 'चरित्र का विकास और कौतुक बढाना' ही है। इस प्रकार 'अजातशत्रु' के कथा-सगठन मे अनुमान और कल्पना का सहारा प्राय बिखरे हुए कथा-सूत्रो को नाटकीयता और अन्विति देने के लिए लिया गया है और यह ध्यान रखा गया है कि प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओ मे किसी प्रकार की व्यत्यय न हो। इतिहासेतर सामग्री के सन्निवेश मे भी प्रसाद की दृष्टिप्रमाणपरक रही है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे प्रमुखत. पालि और अशत. सस्कृत के ग्रन्थो से आधार प्राप्त किए गए हैं, जिनका उल्लेख नाटक के 'कथाप्रसग' मे लेखक ने किया है।

'अजातशत्रु' विरोध-प्रधान नाटक है। प्रथम व द्वितीय अंको मे एवं तृतीय के आरम्भ मे आभ्यन्तर और वाह्य द्वन्द्व का वातावरण व्याप्त है। वहिर्द्वन्द्व और अन्त-र्द्वन्द्व इसमे एक दूसरे से सन्दर्भित अथवा क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप मे चित्रित किए गए हैं। आनुपातिक दृष्टि से वाह्य द्वन्द्व की ही प्रधानता है और उसी की प्रतिक्रिया के रूप मे उसका मानसी पक्ष उद्घाटित होता है। प्रसाद का लक्ष्य तत्कालीन परिवेश की बहुक्षेत्रीय उत्क्रान्तियो का प्रस्तुतीकरण और उनका समाधान देना था, अत स्वाभाविक रूप से ही वे इसमे बहिर्मुख अधिक रहे हैं।

सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक उपप्लवो को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटको मे मिलेगी, किन्तु 'अजातशत्रु' मे वही पधान हो उठी है। इसका कारण यह है कि अन्य दो प्रमुख ऐतिहासिक नाटको 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' मे विदेशी आक्रमण प्रतिपक्ष के रूप मे प्रस्तुत किए गए है और वहाँ राष्ट्रोद्धार ही मुख्य प्रयोजन बन गया है, जबकि प्रस्तुत नाटक मे आन्तरिक विद्रोह और दुरभिसन्धि का ही परिदृश्य है। प्रथम अंक मे इस परिदृश्य का उद्घाटन करते हुए विरोध के सूत्रो का उद्बुद्ध व क्रियाभिमुख होना दिखाया गया है। मगध मे छलना अपनी उद्दड तेजस्विता से अपने पुत्र अजातशत्रु को सिंहासन दिलाने मे सफल होती है और बिंबसार तथा वासवी एकान्त उपवन मे वानप्रस्थ जैसा जीवन व्यतीत करने लगते हैं। अजात की इस हठपूर्वक राज्य प्राप्ति मे बुद्ध के प्रतिस्पर्धी दुष्ट देवदत्त की कूट-मन्त्रणा और बुद्ध की उदात्त प्रेरणा का भी सहयोग है। कौशाम्बी मे बुद्ध से अस्वीकृत मागन्धी उदयन की रानी के रूप मे पद्मावती के प्रति ईर्ष्या और बुद्ध के प्रति प्रतिशोध के अन्धावेश मे पद्मावती के चरित्र पर बुद्धासक्ति का लाछन लगाकर उदयन को

भडकाती है, किन्तु बडी रानी वासवी के कारण पद्मावती बच जाती है और उदयन को अपनी भूल का भान हो जाता है। मागन्धी महल में आग लगाकर भाग निकलती है। कोसल मे मगध के सत्तान्तरण का समाचार सुदत्त के माध्यम से पहुँचने पर प्रसेनजित् अजात के आचरण की निन्दा करता है और अपने पुत्र विरुद्धक द्वारा अजात का समर्थन किए जाने पर उसे युवराज-पद से और उसकी माँ शक्तिमती को राजमहिषी पद से वञ्चित कर देता है। विरुद्धक सेनापति बन्धुल की पत्नी मल्लिका के प्रति अनुरक्त है और इसी कारण वह अपमान का घूंट पीकर कौसल मे रहने को विवश है। उसके आहत अभिमान को उसकी माँ शक्तिमती विद्रोह की प्रेरणा देती है और वह प्रतिशोध के लिए कृतसकल्प होता है।

इस प्रकार प्रथम अक मे तीनो घटना-केन्द्रो मे विरोध का सूत्रपात हो जाता है और केन्द्रीय घटनास्थल मगध से शेष दोनो जुडे रहते हैं। वासवी अपने दहेज मे प्राप्त काशी राज्य के राजस्व से अपना व बिंबसार का जीवन-निर्वाह करना चाहती है और उसका भाई प्रसेनजित् भी इस निर्णय की पुष्टि करता है। कोशाम्बी के पारिवारिक कलह के मूल मे बुद्ध के प्रति विद्वेष-भाव है और वही विद्वेषभाव मगध के विप्लव मे भी एक महत्वपूर्ण प्रेरक सूत्र है। दूसरे, जीवक के माध्यम से मगध का समाचार कौशाम्बी पहुँचाने का उद्देश्य वासवी के पक्ष मे उसे कौसल का सहयोगी बनाना है। इन परस्पर सम्बद्ध वृत्त-केन्द्रो से अजात, विरुद्धक और मागन्धी-प्रतिनिधि विरोध-सू ो के रूप मे उभर कर सामने आ जाते है, जो दूसरे अक मे मिलकर सघर्ष को त्वरापूर्ण सक्रियता देते है। विरुद्धक साहसिक शैलेन्द्र बनकर सेनापति बन्धुल को अपने पक्ष मे करने के प्रयास मे असफल होने पर भी प्रसेन की जानकारी मे उसका छल से वध करता है और स्वय घायल होकर बन्दी होता है। मागन्धी श्यामा वेश्या के रूप मे उसकी प्रणयिनी हो गई है, जो उसे बचाती है और उसके स्थान पर अजात के कूटचर समुद्रदत्त को मृत्युदन्ड दिलाती है। अकृतज्ञ विरुद्धक श्यामा के मोहपाश से मुक्ति पाने तथा उसके धन के लोभ मे उसकी हत्या करने का प्रयास करता है किन्तु बुद्ध के प्रयास से वह जीवित रह जाती है। काशी के राजस्व के प्रश्न पर मगध और कोसल के युद्ध मे अजात विजयी होता है, किन्तु मल्लिका के उदार क्षमा-भाव के कारण प्रसेनजित् उसके द्वारा मारे जाने से बच जाता है। दूसरे युद्ध मे कौशाम्बी और कोसल की सयुक्त सेना मगध पर आक्रमण करने को तत्पर होती है। अजात मल्लिका के प्रभाव से युद्ध व राज्य के प्रति विरक्ति का अनुभव करने लगता है किन्तु विरुद्धक, छलना व देवदत्त की प्रेरणा से वह पुन· युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। कोसल का सेनापति और दिवगत सेनापति बन्धुल का भागिनेय दीर्घकारायण प्रथम युद्ध की ही भाँति इस युद्ध मे भी भीतर-भीतर विरुद्धक से मिला हुआ है, क्योकि अपने मामा बन्धुल की हत्या मे प्रसेन का हाथ होने के कारण वह उसके प्रति प्रतिहिंसा

का भाव रखता है। इस प्रकार इस अक मे विरोधी तत्व एकजुट होकर सघर्ष की चरम भूमिका रच देते हैं। इस सघर्ष का प्रमुख प्रेरक विरुद्धक है और अजात प्रमुख माध्यम।

अन्तिम अक मे संघर्ष का उतार और विरोध के भाव का उपशम प्रस्तुत किया गया है। युद्ध मे अजात बन्दी होता है और बन्दीगृह मे रहते हुए उसे प्रसेन की पुत्री वाजिरा से प्रेम हो जाता है। वासवी की प्रेरणा से दोनो का विवाह होता है। छलना का विद्वेष-भाववासवी की उदारता से विगलित हो जाता है और वह वासवी और बिंबसार से क्षमा याचना करती है। अजात पिता बनने पर बिंबसार के पास जाता है और वासवी व पद्मावती की प्रेरणा से बिंबसार उसे क्षमा करते है। उदयन के हाथ से घायल विरुद्धक मल्लिका के उपचार से स्वस्थ होता है और उसी के प्रभाव से वह प्रसेन के द्वारा क्षमा किया जाता है। रानी शक्तिमती को भी उसी की प्रेरणा के फलस्वरूप प्रसेन क्षमा करते है। बुद्ध के सदुपदेश से प्रसेन विरुद्धक को पुन युवराज-पद देते है। देवदत्त जलाशय मे डूबकर समाप्त हो जाता है। मागन्धी अब श्यामा वेश्या से आम्रपाली बन जाती है और बुद्ध की कृपा से कृतकृत्य होकर अपना आम्रवन संघ को अर्पित कर देती है। यह अक आदर्श-विधायक है। विश्वमैत्री का जो आदर्श बुद्ध से प्रेरित मल्लिका तथा वासवी के द्वारा आचरित है वही अन्त मे सम्पूर्ण विरोध को शान्त कर देता है। इस नाटक का नामकरण नायक या प्रधान-पात्र से सम्बद्ध होने के साथ-साथ इस प्रशान्त परिणति का भी व्यजक है। पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक सभी स्तरो के विद्वेष का प्रशमन ही 'अजातशत्रु' की अजातशत्रुता है।

नाट्य-वस्तु-सम्बन्धी भारतीय विचारणा मे फल अथवा कार्य आधार-बिन्दु के रूप मे रहा है और उसी की ओर कथानक के विकासक्रम की स्थितियो के रूप मे अवस्थाओ, अर्थप्रकृतियो और सन्धियो का निर्धारण किया गया है। 'अजातशत्रु' मे पारिवारिक और राजनैतिक विरोधो का उपशम ही फल या कार्य कहा जा सकता है, जिसकी पूर्ण सिद्धि अन्तिम दृश्य मे होती है, जहा बिंबसार का उद्विग्न चित्त छलना और अजात की हार्दिक परिशुद्धि से सन्तुष्ट होकर उन्हे मन से क्षमा करके अंगीकार कर लेता है। प्रासगिक कथाओ का भी ऐसा ही परिणाम उसके पूर्व के दृश्यो मे दिखाया गया है यथा अन्तिम अक के पाचवे दृश्य मे प्रसेन का विरुद्धक और शक्तिमती को क्षमा करके स्वीकार करना और सातवे दृश्य मे आम्रपाली का भिक्षुणी बनकर गौतम की स्नेहालु कृपा प्राप्त करना। प्रासगिक कथाओं के ये परिणाम फल तो नही है किन्तु उसके पोषक सूत्र अवश्य हैं। फल की एकतानता का यह विकेन्द्रण प्रासंगिक कथाओ की बहुत कुछ स्वतन्त्र स्थिति के कारण हो गया है। लेखक ने विरोध-तत्व की समानान्तरता को आधार बना कर इन्हे आधिकारिक कथावस्तु से जोडने का सुन्दर प्रयास किया है, किन्तु यह संयोजन कथानक को वैसी सघनता नहीं दे सका है जैसी

भारतीय वस्तु-विचार की दृष्टि से अपेक्षित है। वस्तुतः वैसा रूप प्राप्त करने के लिए फल को सयोजन का आधार बनाया जाना चाहिए था, जो इस कथानक को देखते हुए संभव नही था, और प्रसाद को कथावस्तु की यह रूढ ऋजुता पसन्द भी नही थी। अतएव जिस प्रकार आरभ मे विरोध की समानान्तरता है, उसी प्रकार अन्त मे परिणाम की थी।

यह नाटक तीन स्वतंत्र कथानको की ससृष्टि है, जिसमे मुख्य कथा से शेष दोनों कथाएं राजनैतिक, पारिवारिक एवं चारित्रिक सूत्रो के आधार पर जुडी हुई प्रतीत होती है। जहा तक चरम सीमा-संघर्ष का प्रश्न है, प्रासगिक कथाएं निस्सन्देह अपेक्षित योगदान करती हैं और यही लेखक का अभीष्ट भी था। आधिकारिक कथानक के फल की दृष्टि से इस नाटक मे कार्यावस्थाएं बडे सहज रूप मे मिलती है। प्रथम दृश्य में वासवी के शान्तिकामी उदार जीवनदर्शन मे प्रारभ नामक कार्यावस्था है। दूसरे दृश्य मे बुद्ध की प्रेरणा से बिंबसार का अजात को राज्यभार सौपना स्वीकार करना प्रयत्न-दशा का परिचायक है। शेष कार्यावस्थाए अन्तिम अक मे है। तीसरे अक के प्रथम दृश्य मे अजात के बन्दी होने पर छलना का सन्तान-स्नेह के कारण विगलित होना और अपनी भूल स्वीकार करना प्राप्त्याशा की अवस्था का परिचायक है। आठवें दृश्य मे वासवी का छलना को पति और पुत्र वापस दिलाने का आश्वासन देना नियताप्ति की सूचना देता है और ठीक इसके बाद अन्तिम दृश्य मे फलागम है। कथा-नायक अजातशत्रु से ये कार्यावस्थाए कटी हुई है, क्योकि उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र न होकर अन्य स्थितियो व पात्रो, विशेषकर छलना, से प्रेरित और अग्रसारित होता है। मागन्धी की कथा मे आरोह और निगति का रूप उभरता है। दस्यु शैलेन्द्र से उसकी प्रणय-चर्चा और साँठ-गाँठ उसके चारित्रिक पतन की चरम सीमा है और उससे प्रवञ्चित तथा बुद्ध की परिचर्या से स्वस्थ होने पर युवराज विरुद्धक के प्रस्ताव को ठुकराना व मल्लिका की सेवा के लिए तत्पर होना निगति है, जिसका फलागम उसके भिक्षुणी बनने मे होता है। प्रसेनजित् और विरुद्धक की कथा बहुत कुछ अधिकारिक कथा जैसी है, अतएव उसमे कार्यावस्थाएँ अधिक स्पष्ट है और फल कथानायक अथवा पताका-नायक विरुद्धक से अजात की ही भाँति सीधे न जुडा होकर प्रसेन से सम्बद्ध है। दूसरे अक के पाँचवें दृश्य मे प्रसेन का मल्लिका से बन्धुल की हत्या के सन्दर्भ मे क्षमा माँगना और उसके सौम्य व्यक्तित्व से अभिभूत होना प्रारम्भ है। तीसरे अंक के दूसरे दृश्य मे प्रसेन का वासवी के कहने से अजात को मुक्त करना प्रयत्न-दशा है। चौथे दृश्य मे शक्तिमती का मल्लिका के सामने अपनी भूल स्वीकार करना प्राप्त्याशा है। अगले दृश्य मे मल्लिका के प्रभाव से प्रसेन का शक्तिमती को स्वीकार करना नियताप्ति है और इसी दृश्य मे बुद्ध की प्रेरणा से प्रसेन का विरुद्धक को पुनः युवराज-पद देना फलागम है। इस फल की उपलब्धि पताका-नायक विरुद्धक को होती है, ठीक

उसी प्रकार जैसे अधिकारिक कथा के फल की उपलब्धि अजात को होती है। अजात की भाँति विरुद्धक भी अपनी माँ शक्तिमती से प्रेरित परिचालित है।

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसाद को कथानक की पारस्परिक ऋजुता प्रिय नही था, अतएव उन्होने वस्तु-विन्यास और चरित्र-विधान मे वक्रता की शैली अपनायी है। इसीलिए विरोध का तत्व जो प्रतिपक्ष के रूप मे कथा के मध्य भाग मे आना चाहिये, प्रसाद के नाटको मे आरम्भ मे ही उभर आता है और फल की प्राप्ति नायक को होते हुए भी उसके सूत्रधार दूसरे होते है।

समानान्तर कथा-सूत्रो की स्थिति के कारण इस नाटक मे पात्रो के वर्ग स्वत॰ बन गये हैं। अजात, विरुद्धक और उदयन राजन्यवर्गीय युवा अह एव पौरुष से संपन्न चरित्र है। बिंबसार और प्रसेनजित् अधिकार-लिप्सु सत्तारूढ वर्ग के प्रतिनिधि हैं। बुद्ध, सारिपुत्र, आनन्द और जीवक सत्पक्ष के समर्थक आदर्श चरित्र है। बन्धुल और दीर्घकारायण राष्ट्राभिमानी वीर सेनानायक हैं। देवदत्त और समुद्रदत्त असत्पक्ष के अमार्जनीय चरित्र है। नारी-पात्रो मे भी वर्गबद्धता देखी जा सकती है। वासवी, मल्लिका, पद्मावती, वाजिरा और वासवदत्ता नारीत्व की उदारता, करुणा और सहिष्णुता का आदर्श प्रस्तुत करती है। छलना, मागन्धी और शक्तिमती उग्र अहभाव से युक्त महत्वाकाक्षिणी नारियाँ हैं। चरित्रो की यह समानान्तरता मूल गुण के ही आधार पर देखनी चाहिए, समग्र व्यक्तित्व की भूमिका मे नही।

प्रसाद की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि वर्गीय चित्रण करते हुए भी वे प्रमुख पात्रो की निजी विशेषताओ को उभारने मे सिद्धहस्त है। यदि यह व्यक्ति-वैचित्र्य न हो, तो कथानक मे रूढि की ऊब उत्पन्न हो जाती है। प्रसाद के अन्य नाटको की भाँति 'अजातशत्रु' मे भी व्यक्तिवैशिष्ट्य सुरक्षित है। अजातशत्रु, विरुद्धक और उदयन युवा-राजवर्ग के प्रतिनिधि चरित्र है और तीनो मे अहभाव और वीरत्व का प्रभावशाली ओज व वेग है, किन्तु उनकी परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ उन्हे अलग-अलग दिशाओ में ले जाती हैं। अजात बचपन से ही उद्दड और क्रूर है और उसकी यह प्रवृति उसकी माँ छलना के अनुचित प्रोत्साहन का प्रतिफल है। उसमे महत्वाकाक्षा है, जिसका पोषण देवदत्त अपनी दुरभीष्ट-सिद्धि के लिए करता है। अपनी उद्दन्डताओ और दुष्टताओ लिए उतना उत्तरदायी वह नही है, जितना छलना और देवदत्त। उसके चरित्र का पतनशील पक्ष सास्कारिक कम है, प्रेरित अधिक। इस कारण नाटक के पूर्वार्ध से भी अधिक भाग मे वह स्वतत्र व्यक्तित्व से हीन दिखाई पडता है। उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व पहली बार मल्लिका के सम्पर्क मे आने पर उभरता है। मल्लिका की उदार करुणा का प्रत्यक्षानुभव उसके उदात्त सस्कार को जगाता है और वह कोसल पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा करता है। उसके कमजोर मनोबल पर एक बार फिर छलना और देवदत्त विरुद्धक के सहयोग से हावी हो जाते है और वह अपनी प्रतिज्ञा

भूलकर कोसल के विरुद्ध युद्धरत होता है। यह सही है कि इस बार वह आक्रमण को अपेक्षा आत्मरक्षण के विचार से अधिक प्रेरित होकर युद्ध मे अपने पक्ष का नेतृत्व कर रहा है, किन्तु उसका उदारता व विनय का मनोभाव तो दब जाता ही है। उसका मनोबल पूर्ण होता है वाजिरा से मिलने पर। वाजिरा का उदार प्रेम उसके विद्रोही हृदय पर विजयी होता है। वासवी की उदारता—उसका उसे बन्दीगृह से छुड़ाना—से उसका हृदय भर आता है और अब उसे अपने दुष्ट कृत्यो के लिए ग्लानि का अनुभव होता है। विरुद्धक प्रसेनजित द्वारा क्षमा कर दिया जाता है तो वह उसके प्रति ईर्ष्यालु हो उठता है। अन्त मे वह बिंबसार के आगे क्षमा-प्रार्थी होता है और कृतकार्य होता है।

इस प्रकार अजात मानवीय दुर्बलताओ से युक्त एक सामान्य चरित्र के रूप मे सामने आता है। वह इस नाटक का नायक अवश्य है, किन्तु उसमे नायकोचित स्वतत्र इच्छाशक्ति की कमी उसे कठपुतलियो के खेल का राजकुमार बना देती है। विरुद्धक भी राजकुमार है और वह भी अपनी माँ शक्तिमती से विद्रोह की प्रेरणा पाता है, किन्तु उसका चरित्र इतना व्यक्तित्वहीन नही। उसकी महत्वाकाक्षा अपेक्षाकृत अधिक प्रबल है। उसमे स्वतत्र बुद्धि है। प्रसेनजित् के सामने कोसल की राजसभा मे अजात के कृत्य का समर्थन वह जिस आत्मविश्वास से करता है, वह उसके व्यक्तित्व का निजी गुण है। अपमानित होने पर वह दस्यु बनता है और भयकर उद्योग करता है। छल, हत्या, कुचक्र कोई भी अपकर्म उससे नही बचता। कहना न होगा कि उसके संस्कारो मे आभिजात्य की कमी है। मल्लिका की उदारता उसका हृदय-परिवर्तन करती है, किन्तु उसका यह परिवर्तित व्यक्तित्व बहुत कुछ आकस्मिक और आरोपित लगता है, अजात की भाँति स्वाभाविक और सास्कारिक नही। उसकी परिणति का यह अजनबीपन और उसके पूर्वजीवन की अदम्य इच्छाशक्ति दोनों ही उसे अपनी माँ दासी पुत्री शक्तिमती से मानसी विरासत मे मिले है। अजात मे दृढ इच्छा शक्ति का अभाव और उसके परिवर्तन की सहजता—ठीक इसके विपरीत अभिजातवर्गीय भाव भूमि प्रस्तुत करते हैं।

उदयन की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। उसके सामने सत्तान्तरण की कोई समस्या नही है। उसे न विद्रोह करना है और न विद्रोह का सामना ही करना है। वह शक्तिशाली शासक है, अतएव राजनीतिक दृष्टि से वह सुप्रतिष्ठित है। समय आने पर वह न्याय का पक्ष लेकर प्रसेनजित् का साथ देता है और उसके हाथो प्रतिपक्ष का एक दृढ स्तम्भ विरुद्धक घायल होता है। यह उसके चरित्र का उज्ज्वल पक्ष है। मानवीय दुर्बलता उसके चरित्र का दूसरा पहलू है, जिसमे वह अपनी कामान्धता मे मागन्धी के आरोप पर अक्षरश: विश्वास करके पद्मावती के प्रति खड्गहस्त होता है,

किन्तु वासवदत्ता के कारण और वास्तविकता के आलोक मे वह अपनी भूल स्वीकार करता है।

इस प्रकार अजात, विरुद्धक और उदयन एक ही स्तर के पात्र होने पर भी अपने-अपने परिवेश की छाप लिए हुए है। मानवीय दुर्बलता के शिकार तीनो होते हैं, किन्तु आदर्श व्यक्तित्वो तथा यथार्थ अनुभवो के प्रकाश मे वे सुधर जाते है। बिंबसार और प्रसेनजित् सत्तारूढ़ पुरानी पीढ़ी के राजवर्ग के प्रतिनिधि है और उनमे अधिकार का मोह है। व्यक्तिगत स्तर पर दोनो मे मूल अन्तर यह है कि बिंबसार मे दृढ इच्छाशक्ति का अभाव है जबकि प्रसेन मे वह दुराग्रह की हद तक विद्यमान है। इसका एक कारण यह भी है कि बिंबसार मे आत्म मन्थन की प्रवृत्ति है और वह किसी सीमा तक नियतिवादी है। प्रसेनजित् ठीक इसके विपरीत विचारशक्ति से शून्य और राजकीय अह से पूर्ण है। यही कारण है कि बिंबसार पहली ही ठोकर और पहले ही सत्परामर्श मे अजात को सत्ता सौंप कर तटस्थ हो जाता है, जबकि प्रसेन विरुद्धक को सत्ताच्युत करता है और तब तक अपनी जिद पर कायम रहता है जब तक उस पर सभी ओर से दबाव नही पडता। उसका चरित्र सीधा और द्वन्द्वहीन है। वह किसी के हाथों की कठपुतली नही बनता। कृतज्ञता का गुण उसमे है और मल्लिका की करुणा के प्रतिदान मे वह शक्तिमती और विरुद्धक को क्षमा कर देता है।

बुद्ध, सारिपुत्र, आनन्द और जीवक आदर्श चरित्र है और उनके जीवन-प्रवाह मे आरोहावरोह नहीं आते। बुद्ध करुणा के महान् लोकादर्श के प्रतीक हैं और निर्लिप्त शुद्ध बुद्धि से युक्त होने पर भी लोकप्रपंच मे न्याय के पक्ष को सबल बनाने मे कर्मरत रहते हैं। उनका अनात्मवाद और अनित्यवाद अकर्मण्यता की नही, निरासक्त कर्मठता की शिक्षा देता है। जीवक उनके कर्मादर्श का अधिक सक्रिय और व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है। नियति की डोर पकडकर वह निर्भय कर्म-कूप मे उतरने को सदैव प्रस्तुत रहता है। सारिपुत्र और आनन्द बुद्ध के सद्धर्म के संवाहक निष्ठावान् चरित्र है। नाटकीय दृष्टि से ये आदर्श-चरित्र अधिक मचोपयोगी नही लगते, किन्तु असत्पक्ष के प्रतिरोध के लिए सत्पक्ष को सक्षम बनाने का दायित्व इन्ही पर है और इनसे पूरे परिवेश को एक अलौकिक दीप्ति मिलती है। यह दीप्ति प्रसाद के सभी नाटको मे मिलेगी, किन्तु 'अजातशत्रु' मे यह कुछ अधिक है। आदर्श का पक्ष इस नाटक में प्रतिपक्ष से कुछ अधिक ही प्रबल बना रहता है, अतएव वास्तविकता का नाटकीय प्रभाव इसमे कमजोर हो गया है। बन्धुल और दीर्घकारायण वीर चरित्र हैं। दोनों मे राष्ट्राभिमान है। वैयक्तिक दृष्टि से बन्धुल मे वीरता की ही विशेषता है, जबकि दीर्घकारायण चतुर, स्वार्थद्रष्टा एव सहज मानवीय प्रतिशोध भाव से भी युक्त है। विरुद्धक से जुड़कर दीर्घकारायण प्रसेन से अपने मामा बन्धुल की हत्या का बदला भी चुकाना चाहता है, साथ ही वाजिरा को प्राप्त करने की अभीष्ट सिद्धि भी चाहता है।

नाटकीय दृष्टि से वह अधिक जीवन्त-पात्र है और कथाक्रम मे दूर तक योगदान करता है, जबकि बन्धुल अपने अद्भुत पराक्रम की अमिट छाप छोडकर थोडे ही समय मे मच से हट जाता है। उसकी राष्ट्र-सेवी वीरता एक ऐकान्तिक आदर्श प्रस्तुत करती है, जबकि दीर्घकारायण की राष्ट्र-सेवा उसके मानवीय दौर्बल्य से भी जुडी रहती है। अन्ततः दीर्घकारायण का भी व्यक्ति-पक्ष शमित होता है और वह लोकादर्श से भावित हो जाता है। शक्तिमती के मानसिक परिष्करण मे उसका भी महत्वपूर्ण योगदान है। देवदत्त और समुद्रदत्त असत्पक्ष के प्रतिनिधि अमार्जनीय चरित्र है। देवदत्त उसका सिद्धान्त-पक्ष है और समुद्रदत्त उसका व्यावहारिक रूप। दोनो ही अन्त मे विनाश को प्राप्त होते हैं।

नारी-पात्रो मे आदर्श-पक्ष की सर्वाधिक प्रबल प्रतिनिधि मल्लिका है। विश्वमैत्री की कसौटी पर वह खरी उतरती है और उसका खरापन असत्पक्ष को निर्मल बनाता है। नाटक के प्रमुख सक्रिय चरित्र विरुद्धक, प्रसेन, अजात और शक्तिमती उसी के सद्विचार से भावित होकर आत्म-परिष्कार करते हैं। वैयक्तिक सन्दर्भ मे उसमें पातिव्रत का दृढ चरित्र-बल है और सामाजिक क्षेत्र मे वह निर्बैर व अपरिसीम करुणा की प्रतीक है। उसके उदार व्यक्तित्व को देख कर श्यामा का यह अनुभव करना कि जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है, उसके चरित्र का यथार्थ अनुभव है। वासवी करुणा के लोकादर्श को पारिवारिक स्तर पर चरितार्थ करती है। उसमे स्वाभिमान अवश्य है और वह अजात व छलना की दुर्बुद्धि से दुखी होकर अपना व बिंबसार का जीवन-निर्वाह अपने दहेज मे प्राप्त काशी के राजस्व से करने का निश्चय करती है, किन्तु यह उसका एकमात्र विकल्प है और यह विकल्प उसके चरित्र को गिराने के लिए अपर्याप्त है। अन्ततः उसका अजात को छुडाना तथा छलना के साथ उसे बिंबसार का पुन स्नेहपात्र बनाना उसके उदार मनोभाव को भलीभाति प्रकट कर देते है। पद्मावती सद्भावमयी, सहनशीला व पतिव्रता युवती है। उसका व्यक्तित्व वासवी जैसा बडा नही, किन्तु है वह उसी आलोक की एक लकीर। वाजिरा सरल हृदया भावुक राजकुमारी के रूप मे सामने आती है। सरलता और भावुकता स्वभाव से आदर्शोन्मुख होती है। वाजिरा भी विश्व को प्रेममय देखना चाहती है और वैयक्तिक भूमिका मे उसका यह प्रेमभाव अजात की ओर अग्रसर होता है। उसका निष्कलुष हृदय अजात को भी प्रभावित करता है। वासवदत्ता सद्विचारमयी उदार प्रकृति की नारी है। वासवी की भाति वह भी सपत्नी-द्वेष से रहित है।

नारी-पात्रो मे दूसरा वर्ग छलना, शक्तिमती और मागन्धी का है जो तीव्र अहंभाव से युक्त है। छलना के अभिमान की आग सपत्नी-ईर्ष्या के पवन से तीव्रतर होती है जिसमें देवदत्त अपनी दुष्ट कूट-बुद्धि से दुरभिसन्धि की घृताहुति देता है। वह बवंडर बन जाती है और अपने आवेग मे एक बार सबको उडा ले जाती है। अन्ततः

नारीत्व का मूल गुण—उसका मातृत्व उसे मोडता है और वासवी की उदारता उस मोड को स्थायित्व देती है। शक्तिमती का अहंभाव प्रतिशोध और महत्वाकाक्षा से परिचालित होता है। उसमे इतनी स्व-केन्द्रिता है कि वह अपने पति प्रसेनजित् के विनाश की भी भूमिका रचने मे नही हिचकती। उसमे कूटबुद्धि है और वह दीर्घकारायण को अपने हाथ मे रखने का भरसक प्रयत्न करती है। उसमे आभिजात्य की कमी है, अतएव मल्लिका के उदार चरित्र से भी वह अधिक प्रभावित नही होती—पहली बार तो वह उससे क्रुद्ध ही हो जाती है। उसका हृदय-परिवर्तन बहुत कुछ स्थिति-सापेक्ष है। मागन्धी का अहभाव उसके रूप-गर्व से प्रेरित है। बुद्ध से अस्वीकृत होने पर वह प्रतिशोधान्ध हो जाती है और अपनी पाप-भावना से वह निरपराध पद्मावती को भी लांछित करने मे नही हिचकती। वह उद्दाम प्रणय-चर्चा चाहती हे, अतएव गार्हस्थ्य अथवा राज-सुख उसे बाध कर नही रख पाते। उसकी उच्छृखल लालसा उसे वेश्या तक बना देती है। दुर्दान्त दस्यु शैलेन्द्र के प्रति उसकी प्रसक्ति उसके चरित्र की चरम सोमा है, जिसमे निराश होने पर उसमे आत्म-विराग जागता है। मल्लिका की उदारता उसके इस विराग-भाव को और निखार कर गहरा बना देती है। अपना अन्तिम हैमर्पण वह बुद्ध के ही प्रति करती है और उसका यह विदेह समर्पण विदेह बुद्ध स्वीकार भी कर लेते हैं। आम्रपाली के रूप मे उसकी यह प्रणति निस्सन्देह बडी मधुर स' जो बुद्ध की कठोर व नीरस विरक्ति को भी क्षण भर के लिए राग-रजित कर देती है। नारीत्व का मूल मधु अनुभाव उसमे भिक्षुणी के रूप मे भी बचा हुआ है और उसका अन्त मे अपने को विजयिनी मानना इस सन्दर्भ मे निश्चय ही सार्थक है। मागन्धी इस नाटक का सर्वाधिक जीवन्त और नाटकीय चरित्र है। इस प्रकार छलना, शक्तिमती और मागन्धी उग्र अहभाव से युक्त पथभ्रष्ट चरित्रो के रूप मे प्रकट होती है और अपनी-अपनी स्थितियो मे अपनी भूमिका निभाकर अपने ढग से परिष्कृत होती है।

इन वर्गबद्ध पात्रो के अतिरिक्त केवल बसन्तक स्फुट चरित्र के रूप मे सामने आता है, किन्तु उसका रूप रूढिबद्ध होने के कारण कोई विशिष्टता नही प्रकट कर पाता। वह पारम्परिक रूप मे ही भोजनप्रेमा तथा विनोदी है। राजसहचर होने के कारण उससे सूचनाए मिलती रहती है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' के वसन्तक की भाँति उसके चरित्र-विकास का अवसर यहा है भी नही।

'अजातशत्रु' का अगीरस शान्त है। सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार के अन्तिम लक्ष्य अथवा फल की दृष्टि से ही नाटक मे रस की प्रधानता का निर्धारण सगत कहा जा सकता है, यद्यपि अनेक विशेष स्थितियों मे रस- विवेचन के आधार अन्य तत्व भी हो सकते हैं। प्रस्तुत नाटक मे शम-भाव के सवाहक चरित्र आरम से ही क्रियाशील रहते हैं और अन्याय के पक्ष की सघनता मे व्याघात उपस्थित करते रहते हैं। परिणति मे

तो यही प्रधान हो उठता है। नाटक के नामकरण की एक सार्थकता शान्त रस की सिद्धि को भी व्यजित करती है। यह भी ज्ञातव्य है कि यह शान्त-रस पारस्परिक निर्वेद को स्थायी बनाकर नही प्रस्तुत किया गया है। प्रसाद ने उसे व्यापक अर्थ देते हुए प्रवृत्ति की भूमिका मे प्रस्तुत किया है। यह विरोधाभास ठीक वैसा ही है, जैसा कि नियतिवाद और कर्मण्यता मे है। प्रसाद ने नियति पर विश्वास करते हुए कर्मण्यता का जीवन-दर्शन दिया है और वह इस नाटक मे जीवक के चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है।

इस प्रकार पसाद शान्त-रस को अगीकार करते हुए उदार पारिवारिक व सामाजिक लोकदृष्टि के पक्षधर है। विरक्त, लोकप्रपच-मुक्त पात्र भी करुणा और विश्वमैत्री की ही शिक्षा देते है और स्वय तद्वत् आचरण करते है। वस्तुत लेखक क्षुद्र स्वार्थबुद्धि के उपशम और उदार विश्व-भाव के उदय का आकांक्षी है। इस दृष्टि से शान्त रस के आश्रय वे सभी पात्र है, जो मानवीय दुर्बलताओ से ग्रस्त व सकटापन्न हैं और जिनका अन्त मे हृदय-परिष्कार हो जाता है। अजात, विरुद्धक, बिंबसार, छलना, आम्रपाली, शक्तिमती और प्रसेनजित ऐसे ही पात्र हैं। बुद्ध, मल्लिका, आनन्द तथा सारिपुत्र तो धर्म-धर ही है, अत· उन्हे शान्त रस का स्थायी आश्रय कहा जा सकता है। द्वितीय प्रमुखता वीर रस को दी जा सकती है जिसकी व्यजना बन्धुल तथा दार्घकारायण के चरित्रो के माध्यम से हुई है। विरुद्धक और अजात भी वीर चरित्र हैं और सघर्ष-सूत्र इन्ही के हाथो मे रहते भी हैं किन्तु इनकी क्षुद्र स्वार्थपरता और नैतिक भ्रष्टता के कारण सामाजिक अथवा पाठक का हृदय इनके कर्मोत्साह मे योग नही दे पाता। अतएव शुद्ध वीर रस केवल बन्धुल के माध्यम से इस नाटक मे प्रकट हुआ है, अन्यत्र वह अधिकतर रसाभास बन गया है। दयावीरता मल्लिका और वासवी मे देखी जा सकती है, किन्तु वह अपनी अतिशयता और उदात्तता मे शान्त रस से अधिक जुडी हुई है। शृंगार-रस अजात और वाजिरा के प्रसग मे अपनी सहज प्रसन्न भंगिमा के साथ प्रकट हुआ है।

प्रसाद भावनामय किशोर प्रेम के प्रति मन से बँधे हुए हैं। उनकी यह कमजोरी ही उनकी विशेषता है। इसका विलासपूर्ण रूप उदयन-मागन्धी और श्यामा-विरुद्धक के प्रणय-प्रसगो मे देखा जा सकता है, किन्तु उनमे षडयन्त्र की भूमिका निहित होने के कारण वे रस-दशा तक पहुँचाने मे असफल रहते है। विरुद्धक के मल्लिका के प्रति आकर्षण मे शृगाराभास है। शिष्ट हास्य वसन्तक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, किन्तु वह भाव-दशा से ऊपर नही उठ पाता। सघर्ष-बहुल और शम-पर्यवसायी नाटक मे हास्य की रस-दशा उतनी अपेक्षणीय भी नही। भयानक-रस की शैलेन्द्र द्वारा श्यामा की हत्या-के प्रकरण मे एक अच्छी भूमिका मिलती है। अद्‌भुत रस बन्धुल की बाण-विद्या के चमत्कार मे देखा जा सकता है। वात्सल्य-रस के आश्रय के रूप मे प्रसेन,

बिंबसार, छलना और वासवी को लिया जा सकता है। समग्रत नाटक की रस-व्यजना मध्यम कोटि की कही जा सकती है। लेखक मूलत प्रभावान्विति के लिए प्रतिबद्ध प्रतीत होता है, जिसे वह निश्चय ही सिद्ध कर सका है। सघर्षप्रधान रूपक मे प्रभाव समष्टि का होना एक मूलभूत शर्त है, जिसका निर्वाह प्रसाद बराबर करते रहे हैं। इसके लिए जिस प्रकार उन्होने अनेक नाट्यरूढियो का परित्याग किया, उसी प्रकार उन्होने नाट्य-रसो' की भी नवीन परिणतियाँ और उनके नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। स्वाभाविक रूप से पाश्चात्य नाट्य-विधियो एवं युग मे परिस्यूत यथार्थ-दृष्टि के प्रति अभिरुचि होने के कारण वे रस-सिद्धि पर आवश्यकता से अधिक केन्द्रित नही हुए। फिर इस नाटक के कथासूत्र ता अपने आप मे ही रस-दशा के प्रति विद्रूपमय है।

अभिनय की दृष्टि से यह नाटक, कुछेक परिहार्य प्रसादीय विशेषताओ को छोडकर श्रेष्ठ कहा जा सकता है। नाटकीय स्थितियो और घटनाओ का इसमे समुचित अभिनिवेश किया गया है। संघर्ष के सूत्रधारक चरित्रो मे इतना आवेग है कि पूरे कथा-प्रवाह को अपने अपने चरण मे अपनी ओर खीच लेते हैं। विरुद्धक और मागन्धी के दुहरे तिहरे व्यक्तित्व इसे अतिरिक्त और विशिष्ट नाटकीयता प्रदान करते हैं। कुछेक सूचनात्मक दृश्यो को हटाने के बाद इसे आसानी से तीन घटो मे मच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। दृश्यो में अधिक वैविध्य नही है। अधिकतम चार दृश्यो मे थोडे हेर-फेर के साथ पूरा वातावरण प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वगत-कथन इसमे अनेक हैं और प्राय बडे बडे है। कुछ स्वगत पुरानी पद्धति के है, जो समीपस्थ पात्र के लिए अश्राव्य किन्तु सामाजिको के लिए श्राव्य हैं, जैसे दूसरे अंक के चौथे दृश्य मे श्यामा से बातें करते हुए समुद्रगुप्त का अपनी कूट-मैत्री का आत्म-निर्वचन। इस प्रकार के स्वगत अभिनय की दृष्टि से अस्वाभाविक लगते हैं। प्रसाद ने प्राय ऐसी स्थितियाँ बचा ली हैं और अधिकतर स्वाभाविक एव नाटकीय स्वगत रखे हैं, जैसे दूसरे अक के आठवें दृश्य मे श्यामा के सो जाने पर शैलेन्द्र के दो चरित्र-व्यंजक स्वगत। सर्वश्राव्य कथोपकथनो मे स्थिति के अनुरूप त्वरा अथवा शैथिल्य है। गीतो को इसमे अधिकता है और कुछ अवांछनीय रूप से बडे है, जैसे अन्तिम अक के तीसरे दृश्य मे विरुद्धक का गीत अथवा अन्तिम दृश्य मे नेपथ्य-गीत। इन गीतो और लम्बे स्वगतो मे थोडी काट-छाँट की जा सकती है। जहाँ तक काव्यमयी भाषा का सम्बन्ध है, उसके लिए सामाजिक का स्तरीय होना अपेक्षित है।

———

कामना . प्रतीकात्मक रूपक

'कामना' का प्रकाशन १९२७ मे हुआ, किन्तु इसकी रचना १९२३-२४ मे हो चुकी थी । अतएव रचना काल के अनुक्रम मे 'अजातशत्रु' के बाद इसे ही लेना उचित है, यद्यपि प्रकाशन के क्रम मे इससे पहले और 'अजातशत्रु' के बाद 'नागयज्ञ' आता है । इस रूपक की रचना सस्कृत के नाटककार कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' की आन्यापदेशिक पद्धति पर हुई है । हिन्दी मे प्रसाद से पहले भारतेन्दु ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीयाक को आधार बनाकर 'पाखंड-विडम्बन' नामक एकाकी की रचना की थी । प्रसाद ने 'कामना' मे केवल उसकी रूपकात्मक पद्धति ली है, वस्तु-विषय नही । इसका कथानक उत्पाद्य या कल्पनाप्रभूत है और इसमे व्यवस्था एव पूर्णता है । रूपक-पद्धति का यह नाटक हिन्दी मे अपने ढग की पहली रचना कही जा सकती है । परवर्ती कृतियो मे कवि पन्त की 'ज्योत्सना' नाटिका इसी वर्ग मे आती है ।

'कामना' के रचना-काल मे ही बंगला मे रवीन्द्र का 'रक्तकरबी' नाटक प्रकाशित हुआ था । 'रक्तकरबी' का प्रकाशन 'प्रवासी' मे १९२४ मे सर्वप्रथम हुआ था । इसमे रवीन्द्र ने समसामयिक बहिर्मुखी सभ्यता और शासन-तन्त्र के दोषो का दिग्दर्शन कराया है और उनका आदर्शात्मक समाधन दिया है। इसमे यक्षपुरी के अधिपति को स्वर्ण संग्रही एवं प्रशासनिक प्रबन्ध के प्रति उपेक्षाशील दिखाया गया है । प्रजा दुखी है और दासता के बन्धन मे पडी हुई है। उसे इस स्थिति से उबारने के लिए नाटक की नायिका नन्दिनी अपने प्रियतम रंजन से प्रतिज्ञा करती है। नन्दिनी फूल लेकर नित्य राज-सभा मे जाती है और राजा को समझाने का प्रयत्न करती रहती है । राजा उससे प्रणय-याचना करता है और अस्वीकृति के प्रतिशोध मे भरकर रजन का वध चतुरता से करा देता है । अन्तत: उसका हृदय-परिष्कार होता है । वह नन्दिनी के प्रति क्षमाप्रार्थी होता है और अपने शासन-तन्त्र को सुधारता है। नन्दिनी सदैव एक प्रकार का लाल आभूषण पहने रहती है, जो इस नाटक के नामकरण की उपयुक्तता प्रमाणित करता है । इस प्रकार रवीन्द्र का यह नाटक भौतिकवादी सभ्यता को विरूपता और अमानवीयता पर तीखे व्यग्य करता है । सामाजिक विद्रूप के इस यथार्थ-प्रवाह के समानान्तर भावना और कल्पना की भी कोमल धारा बहती रहती है, जो अन्ततः विजयिनी होती है और जिसमे इस कृति का प्रदेय निहित है । किसी विचारक ने ठीक ही कहा है कि 'इसमे भौतिकवाद और सासारिक लोभवृत्ति पर प्रहार तो किया गया है, किन्तु रेशमी कोडे से ।'

प्रसाद ने 'कामना' मे भी इसी प्रकार आधुनिक सभ्यता की कृत्रिमता, पतनशीलता, बिद्वेषबुद्धि और स्वार्थपरता की विभीषिकाएँ चित्रित की हैं और नैसर्गिक विवेकशील व आत्म सन्तोषी सस्कृति का आदर्श प्रस्तावित किया है। प्रसाद की यह जीवन दृष्टि सास्कृतिक परम्परा की वस्तु होते हुए भी समसामयिक राष्ट्रीय नवजागरण से जुडी हुई है। विदेशी दासता के बन्धन से मुक्त होकर सहज जातीय जीवन जीने की आकाक्षा इस समय प्रत्येक भारतीय के हृदय मे उद्बुद्ध हो उठी थी। गाधी ने स्वातन्त्र्य की प्रेरणा के साथ-साथ सादे और सहज जीवन का भी आदर्श देशवासियो के समक्ष रखा था और यह भौतिकवादी सकुचित जीवन-दृष्टि के प्रति उनका अपने ढग का एक विरोध-भाव था। प्रसाद अपने युग से असम्पृक्त नही रह। 'कामना' मे स्थल-स्थल पर गाधी के जीवनादशो की अनुगूँज सुनी जा सकती है। विदेशी को दासता से मुक्ति पाना तो इसके कथानक का प्रयोजन-बिन्दु ही है। जिस प्रकार राष्ट्रीय भूमिका मे विदेशी शासन और भौतिकवादी सभ्यता परस्पर जुडे हुए थे, उसी प्रकार 'कामना' मे भी दोनो मे कारण-कार्य-सम्बन्ध है।

इस प्रकार 'कामना' में 'रक्तकरबी' के ही समान युगाक्षेप विद्यमान है। भावना और कल्पना का लालित्य भी इसमे कम नही है। इसकी तो क्या-भूमि ही फूलो का द्वीप है, जिसमे शीतल किरण-डोर से उतरी हुई तारा की सन्ताने बसती है। शैली की दृष्टि से इसमे प्रसादत्व की विशिष्टता है। प्रसाद ने इसमे चरित्रो का नामकरण उनकी अभिप्रेत व्यजना के अनुरूप किया है, अतएव मनोवृत्तियो के प्रतीक-पात्र स्वय मनोवृत्ति-रूप है। एक प्रकार से इसमे मनोवृत्तियो का ही मानवीकरण हुआ है और कथासूत्र उनकी विशेषताओ के संवाहक हैं। 'रक्तकरबी' मे ऐसा परिस्फुट प्रतीक-विधान न करके समासोक्ति की पद्धति अपनायी गयी है। उसमे समूची कथा के भीतर से सकेतार्थ उभरता है, प्रत्येक पात्र या घटना के साथ नही। इस प्रकार 'रक्तकरबी' मे व्यग्यार्थ की गहराई है, तो 'कामना' मे प्रतीकत्व का सौरस्य। दोनों ही अपने युग की महत्वपूर्ण कृतियाँ है।

'कामना' का कथानक उत्पाद्य या काल्पनिक है। इसकी मूलभूत समस्या सास्कृतिक द्वन्द्व की हैं, जो समसामयिक युग से प्रेरित है और उसी को प्रतिबिम्बित करती है। मानव की इच्छाशील प्रवृत्ति ही उसे सास्कृतिक विकास की प्रेरणा देती है और व्यापक रूप में वही विश्व-विकास की मूल प्रेरणा है। इसी कारण इसके कथानक के केन्द्र मे कामना को रखा गया है और तदनुरूप नाटक का नामकरण हुआ है। यह तीन अको का रूपक है। आरम्भ मे समुद्र-तट पर फूलो के द्वीप मे कामना, संतोष, विनोद, लीला, विवेक आदि द्वीपवासी महत्वाकांक्षी विदेशी युवक विलास के नवीन विचारो से परिचित और प्रभावित (कामना, विलास, लीला) अथवा विरक्त

(विवेक) होते हैं। अक के अन्त तक विलास की योजना के अनुसार कामना द्वीप की रानी बन जाती है। दूसरे अक मे सेनापति विनोद और मन्त्री विलास के नेतृत्व मे द्वीपवासी हिंसा, मद्यपान और व्यभिचार मे आकण्ठ डूब जाते है। इस दुर्गति पर सतोष, विवेक और करुणा दुखी होते है। कामना भी खिन्न होती है क्योकि अब विलास लालसा के साथ रहने लगा है। अन्तिम अक मे विलास की महत्वाकाक्षा अपना चरम रूप प्रकट करती है। वह स्वेच्छाचारी और क्रूर हो गया है। उसके पद-चिन्हो पर चलनेवाले क्रूर, दुर्वृत्त, प्रमदा, दम और लालसा अतिचार की सीमा पर पहुँच जाते है। कामना का मोहभग पहले ही हो चुका था, अब वह पूरी घृणा के साथ विलास के प्रति विरक्त हो उठती है। विलास उसकी पूर्णत. उपेक्षा करके स्वय राजा बन बैठता है और लालसा रानी बनती है, किन्तु संतोष और उसके सहयोगी सैनिको के द्वारा प्रतिरोध व विलास के चरित्र का उद्घाटन किए जाने पर दोनो को द्वीप से निष्कासित कर दिया जाता है। विलास और लालसा सोने से भरी नाव पर बैठकर चल देते है और भीषण समुद्र मे दुर्गति को प्राप्त होते हैं। कामना सतोष के प्रति समर्पित होती है और वह उसे स्वीकार करता है। द्वीपवासी राजतन्त्र और कृत्रिम सभ्यता के व्यामोह से मुक्त होकर पुनः निसर्ग-सहज जीवन की पूर्व-पद्धति पर आ जाते हैं। इस प्रकार यह रूपक प्रकृति-सिद्ध सहज जीवन से कृत्रिम नागरिक सभ्यता और सभ्यता से पुनः सहज जीवन की ओर गति व प्रत्यावर्तन की जीवन-कथा प्रस्तुत करता है।

प्रथम अंक मे परिवर्तन व विरोध की भूमिका बनती है, दूसरे अंक मे उनका ताना-बाना सघन और व्यापक हो जाता है तथा तीसरे अंक मे ये चरम सीमा को पहुँचकर सहसा विनष्ट हो जाते हैं। विरोध की चरमता पर प्रसाद की दृष्टि बडी जागरूकता से केन्द्रित रहती है। 'कामना' मे अन्ततः विलास का राजा बन बैठना चरम सीमा का द्योतक है जो अन्तिम दृश्य मे है। इस स्थिति को आकस्मिक रूप से सन्तोष उलट देता है। उसका आना, विलास का लालसा के साथ भाग निकलना और कामना का उसके प्रति समर्पण—ये अन्तिम घटनाएँ कुछ इतनी त्वरा के साथ एकदम सामने आ जाती हैं कि यह सब अप्रत्याशित न होते हुए भी असहज व अद्भुत लगने लगता है। इसे नियति का रूप कह सकते हैं, किन्तु आकस्मिकता का दोष तब भी बना ही रह जाता है। नियति का जो अपना एक मानसी प्रभाव होता है, वह इस अप्रत्याशित त्वरा के कारण नहीं बन सका है। यह अवश्य है कि नाटककार ने कामना के मन में विलास के प्रति असन्तोष का उदय दूसरे अंक के आरम्भ मे ही सकेतित कर दिया है, जो परवर्ती घटनाओ से पुष्ट होता हुआ विरक्ति और घृणा का रूप धारण कर लेता है। साथ ही सन्तोष, विवेक आदि आदर्शशील पात्रों की प्रतिपक्षीय अथवा

अनुपक्षीय सक्रियता उसी क्षण से आरम्भ हो जाती है, जब विलास का द्वीप मे आगमन होता है किन्तु यह सब जितना चरित्र-व्यजक है उतना परिणति-पोषक नही।

सन्तोष और कामना का अन्त मे मिलन भी नाटकीय प्रयोजन के अनुरूप है, किन्तु उसे अप्रसारित करनेवाली अन्तिम घटना अपनी आकस्मिकता के कारण अति-नाटकीय ही कही जायेगी। विरोध की चरम सीमा के प्रति विशेष आकर्षण होने का एक परिणाम यह भी है कि कथा-गठन मे बहुधा प्रसाद को भारतीय पद्धति से कुछ हटकर चलना पडा है। कार्यावस्थाओ व अर्थप्रकृतियो का व्यत्यय और उसके फल-स्वरूप सन्धियो का विघटन बहुत कुछ इसी कारण है। अन्तिम दृश्य मे जब कामना द्वीपवासियो की दुर्दशा जानकर विक्षोभाविष्ट हो उठती है, वहाँ नियताप्ति और कामना व सन्तोष के मिलन मे फलागम कार्यावस्थाएँ देखी जा सकती हैं, किन्तु इनसे पूर्व की तीन कार्यावस्थाएँ इसमे नही है अथवा यदि है तो कथाप्रवाह से कटी होने के कारण महत्वहीन हैं।

बीज और बिन्दु अर्थप्रकृतियों को इस नाटक मे विरोध-तत्व के सन्दर्भ मे देखना उचित होगा, न कि कार्य अथवा फल के सन्दर्भ मे। इस दृष्टि से सघर्ष व विरोध व बीज पहले दृश्य मे पर्दा उठते ही सामने आ जाता है। कामना का यह अनुभव कि अकर्मण्य सन्तोष से उसकी नही पटेगी, बीजरूप है। विलास का उसके सिर पर स्वर्ण-पट्ट बाँधना बिन्दु की स्थिति है क्योकि यही से कामना का जीवन सन्तोष के विपक्ष मे एक निश्चित मोड ले लेता है। फल की दृष्टि से बीज पहले अक के चतुर्थ दृश्य मे वहाँ माना जा सकता है जहाँ कामना लीला का विवाह विनोद से करा देती है और सन्तोष को अपने निर्वाचित पुरुष के रूप मे सुरक्षित रखती है। यो यह स्थिति प्रयत्न कार्यावस्था के अपेक्षाकृत अधिक समीप है। इस प्रकार 'कामना' के कथा-संगठन मे प्रसाद ने पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का विशेष आश्रय लिया है।

प्रतीकात्मक चरित्र-विधान होने के कारण इस नाटक मे चारित्रिक आरोहा-वरोह के लिए बहुत कम अवकाश है। अधिकतर पात्र आद्योपान्त अपनी उस मूलभूत मानव-प्रवृत्ति मे स्थिर रहते हैं जिसके कि वे व्यंजक है। सत् और असत् दोनो पक्षो के चरित्र अपनी-अपनी भूमिका मे एक से बने रहते है। इसी कारण जहाँ सत्पक्ष की विजय दिखाई जाती है, वहाँ असत्पक्ष अन्ततः विनाश को प्राप्त होता है। सन्तोष, विवेक, वनलक्ष्मी और करुणा आदर्श अथवा सत्पक्ष के प्रतिनिधि हैं तथा विलास, लालसा, दम, दुर्वृत्त, क्रूर और प्रमदा असत्पक्ष के। इन दोनो वर्गों के बीच एक कडी उन पात्रो की है जो बनने-बिगडने की सहज मानवीय संभावनाओ से युक्त हैं। अपराध और पाप कहे जाने वाले वर्जित क्षेत्रो की ओर ये तीव्रता से आकर्षित और अग्रसर होते हैं, क्योकि उनमे तात्कालिक सुख हस्तामलक जैसा प्रतीत होता है। कामना, लीला और विनोद ऐसे ही पात्र हैं। ऐसे पात्रो मे जिस प्रकार पतन की संभावनाएँ निहित

होती है, उसी प्रकार परिष्कार की भी। इसीलिए ये पात्र अन्त मे 'मोहभग होने पर अपने प्रकृत आदर्श की ओर लोट आते है। इनके चरित्रो मे थोडा आरोहावरोह है और नाटकीय सक्रियता का सयोजन व सम्प्रसारण प्रमुखत इन्ही के माध्यम से होता है। कथानक को आगे बढाने मे प्रमुख भूमिका इन्ही की रही है। वास्तविक अभिनेता ये ही है, विलास तो निर्देशक मात्र है। पहले कामना विलास मे आत्मतुष्टि अनुभव करती है और लीला उसकी सहयोगिनी बनकर विनोद को उसका अनुगामी बना देती है और इन तीन अस्त्रो के सहारे विलास अपनी महत्वाकाक्षा का महारण छेड देता है। कामना नेतृत्व करती है और लीला व विनोद उसका समर्थन करते हुए उसके लिए बहुमत बनाते हैं।

चरित्रॉकन मे प्रसाद ने आत्मव्यजना की पद्धति का इसमे विशेष प्रयोग किया है। सभी प्रमुख पात्र अपने मूल गुण को कही न कही अपने ही शब्दो मे रख देते हैं। प्रतीकविधि की यह एक वाछनीय और स्वाभाविक सह-विधा कही जा सकती है। कुछ आत्मपरिचायक उक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

कामना—मैं क्या चाहती हूँ ? जो कुछ प्राप्त है, इससे भी महान्। वह चाहे कोई वस्तु हो। हृदय को कोई करो रहा है।

विलास—मेरी मानसिक अव्यवस्था कैसे छाया-चित्र दिखलाती है।···इस फूलो के द्वीप मे मधुप के समान विहार करूगा। मैं इस देश के अनिर्दिष्ट आकाश-पथ का धूमकेतु हूँ। चलूँगा, मेरी महत्वाकाक्षा ने अवकाश और समय दोनो की सृष्टि कर दी है।

सन्तोष—सुखो, हा, मैं सुखी हूँ—मेरी एक ही अवस्था है।

लालसा—दारुणज्वाला, अतृप्ति का भयानक अभिशाप। मेरे जीवन का सगी कौन है। मैं लालसा हूँ, जन्म भर जिसका सतोष नही हुआ।

लीला—मेरा हृदय व्याकुल है, चचल है, लालायित है, मेरा सब कुछ अपूर्ण है।

इसी प्रकार विवेक, विनोद, दभ, दुर्वृत, क्रूर, प्रमदा, करुणा और विवेक के चरित्र भी उनकी ही उक्तियो मे व्यंजित किये गए हैं। नामकरण के साथ आत्म-परिचय की यह व्यजकता अपना एक अलग ही आकर्षण रखती है। इस नाटक की सपाट पद्धति के यह नितान्त अनुरूप है। पराक्षेपों और कर्मशृंखला के माध्यम से चरित्रो का विकास होना एक सामान्य नाटकीय पद्धति है, जो 'कामना' मे भी अपने प्रकृत रूप मे विद्यमान है।

अभिनय की दृष्टि से यह नाटक कुछेक लम्बे सम्वादों और स्वगतो मे थोडी काट-छाट के बाद सर्वथा उपयुक्त कहा जा सकता है। विलास, कामना, सन्तोष और विवेक के स्वगत अथवा संवाद कई स्थलों पर अनावश्यक रूप से लम्बे हो गए हैं, जो प्रस्तावित. जीवन-दर्शन की दृष्टि से जितने उपयोगी हैं, उतने ही मंचीय दृष्टिकोण से

अनुपयुक्त। उन्हे आसानी से छोटा किया जा सकता है, क्योकि भावात्मक स्फीति के स्थल हटा देने से कथानक पर कोई प्रभाव नहीं पडेगा। क्रियाशीलता इस नाटक मे आद्योपान्त बनी रहती है और उसमे यथेष्ट नाटकीयता है। मञ्च पर मद्य पान, आखेट, हिंसा, प्रमत्ताचरण आदि दिखाना कई स्थलो पर भारतीय नाट्य-पद्धति के प्रतिकूल हो सकता है, किन्तु मचीय आकर्षण के वह नितान्त अनुकूल है। विविध प्रवृत्तियो के प्रतीक पात्रो की वैविध्यमयी सज्जा भी कम नाटकोचित नही। विलास और सन्तोष, लालसा और वनलक्ष्मी, प्रमदा और करुणा, दभ और विवेक के परस्पर प्रतिपक्षीय व्यक्तित्व विशेष नाट्य-दीप्ति उत्पन्न करते हे। लालसा अपने नामानुरूप इस नाटक मे एक जीवन्त और रोचक चरित्र बनकर आई है। आदर्श के आगे सिर सभी झुका देते है, किन्तु मन को व्यावहारिक यथार्थ मे ही आत्म-प्रसादन की सामग्री मिलती है। यही कारण है कि कथाकृतियो मे विरोध-पक्ष अपेक्षाकृत अधिक मन को बाँधता है। यह तात्कालिक आकर्षण लालसा के चरित्र मे है और इसे मचीय विशिष्टता कह सकते हैं। कामना और लीला के चरित्रो मे भी यह तात्कालिक सम्मोहन है किन्तु उनमे लालसा जैसी त्वरा नही है। दभ, दुर्वृत्त, क्रूर और प्रमदा के चरित्रो के माध्यम से आदर्श की जो पाखण्डमयी विडम्बना प्रस्तुत की गयी है, वह आधुनिक सभ्यता पर चुभता हुआ व्यंग्य है। उसमे नाटकीय व्यग्य-विनोद का आकर्षण है। दंभ सस्कृति और धर्म की बातें करता है, दुर्वृत्त व्यवस्था, परोपकार और सहानुभूति के भाव से प्रेरित है, क्रूर व्याधि-विनाश के लिए कृतसंकल्प है और प्रमदा स्त्री-जाति को पुरुषो की दासता से मुक्त करने के लिए सघर्षरत है।

इन व्यंग्य-चित्रो के माध्यम से प्रसाद ने यह सकेतित करने का प्रयास किया है कि सस्कृति धर्म, सेवा और स्वाभिमान स्वार्थ-बद्ध मानव के लिए मुखौटे बन जाते है, जिनके कारण वह समाज का शोषण करने मे सफल होता है। ये पात्र विलास के अनुगामी है और विलास स्वय अपनी महत्वाकाँक्षा का दास है। निश्चय ही ये चरित्र विशेष मंचीय आकर्षण रखते है। कामना की रचना-पद्धति प्रसाद की निजी विशेषताओ से सम्पन्न है। प्रधान पात्र कामना के स्वगत से नाटक का आरभ होता है और यह स्वगत उसके मूल चारित्रिक गुण का व्यजक है। विरोध-पक्ष का क्रमिक रूप से सघनतर होते जाना और चरम सीमा तक पहुँचकर निगति में पर्यवसित होना भी इसमे प्रसाद के प्रमुख नाटको जैसा ही है। स्थितियो के अनुरूप गीतो व गानो तथा भावादर्शमय कथोपकथनो की योजना भी नितान्त प्रसादीय है। समापन भरत-वाक्य से होता है, जो नाटक की प्रयोजनबद्धता के कारण वाछनीय कहा जा सकता है। अधिकतर सवाद छोटे हैं और उनमे त्वरा है। दृश्य कम हैं और सभी वन्य प्रकृति के हैं। बहुत थोडे परिवर्तन के साथ दृश्यान्तर प्रस्तुत हो जाता है। समुद्र-तट पर फूलों के द्वीप मे रचा गया यह नाटक एक रम्य चित्र वीथी कहा जा सकता है।

जनमेजय का नागयज्ञ एक वैचारिक विप्रयोग

'जनमेजय का नागयज्ञ' का प्रकाशन १६२६ मे हुआ। प्रसाद ने मुख्यतः 'महाभारत के आधार पर इसके कथा-सूत्र सगठित किए हैं। 'ऐतरेय ब्राह्मण,' 'शतपथ ब्राह्मण 'एव' हरिवश पुराण' मे भी उन्हे एतद्विषयक सामग्रा मिली है। प्रमुख घटनाएँ एवं पात्र इतिहास-सम्मत हैं। वे प्राक्कथन मे लिखते हैं—'इस नाटक मे ऐसी कोई घटना समाविष्ट नही है, जिसका मूल भारत और हरिवंश मे न हो। घटनाओ की परम्परा ठीक करने मे नाटकीय स्वतन्त्रता से अवश्य कुछ काम लेना पडा है, परन्तु उतनी से अधिक नही, जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक लिखने मे ली जा सकती है।' जनमेजय का अश्वमेध-यज्ञ करना, असितागिरस काश्यप का जनमेजय के विरुद्ध नागो को भडकाना, उत्तक का जनमेजय को बाह्य व अभ्यन्तर कुचक्रो के दमन के लिए उकसाना आदि इस नाटक के प्रमुख घटना-सूत्र है जिनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता प्रसाद ने प्राक्कथन मे प्रस्तुत की है। माणवक, त्रिविक्रम, दामिनी, शीला आदि चार पाच पात्रो को छोडकर शेष सभी पात्र भी इतिहास-समत है। 'जहाँ तक हो सका है, इसके आख्यान भाग मे भारत काल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गयी है, और इन कल्पित चार पात्रो से मूल घटनाओ का सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने का ही काम लिया गया है। इनमे से वास्तव मे दो एक का केवल नाम ही कल्पित है, जैसे वेद की पत्नी दामिनी। उनके चरित्र और व्यक्तित्व का भारत-इतिहास मे बहुत कुछ अस्तित्व है।' इस प्रकार नाटककार ने महाभारत-काल की ऐतिहासिकता को इस नाटक मे सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

प्रसाद आर्यजाति के गौरव और प्रताप का चित्रण गहरी रुचि के साथ अपने ऐतिहासिक नाटको मे करते रहे है और उसी का एक निदर्शन यह रूपक भी है। कलियुग के आरभ मे पाण्डवो के बाद परीक्षित का पुत्र जनमेजय एक स्मरणीय शासक हुआ है। वह महत्वाकाक्षी, पराक्रमी एवं दृढ शासक था। उसके पिता परीक्षित के शासन काल मे कुरु-देश की राष्ट्रशक्ति क्षीण हो गयी थी और वन्य जातियो, जिनमे एक नागजाति भी थी, ने अत्यधिक उपद्रव मचाया था। नागो ने गाधार मे बडा उत्पात मचाया था और तक्षशिला को हस्तगत कर लिया था। नाग-जाति के प्रधान तक्षक ने परीक्षित का वध किया था, जिसमे पुरोहित काश्यप की भी आन्तरिक सहमति थी। जनमेजय ने सर्प-सत्र करके नागजाति का भयंकर विनाश किया और तक्षशिला को अपने अधिकार मे कर लिया। इस प्रकार 'श्रीकृष्ण द्वारा सम्पादित नवीन महाभारत साम्राज्य की पुनर्योजना जनमेजय के प्रचण्ड विक्रम और दृढ़ शासन से हुई थी।' उसने अपने द्वारा भूल से हुई ब्रह्महत्या के प्रायश्चित के रूप मे अश्वमेध-यज्ञ किया था, जिसमे

काश्यप के स्थान पर इद्रोत दैवाप शौनक (शतपथ०) अथवा तुरकावेषय (ऐतरेय०) को पुरोहित बनाया गया था असितागितरस काश्यप ने अपनी मानहानि के प्रतिशोध मे भरकर नागो को जनमेजय के विरुद्ध उभारा, जो पहले से ही अर्जुन द्वारा किए गए खण्डव-दाह के कारण आर्यों के प्रति विद्वेष-भाव रखते थे। जनमेजय ने प्रचण्ड पराक्रम और चातुर्य से नागो का दमन किया। उसने नागकन्या से उत्पन्न सोमश्रवा को प्रयत्न करके अपना पुरोहित बनाया था। उसकी शक्ति से पराभूत होकर नागो ने आत्मसमर्पण कर दिया था और सदैव से लडनेवाली आर्य और नाग जातियो मे मेल-मिलाप हुआ था, जिससे हजारो वर्षों तक आर्य-साम्राज्य मे भारतीय प्रजा फूलती फलती रही।

यह नाटक वस्तुत: आर्य-युवको, जिनका गौरवशाली प्रतिनिधि जनमेजय है, की मनस्विता का एक जीवन्त दृश्यालेख प्रस्तुत करता है। कहना न होगा कि यह सास्कृतिक दृश्यालेख प्रसाद की राष्ट्रीय विचारधारा का ही एक पहलू है और इसके द्वारा वे जातिगत या साम्प्रदायिक वैमनस्य की विगर्हणा करके एकतान राष्ट्रवाद, जिसे आज की भाषा मे 'भावनात्मक एकता' से संदर्भित किया जा सकता है, का आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इस नाटक के प्रकाशन के पूर्व वर्ष-भर के भीतर ही देश मे भीषण साम्प्रदायिक दगे हो चुके थे और गाधी इस जातिगत विद्वेषाग्नि के शमन की ओर विशेषत. उन्मुख हो गए थे, क्योंकि इस विभक्ति से उनके महत्तर लक्ष्य—स्वराज्य-प्राप्ति की नीव हिलने लगी थी। कुछ अजब नही कि प्रसाद ने इस नाटक की रचना अथवा इसका अन्तिम परिशोधन करते समय सामयिक वातावरण को भी संकेतित करने एव उसे एक उदार सास्कृतिक समाधान देने का उद्देश्य अपने सामने रखा हो। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि इस नाटक मे प्रसाद ने सर्वप्रथम आर्य-अनार्य-विरोध की समस्या उठायी है। इससे पूर्व वे ऐतिहासिक नाटको मे माण्डलिक आर्य-राजाओ और सामन्तों के आन्तरिक विद्वेष को केन्द्र मे रखकर कथा-सरचना करते आये थे। 'नागयज्ञ' इस दृष्टि से प्रस्थान-भेद का सूचक कहा जा सकता है, क्योकि परवर्ती रचनाओ मे आर्येतर जातियो के साथ आर्यों के संघर्ष का ही चित्रण किया गया है। प्रसाद की यह सास्कृतिक दृष्टि उनके गौरवशाली राष्ट्रवाद की ही सपोषक है।

यह नाटक विचार प्रधान है और इस अर्थ मे इसे सफल कहा जा सकता है कि पाठक या दर्शक के समक्ष मूलभूत समस्या बडी स्वाभाविक किन्तु मनोवैज्ञानिक पद्धति से रख दी गयी है। नाटक का आरभ सरमा और मनसा के विवाद से होता है। मनसा नाग-सरदार वासुकि की बहन है और उसमे औद्धत्य की सीमा को छूता हुआ प्रचण्ड जातीय अभिमान है। सरमा कुकुर वश की यादवी है, जो श्रीकृष्ण की उदार शिक्षा से प्रेरित होकर नागो के साथ रहने लगी है, किन्तु उसके हृदय मे अपनी आर्य-जाति के प्रति एक गौरवपूर्ण स्वाभिमान निहित है। मनसा अपने मन्त्रबल से खाण्डव दाह की घटना सरमा के सामने प्रत्यक्ष कर देती है, जिसमे उदाराशयी श्रीकृष्ण की

प्रेरणा से अर्जुन ने नाग-जाति का विध्वस किया था। सरमा क्षुब्ध होकर अपने पुत्र माणवक के साथ अपने 'सजातियो' के पास चली जाती है।

रगमचीय दृष्टि से यह नाटक के भीतर नाटक या दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की शैली भले ही अस्वाभाविक कही जाए, किन्तु वै॰ ारिक प्रदेय की दृष्टि से कृति के आधारभूत मंतव्य को समझने के लिए इसकी उपादेयता से इनकार नही किया जा सकेगा। दूसरे दृश्य मे इस वैचारिक सघर्ष के व्यवहारिक कर्म-तन्तुओ की जानकारी मिलती है। कुलपति आचार्य वेद से यह सूचना मिलती है कि जनमेजय का अभिषेक होने वाला है, जिसमे सम्मिलित होने का विरोध स्वार्थी पुरोहित काश्यप कर रहा है। आचार्य-पत्नी दामिनी का अपने प्रणय-प्रस्ताव मे असफल होने पर उत्तंक से गुरुदक्षिणा के रूप मे रानी के मणि-कुण्डल मागना भी कम नाटकोचित नही। तीसरे दृश्य मे आचार्य तुरकावेषय जन-मेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक सम्पन्न कराते हैं और अपनी प्राप्य दक्षिणा लोलुप काश्यप को देकर चले जाते हैं। उत्तक को रानी के मणिकुण्डल मिल जाते हैं। सरमा जन-मेजय से न्याय न पाकर मर्माहित होती है और उसका पुत्र माणवक घोर असन्तोष से भर जाता है। नागराज तक्षक उत्तक एव उसको बचानेवाली सरमा का वध करना चाहता है किन्तु उत्तक के ब्रह्म-तेज और वासुकि के सत्परामर्श से वह ऐसा नही कर पाता। सरमा अपनी सहज स्वतत्रता एवं स्वाभिमान के अबाधित रहने का वचन लेकर अपने पति वासुकि के साथ हो जाती है। प्रथमांक के अन्तिम दृश्य मे जनमेजय के बाण से मृग के धोखे मे ऋषि जरत्कारू की मृत्यु होती हैं। समग्रतः यह सम्पूर्ण अक सघर्ष की पृष्ठभूमि बनाने, तत्सम्बन्धी सूचना देने एवं मोटे-मोटे सूत्रो को दिशा देने का प्रयास करता है।

द्वितीयाक मे सघर्ष और साथ ही समाधान के सूत्रो का संगुम्फन आरम्भ होता हैं और अपने प्रकर्ष पर पहुँचता है। अक के आरंभ मे ही नागराज तक्षक की कन्या मणिमाला जनमेजय के तेजस्वी और औदार्यपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनकी ओर आकर्षित हो जाती है। दूसरी ओर दामिनी तक्षक को उत्तक और जनमेजय के विरुद्ध भडका रही है। उत्तक भी अपने अपमानित ब्राह्मणत्व के प्रतिशोध की भावना से जनमेजय को नाग-जातिके विनाश नागयज्ञ के लिए प्रेरित करता है। जनमेजय की सेना नागो पर आक्रमण करती है और नाग अग्निकुण्ड मे जलाये जाने लगते है। तक्षक चिन्ताकुल होता है। काश्यप अपनी धूर्तता के लिए निन्दित होता है। सोमश्रवा जनमेजय का राजपुरोहित बनना स्वीकार करता है और च्यवन उसे आदर्श ब्राह्मणत्व की प्रेरणा देते है। दामिनी का वासना-पकिल और प्रतिशोधान्ध मन शुद्ध हो जाता है और वह अपने पति से क्षमायाचना करती है।

अन्तिम अक मे सघर्ष और समाधान का सारा आयोजन चरितार्थ हो जाता है। पहले दृश्य मे ही आदर्श-चरित्र वेदव्यास दोनो पक्षों को कर्त्तव्य की ओर प्रेरित

करते हैं। मनसा के नेतृत्व मे नाग जनमेजय के अश्व को पकडते हैं, किन्तु अश्व की सरक्षक आर्य-सेना उन्हें आहत करके अश्व छुडा ले जाती है। मनसा का हृदय यह रक्तपात देखकर और मणिमाला के उदार विचार से प्रभावित होकर पिघल जाता है। नाग लोलुप काश्यप की प्रेरणा से रानी वपुष्टमा का अपहरण करने का प्रयास करते हैं, किन्तु मणिमाला, माणवक और आस्तीक के सहयोग से सरमा रानी को बचा लेती है। तक्षक और मणिमाला बन्दी होते है। जनमेजय यज्ञ की पूर्णाहुति के के रूप मे तक्षक को हवनकुण्ड में डालने की आज्ञा देता है किन्तु आस्तीक के पिता जरत्कारु की हत्या की क्षतिपूर्ति के रूप मे वेदव्यास के निर्देशानुसार वह इस दुष्कृत से विरत होता है। सरमा अपने अभियोग के मुआवजे के रूप मे नागबाला मणिमाला को राजवधू बना देती है। व्यास की प्रेरणा से जनमेजय धर्षिता वपुष्टमा को पुन. अगीकार कर लेता है। ब्राह्मण-वर्ग जनमेजय को क्षमा कर देता है और दुष्ट काश्यप के किसी नाग द्वारा मार दिये जाने की सूचना मिलती है। व्यास के सास्कृतिक ऊर्ध्व-वचन और नियतिनिष्ठा लोकमंगल के परिवेश मे नाटक समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार तीन अको का यह नाटक एक ओर आर्य-अनार्य-सघर्ष और दूसरी ओर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैमनस्य की समस्याएँ सामने रखता है। समाधान के रूप मे वह आर्यत्व और ब्राह्मणत्व को आदर्श मानता है और उनकी उदात्त अवधारणा को रूपायित करता है। कहना न होगा कि प्रसाद की यह सुचिन्तित विचारधारा परवर्ती नाटको मे भी प्राय· ऐसे ही निष्कर्ष लेकर सामने आयी है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विचारप्रधान होने के कारण इसमे कई स्थलों पर नाट्य-गुण की क्षति हो गयी है। पहली बात तो यह कि निर्बाध वैचारिकता और उद्दाम भावावेग के स्थलों की भरमार होने के कारण यह नाटक, नाटकीय कम और निबन्धात्मक अधिक हो गया है। प्रायः ही नाटककार व्यावहारिक समस्या के वैचारिक विश्लेषण और समाधान मे इतना अधिक मग्न हो गया है कि समस्या पीछे रह जाती है और सारा आयोजन एक परिसंवाद बन जाता है। इसका एक अनिवार्य प्रतिफल यह भी है कि प्रायः ही सवाद अनावश्यक रूप से लम्बे और उबा देने वाले हो गये है। काव्यगुण या सास्कृतिक आदर्शवाद की बात और है, नाटकीयता को निश्चय ही इससे गहरी क्षति पहुची है। व्यास, च्यवन और श्रीकृष्ण की कोई उपयोगिता नाटकीय वस्तु-स्थिति की दृष्टि से नही सिद्ध की जा सकती और नाटक का प्रायः अर्धांश इन्हीं की बोझिल विचारशीलता से ग्रस्त है। यो, प्रसाद जी ने कथा के महत्वपूर्ण उतार-चढावों से इन पात्रो को सन्दर्भित कर दिया है, किन्तु वह आरोपित और सायास ही लगता है --सहज तो बिलकुल नहीं। आस्तीक और मणिमाला की अतिरिक्त भावुकता भी प्रायः अखरने लगती है। दूसरे अंक के आरभ में दोनो का वार्तालाप ऐसा ही है। माणवक और उत्तंक भी कई बार भाषण के 'मूड' में आ जाते हैं। इस प्रकार

लम्बे सवादों और स्वागतो के कारण 'नागयज्ञ' की नाटकीयता बार-बार बाधित होती रही है।

नाटक के आरम्भ मे दृश्यान्तर्गत-दृश्य की योजना भी अस्वाभाविक लगती है। खाण्डव-दाह के प्रसग का मायावीपन किसी सीमा तक रोचक हो सकता था, किन्तु वैचारिकता की अति के कारण वह पूरे तौर पर उबाने वाला हो गया है। मनसा के द्वारा उसकी सूचना ही यथेष्ट हो सकती थी। तीसरे, इस नाटक मे अनेक दृश्य निष्प्रयोजन लगते हैं। पहले अक के छठें दृश्य मे गुरुकुल के विद्यार्थियो का वार्तालाप ऐसा ही है। दूसरे अंक के चौथे दृश्य मे अश्वसेन और दामिनी का प्रसग भी मूल कथा से कोई सम्बन्ध नही रखता। सामान्य रूप से अधिकतर दृश्यो मे अनावश्यक प्रसग रख दिये गये है, जिनके कारण एक ओर व्यर्थ ही दृश्य बडे हो गये है और मूल कथा की धारा खण्डित होती रही है। इस नाटक की गीत-योजना भी नाट्य गुण की अपकर्षक है। कम से कम दो लम्बी कविताएँ—दूसरे अक के पहले दृश्य और तीसरे अंक के तीसरे दृश्य मे—तो एकदम असह्य है। पहला गीत चिन्तन प्रधान है, दूसरा उद्‌बोधनशील। पहला गीत तो यो ही दार्शनिकता के व्यामोह मे ठूंस दिया गया है। दूसरा गीत नाटकीय क्रियाशीलता का सहकारी हो सकता था, किन्तु वह आशातीत रूप से लचर है। दो एक को छोड कर शेष अन्य गीत भी नीरस और अप्रासगिक है। अनावश्यक पात्रो की उपस्थिति भी इसका उल्लेखनीय दोष है। अश्वसेन, शौनक, भद्रक, दामिनी, शीला आदि अनेक पात्र किसी विशेष भूमिका का निर्वाह नही करते। शील-वैचित्र्य की दृष्टि से भले हो उनकी उपयोगिता खोज ली जाए, किन्तु आधिकारिक कथा से वे सीधे जुड नही पाते। सवादो की भाषा मे वह त्वरा नही है, जो प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों मे विद्यमान है। "दिखलावेंगे" और "आइओ" जैसे भद्दे प्रयोगो की भी कमी नही है।

रस-दृष्टि से इस नाटक का क्रियात्मक ताना-बाना वीर-रसात्मक है, जबकि इसकी वैचारिकता इसे आरंभ से ही शान्त की ओर ढकेलती रही है और उसी मे इसका पर्यवसान भी हुआ है। वीर और शान्त रसो का यह द्वन्द्व पूरी कथा मे विद्यमान है। आदर्श और परिणति की दृष्टि से शान्त को अंगी या समाहारी कह सकते है। घटनाओ की प्रकृति की वीररसोपयुक्त अवश्य है किन्तु प्रमुख पात्रो का बार-बार नियति की दुहाई देना सारी कर्मठता को नगण्य बना देता है। अन्य रसो के स्थल छिटपुट और महत्वहीन हैं।

पात्रो की भीड और प्रासंगिक घटनाओ की बहुलता के कारण "नागयज्ञ" में चरित्र-चित्रण यद्यपि यथोचित नही हो सका है, फिर भी वैयक्तिक स्तर पर कतिपय चरित्र निश्चय ही बडे जीवन्त हैं। पुरुषों मे जनमेजय और स्त्रियो मे सरमा, मनसा और मणिमाला के चरित्र एक समूचा व्यक्तित्व प्रस्तुत करते हैं। जनमेजय तेजस्वी आर्य-

सम्राट है। उनमे वीरोचित दृढता व साहस है। पिता की हत्या के प्रतिशोध एवं प्रजा की रक्षा के लिए वह नागों का दमन करने के लिए कृतसकल्प है। मानवीय स्तर पर उसे नागजाति से रंचमात्र भी घृणा है, नागबाला मणिमाला के प्रति वह पूरे मन से प्रेमाविष्ट होता है। उसे घृणा नही है, तो नागो की बर्बरता और उद्दण्डता से, उनके आसुरी कर्मों से और उनके विद्वेषपूर्ण कुचक्रो से। उसमे क्षात्र-तेज है और स्वाभाविक रूप से ही उसमे प्रचण्ड क्रोध की वृत्ति है, किन्तु यह क्रोध उसके विवेक और उसकी न्यायबुद्धि पर हावी नही हो पाता। व्यास के समझाने से वह तक्षक, वासुकि आदि नागो को न केवल मुक्त कर देता है, अपितु तक्षक की कन्या को सहर्ष अगीकार करता है। नागो से घर्षिता अपनी पत्नी वपुष्टमा को पुन अपना लेना भी उसको विवेकशीलता का उज्ज्वल उदाहरण है। अनजाने मे अपने से हो गयी जरत्कारू की हत्या से उसे अत्यधिक आत्मग्लानि का अनुभव होता है। प्रतिशोध की क्रोधान्धता मे वह सरमा के प्रति अवश्य ही एक बार अविचारी हो गया है, किन्तु उसकी यह दुर्बलता मानवोचित ही कही जायेगी। इसी प्रकार काश्यप के सकेतो पर चलनेवाले कुचक्री ब्राह्मण वर्ग के निर्वासन का आदेश भी नितान्त मानवोचित है। उसकी विचार-शीलता इस तथ्य से भलीभाँति प्रकट हो जाती है कि उसके मन मे आदर्श ब्राह्मणत्व के प्रति पूरी श्रद्धा है और उसके प्रतीक व्यास के समझाने से वह केवल अपना आदेश वापस लेता है, वरन् ब्राह्मणो से क्षमा भी माँगता है। गुरुकुल और आचार्य के प्रति भी परम श्रद्धालु है। नायकोचित विनोदप्रियता और प्रगल्भता भी उसमे है। उसकी 'नागकुमारी की प्रजा' होने की पुरुषोचित कामना बडी मधुर है। कर्मठता उसके समग्र चरित्र की रीढ है। नियतिवादी होते हुए भी वह अकर्मण्य नही। वह कर्म-समुद्र मे कूद पडने को सदैव तत्पर रहता है। वह धीरोदात्त प्रकृति का गर्वीला आर्य-युवक है। प्रसाद को उसके चरित्राकन मे पूरी सफलता मिली है।

सरमा का चरित्र द्वन्द्वपरक है। जातीय स्वाभिमान और पतिभक्ति की द्विविधा मे उलझी हुई यह नारो अपने आप मे एक महान् आदर्श प्रस्तुत करती है। उदाराशयता उसमे आरभ से ही थी और उसका यह सत्साहस सराहनीय है कि कुकुरवशीया यादवी होते हुए उसने नाग-सरदार वासुकि को स्वेच्छा से वरण किया था। इस उदार मनो-दृष्टि के ही कारण वह किसी एक पक्ष का एकागी समर्थन नही कर पाती और अन्ततः अपनी तेजस्विता और कर्मठता के बल पर वह विश्वमैत्री और समदृष्टि का आदर्श चरितार्थ करने मे सफल होती है। वह एक ओर नागजाति की बर्बरता के कारण उससे असन्तुष्ट है और दूसरी ओर आर्यों का दंभ उसे विक्षुब्ध करता है, किन्तु जब उसके समक्ष मानवता का प्रश्न आता है तो वह निरपराध को बचाने का प्रयास करती है—चाहे वह वासुकि हो या उत्तंक, मणिमाला या कि वपुष्टमा। उसमें अदम्य स्वा-भिमान और सत्साहस है। मनसा हो अथवा जनमेजय—स्वाभिमान पर प्रहार करने

वाले के आगे उसने कभी सिर नही झुकाया। निर्भीकता और उदात्तता उसके निजी गुण हैं, जिनके कारण वह प्रसाद के नारी-पात्रो मे सबसे अलग और विशिष्ट दिखायी देती है। स्वाभिमान की समस्या अन्य अनेक नारी-पात्रो के समान उसके साथ भी है किन्तु उसकी उदार सदाशयता उसे अतिरिक्त महिमा से मण्डित कर देती है।

मनसा मे जातीय स्वाभिमान का उग्र तेज है। 'अजातशत्रु' की छलना की भाँति यह नारी समस्त कथा-सूत्रो को अपने प्रवाह मे एक बार तो बहा ही ले जाती है। उसे अपनी जाति के अतीत पर गर्व है और वह पुन: नागो को उसी प्रकार गौरवशाली देखने के लिए आतुर और कटिबद्ध है। जाति-हित के आगे वह व्यक्तिगत सुखो को तिलाजलि देकर वृद्ध जरत्कारू से विवाह कर लेती है। जातीयता के विरोधी को वह कभी क्षमा नही कर पाती, चाहे वह उसका अपना पुत्र आस्तीक ही क्यो न हो। यह उसी की प्रेरणा का परिणाम है कि नाग-जाति आर्यों के मुकाबले मे उठ खडी होती है। जाति की रक्षा के लिए वह व्यक्तिगत मानापमान की चिन्ता नही करती। अपनी उग्रता मे भी उसने जाति-हित के लिए आत्मोत्सर्ग किया है और परिणत की निर्विण्ण मन-स्थिति मे भी। जातीयता उसके व्यक्तित्व की रीढ है।

मणिमाला पूर्वाग्रह-मुक्त भावनामयी नागबाला है। नाग-जाति की बर्बर उग्रता से, कदाचित् सरमा यादवी की शिक्षा के कारण, वह रहित है। जनमेजय के उदार तेजस्वी व्यक्तित्व के प्रति वह प्रथम दृष्टि मे ही आकर्षित हो जाती है। अपने सस्कार मे वह आर्यत्व के अधिक निकट है। उसके कोमल प्राणों मे नारी-सुलभ करुणामयी मूर्च्छना है और वह संसार को उसी सुन्दर भाव मे डुबा देना चाहती है। मानव के मिथ्या दम्भ से उसे वितृष्णा है। उसमे यथेष्ट चरित्र-बल भी है। सरमा के प्रयत्न से वह राजवधू का पद प्राप्त कर लेती है जिसके कि वह नितान्त उपयुक्त है। कुलबाला का आभिजात्य - भावनामयी लज्जाशीलता उसमे आरभ से ही लक्षित होती है। 'अजातशत्रु' की वाजिरा से मणिमाला का व्यक्तित्व बहुत कुछ मिलता-जुलता है—इस विशेषता के साथ कि मणि मे नारीत्व की सुकुमार सवेदनशीलता के साथ सत्साहस की तेजस्विता भी है।

अन्य स्त्री-पात्रो के चरित्र सामान्य है और उनसे कथासूत्रो को भी कोई विशेष गति नही मिलती। वपुष्टमा राजमहिषी है। पति के प्रति उसमे अनन्य निष्ठा है। आर्योचित मर्यादा व उदारता उसके चरित्र को उसके गौरवशाली पद के अनुरूप ही गरिमा प्रदान करते हैं। उत्तंक को मणिकुण्डलो का दान उसको सहज उदारता का परिचायक है। आभिजात्य उसके सस्कार मे है। उसमे नारीसुलभ कोमलता है और उसे युद्ध व हिंसा प्रिय नही। सोमश्रवा की पत्नी शीला सरलता, पवित्रता और सादगी की प्रतिमूर्ति है। उसमे सत्साहस भी है। वह विप्र-कन्या है और उसका चरित्र उसकी सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही है। वेद-पत्नी दामिनी चचल और कठोर-प्रकृति की नारी है। उत्तक से

वह अपनी चारित्रिक दृढता का परिचय देता है। उसके चरित्र की यह दृढता ही उसे आत्मशक्ति मे अखण्ड आस्था और तदनुरूप निर्भीकता प्रदान करती है। उसके वध के लिए तत्पर तक्षक से वह तनिक भी आतकित नही होता। तक्षक और उसके साथ सम्पूर्ण नाग-जाति के विनाश के लिए वह कृतसकल्प है। जनमेजय उसी की प्रेरणा से नागयज्ञ के लिए कटिबद्ध होता है और सोमश्रवा के द्वारा पैरोहित्य की अस्वीकृति होने पर वह स्वय पुरोहित बनने को तत्पर हो जाता है। उसकी प्रतिहिंसा-जनित अमानवीय क्रूरता उसके चरित्र को गिरा देती है। विडम्बना यह है कि जिस दामिनी को उसने अपने चरित्रबल से एक बार श्रीहत कर दिया था, वही अन्त मे मानवता की शिक्षा देकर आसुरी कर्म से विरत करती है। पौरवो का पुरोहत काश्यप पतित ब्राह्मण के रूप मे अकित किया गया है। वह घोर स्वार्थी और अर्थलोलुप है। व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और लाभ के लिए यह कुछ भी कर सकता है। उसी की दुष्ट मन्त्रणा नागो को आर्य-विरोध के लिए उकसाती है। उसे न किसी के प्रति श्रद्धा है और न किसी के प्रति ममता। न उसे अपनी वाणी पर संयम है और न आचरण पर। रानी वपुष्टमा के अपहरण की योजना मे उसका हाथ है। वह क्रोधी, उद्धत और कुचक्री है। उसका चरित्रसुधार के योग्य नही। अन्तत वह विनाश को प्राप्त होता है। दुरात्मा काश्यप का चरित्र निश्यचय ही बडा जीवन्त और नाटकीय है। किसी सीमा तक उसकी दुर्बुद्धि नाटक मे विनोदशीलता की भी सृष्टि करती है। कथानक को ढकेलने मे वह यथेष्ट योगदान करता है।

तक्षक, वासुकि और अश्वसेन के चरित्र जातीय आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं। नागजाति की बर्बर पाशविकता तक्षक मे अपने उग्रतम रूप मे विद्यमान है। वह नागो का अधिपति है और अपनी जाति के रक्षण-पोषण के लिए वह सदैव तत्पर रहता है। प्रतिपक्ष के रूप मे उसका चरित्र बडी जीवन्त और नाटकोचित है। उसका पुत्र अश्वसेन केवल जातीय दुर्गुणो का प्रतिनिधि है। वह मद्यप और लम्पट है। मणिमाला की प्रेरणा से यह जातीय स्वाभिमान और सघर्ष की ओर उन्मुख होता है। नाग सरदार वासुकि मे नागोचित वीरता और निर्भीकता है। मानवोचित सहृदयता भी उसमे लक्षित होती है। उत्तक और सरमा को तक्षक से बचाने का साहस करना उसी के बूते की बात है। उसके पराक्रम पर ही रीझकर यादवी सरमा ने उसका वरण किया था। उसमे वीरोचित जातीय स्वाभिमान भी है। तक्षक के बन्दी होने पर वह निर्वाणोन्मुख दीप की भाँति जल उठने को तैयार हो जाता है। उसे नाग-जाति का एक आदर्श चरित्र कहा जा सकता है।

आस्तीक और माणवक भी नाग-जाति के हैं, किन्तु उनमे आर्यत्व का अभिनिवेश होने के कारण वे जातीय चरित्रो से अलग दिखायी पड़ते हैं। यायावर वंशी जरत्कारु और नागबाला मनसा की सन्तान आस्तीक अपने नाम के अनुरूप ही

आस्तिकता का प्रतीक-चरित्र कहा जा सकता है। उसे विनाशकारी द्वेष और संघर्ष मे रुचि नहीं, वह तो आनन्दमयी शान्ति से समन्वित जीवन की एकत्वमयी प्रतिमा का पूजक है। वह मननशील तथा भावनामय है। दोनो जातियो के वैमनस्य को दूर करने के लिए वह प्रयत्नशील रहता है। अपने पिता की हत्या की क्षतिपूर्ति के रूप मे वह जनमेजय से दो जातियो मे शान्ति एव नागराज तक्षक की मुक्ति मांगता है। उसके समक्ष व्यक्तिगत हिताहित की कोई समस्या नही। उसका दृष्टिकोण उदार एवं राष्ट्रीय है। कहना न होगा कि उसी के प्रयत्न से नाटक मे कार्य अथवा फल की सिद्ध होती है। उसका सहपाठी मित्र माणवक यादवी सरमा और नाग सरदार वासुकि का पुत्र है। उसमे वैयक्तिक स्वाभिमान अत्यन्त प्रखर है। नागो से अनादृत होने पर वह पिता के वैभव का तिरस्कार करता है और जनमेजय से न्याय न मिलने पर वह उससे प्रति-शोध लेने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। उसके स्वाभिमान की यह वैयक्तिकता उसकी द्विवधाग्रस्त सामाजिक स्थिति का परिणाम कही जा सकती है। वह मातृभक्त भी है और दोनो पक्षो से सरमा के अपमानित होने पर वह क्रोधोन्मत्त हो उठता है, किन्तु उत्तेजित मन.स्थिति मे वह किसी की बात नही मानता, माँ की भी नही। जनमेजय से बदला लेने के लिए वह मनसा से जा मिलता है। नाटककार ने उसे सुधारशील चरित्र के रूप मे प्रस्तुत किया है। अपनी घोर प्रतिहिंसा के आवेश मे जहाँ एक ओर वह कर्माकर्म-सभी कुछ करने को प्रस्तुत हो जाता है, वही दूसरी ओर वह उसके कारण दु:ख और ग्लानि का भी अनुभव करता है। अन्तत' वह प्रतिशोधवृत्ति का त्याग करता है और उसकी मातृभक्ति सर्वोपरि हो जाती है। सरमा के कहने से ही वह रानी वपुष्टमा को सुरक्षित रखता है और उसे मन से क्षमा कर देता है। इस क्षमा के साथ हो वह प्रतिहिंसा के आवेश से मुक्त हो जाता है। उसमे चारित्रिक दृढता आरंभ से ही लक्षित होती है। दामिनी को उसी की प्रेरणा से सद्बुद्धि मिलती है। वह तेजस्वी, भावुक एवं निर्भीक युवक है। क्रियाशीलता की दृष्टि से उसका चरित्र आस्तीक की अपेक्षा अधिक नाटकोचित है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'नागयज्ञ' मे वैचारिकता का प्राधान्य होने के कारण नाट्य-गुणों की क्षति हुई है। कुचक्र, द्वन्द्व, विरोध एवं नाटकीय दृश्यों की इस नाटक मे कमी नहीं, किन्तु उन पर आरंभ से ही आदर्शवादी सैद्धान्तिकता इस कदर हावी होने का प्रयत्न करती रहती है कि सारा नाटकीय परिवेश आरम से ही बिखरने लगता है और चरम बिन्दु तक उसकी गति सहज और संगठित नहीं रह पाती। कोई क्रिया व्यापार उभरने लगता है कि दार्शनिक चिन्तन तुरन्त उसकी समक्षता मे आकर उसे प्रभावहीन कर देता है। नियति सम्पूर्ण नाटक मे पर्यावरण बनी हुई है। जनमेजय जैसा कर्मठ तेजस्वी चरित्र भी इसके कारण कभी-कभी श्रीहीन लगने लगता है। व्यास च्यवन, जरत्कार, वेद, आस्तीक आदि अनेक पात्रों का एक समूचा मण्डल आद्योपान्त

नाटकीयता को तोडने का काम करता रहता है। यही कारण है कि पात्रों की भीड एक ओर अनावश्यक लगती है, दूसरी ओर वह आधिकारिक कथा के प्रवाह मे व्यवधान भी डालती है। प्रासगिक कथा के रूप मे दामिनी का वृत्त कोई विशेष योगदान नही करता। इसी प्रकार आरम्भिक दृश्य का कृष्णार्जुन-संवाद अतिरिक्त और अनावश्यक लगता है। कई दृश्य तो बिलकुल अलग किए जा सकते हैं। मुख्य कथासूत्र कतिपय दृश्यो एव दो चार पात्रो के माध्यम से आगे बढ़ता है—शेष सारा अर्थात् दो तिहाई आडम्बर जैसा लगता है।

उत्तर-काल की रचना होते हुए भी यह नाटक किस प्रकार इतना अनाटकीय हो गया—कहा नहीं जा सकता। नाटकोचित सभावनाएँ इसके कथानक मे कम नही थी, किन्तु उनके निर्वाह का शैथिल्य उन्हे महत्वहीन बना देता है। वस्तुतः प्रसाद इस कृति मे कार्य—आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-क्षत्रिय सघर्षों का शमन—के प्रति सर्वाधिक सजग रहे हैं, जबकि उनकी सहजवृत्ति अन्यत्र विरोध को केन्द्र मे रखकर चलती रही है। विरोध के ताने-बाने की ओर उनका ध्यान अधिक नही जा पाने के कारण ही इस नाटक मे संरचनात्मक शैथिल्य आ गया है।

स्कन्दगुप्त प्रातिनिधिक नाट्य-सरचना

'स्कन्दगुप्त' प्रसाद की नाट्य-सर्जना के प्रकर्ष-प्रहार का अवदान है। इसे प्रसाद का प्रतिनिधि नाटक कहा जा सकता है, जो उनके समूचे व्यक्तित्व को उसकी पूरी गहराई और व्यापकता के साथ उभार कर सामने ला देता है। पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटको मे उनके व्यक्तित्व के कुछेक अथवा अनेक पहलू देखे जा सकते है, किन्तु अपनी समग्रता मे उनका पूर्ण परिचय देनेवाली कृति 'स्कन्दगुप्त' ही है। भारत के सास्कृतिक गौरव को प्रोद्भासित करनेवाला यह ऐतिहासिक वृत्त अपने आप मे महान् है और आद्योपान्त प्रसाद इसकी गरिमा मे डूबे रहे है। इसका दृश्य-फलक इतना विशद है कि लेखक को सहजैव वह सब कुछ कह डालने का अवसर मिल गया है, जो वह इसके पहले और बाद मे भी कहने के लिए उत्कण्ठित रहा है। धर्म, दर्शन, राजनीति, राष्ट्र, समाज, नारी, पुरुष सभी, उनके चिन्तनधर्मी मन मे सकलित समस्याओ एवं समाधान के साथ इसकी रंगभूमि मे उतर आये है।

विरोध, जो उनके नाटको का केन्द्रीय आकर्षण है, इसमे अपनी पूरी निर्ममता और भयावहता के साथ घटित होता है और एक बार पाठक या दर्शक सचमुच आत्यन्तिक रूप से निराश हो उठता है। चरित्र-वैचित्र्य तो इसका अन्यतम ही है। अन्य नाटको मे नायक अन्तत अपने प्रयत्नो मे सफल होता है और नाटकीय कार्य की दृष्टि से पूर्ण पुरुष बन जाता है, किन्तु 'स्कन्दगुप्त' मे वह सफल होकर भी निष्फल होता है, पूर्ण होकर भी अपूर्ण रह जाता है। पूर्णता निश्चय ही हमे संकलपात्मक दिशा देती है, आदर्शों के सास्कृतिक आयाम उद्घाटित करती है और हमे ऊँचाई पर प्रतिष्ठित होने का मनोबल प्रदान करती है—किन्तु यह वही नहीं कर पाती जो कदाचित् मनुष्य के लिए सबसे अधिक जरूरी है—और वह है मानव-मन का मानवीय सन्दर्भो मे सम्मार्जन। मैं दु:खान्त नाटको के प्रभाव की बात नहीं करता। उनसे मन का परिष्कार और उदात्तीकरण होता अवश्य है, किन्तु दु:ख और विपत्ति की अतिरेकमयी प्रक्रिया उसे असहज अथवा किन्ही अर्थों मे मानवेतर बना देती है। एक छोर पर भारतीय सुखान्त नाटकों की रूढ़ आदर्शवादिता है, तो दूसरे पर पाश्चात्य दुखान्त रूपकों की आरोपित पतनवादिता—और दोनो ही सहज मानवीय सन्दर्भों से कटे हुए हैं। मानवीय सत्य इन दोनो के बीच ही कही हो सकता है और प्रसाद इसी को रूपायित करने का प्रयास अपने साहित्य मे करते रहे हैं। यही उनका वैशिष्ट्य है, यही उनका 'प्रसादत्व' है। यह सत्य है कि 'स्कन्दगुप्त', कतिपय कहानियो तथा कुछेक कविताओं को छोड़कर शेष अपने सम्पूर्ण साहित्य में प्राय: वे किसी न किसी आत्यंतिकता की ओर रूढ ढंग से चले गये हैं, किन्तु वैसे प्रसंगों में उनका निजीपन मध्यवर्ती

खण्ड चित्रो मे पाया जा सकेगा, परिणाम मे नही। अस्तु, इस नाटक के नायक की वैयक्तिक विफलता चारित्रिक वैचित्र्य का विलक्षण और श्रेष्ठतम निदर्शन है। यह अपूर्णता वरेण्य है, जो मानव को देवत्व से उच्चतर गौरवासन पर प्रतिष्ठित करती है और फिर उसे मानव बना रहने देती है। अन्य नाटको की भाँति इसमे मात्र आदर्श-सवाहक पात्रो का अभाव भी इसका उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है। आदर्श की अन्तर्धारा इसमें है अवश्य और उसमे वेग भी कम नही है, किन्तु वह कर्मण्य पात्रों के माध्यम से प्रकट होने के कारण आरोपित और अतिरिक्त नही लगती। केवल प्रख्यातकीर्ति को लेकर ऐसा कहा जा सकता था, किन्तु वह भी व्यावहारिकता की कसौटी पर खरा उतरने के कारण जीवित एवं वाछनीय चरित्र के रूप मे सामने आता है। पशुओं के स्थान पर अपनी बलि के लिए सहर्ष प्रस्तुत होना उसे जीवन्त एव कर्मशील पात्रों के वर्ग मे प्रतिष्ठित करता है, न कि थोथे ज्ञान और सांस्कृतिक आदर्शों का भार ढोने वाले निष्प्राण निष्क्रिय चरित्र-वर्ग मे। नारी-स्वाभिमान का जो उदाहरण देवसेना प्रस्तुत करती है, वह अपूर्व है और विश्वसाहित्य की अनुपम निधि कही जा सकती है।

कवित्व और नाटकीयता का सामजस्य भी इस नाटक मे विलक्षण है। भावना और कर्म की धाराएँ साथ-साथ एक जैसी अखण्डित गति से इसमे बहती रहती हैं। संघर्षपरक नाटको के लिए घटनाओ और दृश्यो का जैसा घटाटोप अपेक्षित होता है, वैसा ही—वरन् उससे भी कुछ अधिक इसमे मिलेगा। प्रपचबुद्धि, अनन्तदेवी और भटार्क इस इन्द्रजाल के विकट एव मायावी सूत्रधार हैं। रणभूमि, रक्तपात, कुचक्र, हत्या, बाढ़, अन्धकार आदि के दृश्य मन को बेतरह बाँधते और आतंकित करते है। निश्चय ही इसे प्रसाद की प्रतिनिधि नाट्य-कृति कह सकते हैं। इसका प्रकाशन १९२८ मे हुआ था। यह समय प्रसाद के प्रातिभ प्रकर्ष का है। इसके आस-पास रचा गया उनका नाटकेतर साहित्य भी यही साक्ष्य देता है।

'स्कन्दगुप्त' का कथा-फलक गुप्तयुगीन है। गुप्तयुग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग है, जिसमे आर्य-संस्कृति की महिमा-गरिमा अपने प्रकर्ष पर लक्षित होती है। प्रसाद अपनी सास्कृतिक अभिरुचि के कारण सहजैव इस ओर आकर्षित हुए थे। आर्य-अनार्य-सघर्ष की बडी सशक्त भूमिका इस ऐतिहासिक प्रहर मे मिलेगी, जिसकी ओर नाटककार उत्तर-काल मे विशेष रूप से उन्मुख हुआ था। माण्डलिक राजाओ के पारस्परिक वैमनस्य से आरभ करके उसने धीरे-धीरे अपना दृष्टि-विस्तार किया है और उसे निष्कृति का अनुभव हुआ है आर्यावर्त की उस परिकल्पना मे, जो राष्ट्रीय घनत्व की उद्भावक हैं। प्रसाद की इस परिकल्पना का पहला व्यापक निदर्शन प्रस्तुत नाटक है। 'नागयज्ञ' में इसकी भूमिका है और 'चन्द्रगुप्त' मे इसकी सिद्धि।

मध्यवर्ती यह कृति उन तमाम आन्तरिक उलझावो को पेश करती है, जो राष्ट्र-शक्ति की संघात्मक एकता में बाधक थे और जिन्हे स्कन्द जैसा ही असम-साहसी

एवं अपरिमित धैर्यवाला इतिहास-पुरुष सुलझा सकता था। चन्द्रगुप्त को तो चाणक्य ऐसा दूरदर्शी एव कूटकुशल नियामक मिल गया था, अतएव उसमे वीरता का ही होना पर्याप्त था। स्कन्द को यह सुविधा नही थी---उसे दिशा का निर्धारण भी करना पडा है चारो ओर से उमडती हुई विषम परिस्थितियो से जूझना भी। कदाचित् इसीलिए इस नाटक का कथानक इतना जीवन्त हो उठा है। आधिकारिक कथा-सूत्रो की ऐतिहासिकता उन्हे और ही सजीव बना देती है। नाटक के प्रमुख पात्र एवं घटनाएँ वास्तविक हैं। समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त (प्रथम) पाँचवीं शताब्दी के पहले दशक के आस-पास शासनारूढ हुआ था। प्राय. चार दशको तक उसने शासन किया। पूर्वजो से प्राप्त उसका साम्राज्य नियन्त्रित व्यवस्थित एव सभी दृष्टियो से समृद्ध था। प्रकृत्या वह विलासी था और उसे दुर्बल प्रशासक भी कहा जाता है। यो, उसके काल की दो प्रमुख घटनाएँ उल्लेखनीय है ही--- अश्वमेघ यज्ञ पुष्यमित्रो का युद्ध। विलास-प्रिय और पूर्वजों के समान पराक्रमी न होने पर भी कुमारगुप्त बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तथा हिमालय से नर्मदा तक के विस्तृत साम्राज्य का निर्बाध शासन तैंतालीस वर्षों तक करता रहा था। उसने प्रान्तीय प्रशासन के लिए सुयोग्य प्रतिनिधि नियुक्त कर दिए थे। वस्तुत उसकी सत्ता बनाये रखने का बहुत कुछ श्रेय इन्ही कुशल, राष्ट्र-भक्त प्रान्तपतियो को दिया जाना चाहिए। मालवाधिपति बन्धुवर्मा उसका ऐसा ही प्रतिनिधि शासक था। पृथिवीषेण (पृथ्वीसेन) पहले मन्त्री था, बाद मे उसे कुमारगुप्त ने महाबलाधिकृत का पद प्रदान किया।

कुमारगुप्त के शासन-काल के अन्तिम चरण मे पुष्यमित्रो के भयंकर आक्रमण होने लगे थे। इतिहासकार पुष्यमित्रो को सेनापति भटार्क से भी सम्बद्ध बताते हैं, जो बलभी वंश का जनक था। हूणो का आक्रमण इनके बाद, पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। इस वर्बर जाति ने भारत ही नही, सम्पूर्ण दक्षिण एशिया को पदाक्रान्त किया था। भारत पर इनका आक्रमण खिगिल एव तोरमान के नायकत्व मे हुआ था। कपिशा, नगरहार आदि पश्चिमी प्रान्तो मे इन्होने भीषण लूटपाट एवं नृशसताएँ की थी। कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त को इन्ही विदेशी आक्रामको से लोहा लेना पडा था और इन्ही के उन्मूलन मे सफल होने के कारण उसकी कीर्ति कथा इतिहास और साहित्य मे स्वर्णाक्षरो मे लिखी गयी। उसे आन्तरिक विद्रोह भी कम नही झेलना पडा। अनन्तदेवी का पुत्र और उसका सौतेला भाई पुरगुप्त उसका आसन्न प्रतिद्वन्द्वी था और भले ही उसने स्कन्दगुप्त से उत्तराधिकार के प्रश्न पर युद्ध न किया हो, किन्तु गुप्तरूप से वह उसके विरुद्ध षड्यन्त्र तो किया ही करता था—विशेषकर तब जब स्कन्द हूणो के दमन मे प्राणपण से लगा हुआ। कुमारगुप्त के भाई, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त कदाचित् इसी आन्तरिक फूट से विक्षुब्ध होकर मालवा चले गये थे, जहाँ उनके ४६८ ई० तक जीवित रहने का प्रमाण मिलता है। स्कन्दगुप्त ने इस आन्तरिक समस्या को त्याग और

उदारतापूर्वक सुलझाया था। इतिहास इस विषय मे कुछ नही कहता किन्तु वह स्कन्द-गुप्त और पुरगुप्त दोनो के सिंहासनारूढ होने का सत्य अवश्य सामने रखता हैं। इसके आधार पर इस अनुमान के लिए सभावना बन जाती है कि स्कन्द ने पुरगुप्त को छोटा ही सही, किन्तु स्वतन्त्र राज्य—कदाचित् दक्षिण बिहार मे—स्थापित करने मे सहयोग दिया होगा। इस प्रकार पारिवारिक वैमत्य दूर करके उसने समृद्ध और शक्तिशाली पुष्यमित्रो का सामना किया और उन्हे गहरी पराजय दी। उसके इस पराक्रम की प्रशसा तत्कालीन शिलालेखो एव 'कथासरित्सागर' के विषमशील लंबक' मे बडी गौरव-पूर्ण शब्दावली मे की गयी है। पुष्यमित्रो के दमन के बाद सिंहासनारूढ होते ही उसे बर्बर हूणो के प्रतिरोध के लिए अग्रसर होना पडा। अपने साहस और पराक्रम के बल पर उसने हूणो को परास्त किया था।

इस राष्ट्रभक्त और कर्मठ राजपुरुष ने अपने विशाल साम्राज्य की कुशल प्रशासन-व्यवस्था की थी। उसने तत्कालीन राजनीति की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र—सौराष्ट्र का गोप्ता अपने विश्वस्त सहयोगी पर्णदत्त को बनाया था। इसी पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित गिरनार का विषयपति था, जिसके द्वारा सुदर्शन झील के पुनरुद्धार का उल्लेखनीय कार्य सम्पन्न हुआ था। शर्वनाग अन्तर्वेद—गगा तथा यमुना का मध्यवर्ती क्षेत्र—का प्रान्तपति था और सीधे सम्राट् के आधीन था। भीमवर्मा कोसम का प्रान्तपति था। इस प्रकार स्कन्दगुप्त ने सुयोग्य प्रशासको के माध्यम से अपना शासन-तन्त्र व्यवस्थित कर रखा था। उसमे मानवोचित गुण अपने प्रकर्ष पर थे। शिलालेखो मे उसकी वैयक्तिक और धार्मिक उदारता, सहनशीलता और नीति-निष्ठता की मुक्तकण्ठ से सराहना की गयी है। वीरता और पराक्रम मे तो वह कार्तिकेय के समान था। हूणो के दमन के बाद भी उसे युद्ध करने पडे थे और युद्ध मे ही वह वीरगति को प्राप्त हुआ था। उसके व्यक्तित्व के गौरव के अनुरूप ही उसे 'विक्रमादित्य', 'क्षितिपशतपति', 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' जैसी भव्य उपाधियो से सम्मानित किया गया है। इस तेजस्वी आर्य-सम्राट् का अपने श्रेष्ठतम नाटक का नायक बनाकर उससे सम्बन्धित इतिवृत्त को प्रसाद ने व्यापक कथानक का रूप दिया है।

इस सरचना मे नाटककार को विभिन्न कारणो से कई स्थलो पर कल्पना का भी आश्रय लेना पडा है, किन्तु एक तो ऐसे स्थल कम हैं, दूसरे वे प्रमुख चरित्रों व घटनाओ की ऐतिहासिकता को प्रभावित नही करते। कल्पना का उपयोग अधिकतर बिखरे हुए कथासूत्रो के नाटकोचित सग्रथन की दृष्टि से किया गया है। अनन्तदेवी के कुचक्र मे भटार्क का सम्मिलित हो जाना एक ऐसी ही कल्पना है। अलग-अलग दोनो का स्कन्द-विरोधी होना इतिहास-सम्मत है। प्रसाद ने प्रतिपक्ष को चरम बिन्दु तक लाने के लिए दोनो मे सहयोग की कल्पना कर ली, जो नितान्त नाटकोचित है। नायक के व्यक्तित्व को उभारने के लिए जितने शक्तिशाली और दुर्जय प्रतिपक्ष की अपेक्षा

थी, वह अप्रतिभट योद्धा और दबग सेनापति भटार्क के सहयोग के बिना कदापि नही बन सकता था।

इसी प्रकार बन्धुवर्मा और भीमवर्मा का भ्रातृत्व, कालिदास और मातृगुप्त की एकरूपता, सिंहल के राजकुमार धातुसेन या कुमारदास की स्थिति, स्कन्दगुप्त का मालवा मे राजधानी स्थापित करना, हूणनेता खिंगिल की पराजय आदि कल्पित प्रसंग है, जो नाटक के कथा-सगठन, देशकाल-चित्रण अथवा लक्ष्य-सिद्धि की दृष्टि से बडे उपयोगी साबित हुए है। देवसेना, विजया, प्रपचबुद्धि जैसे जीवन्त और अविस्मरणीय पात्र भी काल्पनिक है, किन्तु उनका होना किसी भी ऐतिहासिक चरित्र से कम आवश्यक नही। इस प्रकार 'स्कन्दगुप्त' मे प्रसाद ने कल्पना के हल्के टचो से संवारा गया इतिहास का वह चित्र प्रस्तुत किया है जो एकबारगी दर्शक और पाठक के मन-प्राण को बॉध लेता है।

यह नाटक पॉच अको का है। नाटककार ने बडे धैर्य एवं कौशल से इसका कथानक क्रमशः आगे बढ़ाया है। इसके पूर्ववर्ती नाटक 'नागयज्ञ' मे जितनी त्वरा है उतनी ही—वरन् उससे कही अधिक—मन्थरता और निश्चिन्तता इसमे मिलेगी। कथानक की इस मन्थर किन्तु सधी हुई गति के कारण इस कृति मे अपूर्व नाट्य-गुण उत्पन्न हो गया है। वस्तुतः इसके नायक का चरित्र इतने कोमल-कठोर द्वंद्वो के ताने-बाने से बुना हुआ है और विरोध-पक्ष की भूमिका इतनी वृहद् है कि ऐसी ही गति इसके लिए सहज हो सकती थी। नाटक का आरम्भ प्रसाद की सुपरिचित शैली मे—नायक के चारित्रिक परिचय से होता है और उसी के साथ अन्तःबाह्य परिवेश भी प्रकट होता जाता है। स्कन्दगुप्त के विरागशील मन को सेनापति पर्णदत्त राष्ट्ररक्षण की भावना से भरना चाहता है और पुष्यमित्रो के युद्ध और श्वेत हूणो के आसन्न भयंकर आक्रमण का उल्लेख करता है। उसका पुत्र चक्रपालित गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार—नियम की बात कहकर आन्तरिक समस्या को सकेतित करता हुआ स्कन्द की तटस्थता पर तीखा प्रहार करता है। इसी समय चर के माध्यम से पुष्यमित्रो के भीषण और निर्णायक प्रयत्न तथा दशपुर के दूत के द्वारा सौराष्ट्र के पतन तथा मालव की सकटापन्न स्थिति स्कन्द के सामने प्रस्तुत की जाती है। स्कन्द का सोया क्षत्रियत्व जाग्रत हो जाता है और वह मालव-रक्षा के लिए प्रतिश्रुत होता है। इस प्रकार पहला दृश्य नायक को दिशा देने के साथ-साथ परिपार्श्व की पूरी जानकारी दे देता है।

दूसरे दृश्य मे सम्राट् गुप्त की निश्चित विनोदशीलता एवं बिलासप्रियता, महाबलाधिकृत भटार्क की अधीर महत्वाकाक्षा और अनन्तदेवी के शासन-लोभी मन का परिचय मिलता है। तीसरा दृश्य मातृगुप्त, मुद्गल धातुसेन के माध्यम से साम्राज्य की वर्तमान स्थिति पर टिप्पणी सी प्रस्तुत करता है, जिसके निष्कर्ष के रूप मे नायक

की महत्वमयी भावी भूमिका का साकेतिक पूर्वाभास दिया जाता है। चौथे हृदय मे अनन्तदेवी असन्तुष्ट भटार्क को अपने कुचक्र मे सम्मिलित करने के प्रयत्न मे सफल होती है। अनन्तदेवी महादेवी देवकीके प्रति ईर्ष्या की आग मे जल रही है और उसे पददलित करके अपने पुत्र पुरगुप्त को राजपद पर प्रतिष्ठित करना चाहती है। भटार्क पुष्यमित्रो के युद्ध मे सेनापति का पद न मिलने के कारण अपने को अपमानित अनुभव करता है और सम्राट व उसके स्वामिभक्त पक्षधरो के प्रति कटु विद्वेष से भरा हुआ है। अनन्तदेवी ने उसे पहले से ही महाबलाधिकृत बनने मे सहयोग देकर उपकृत कर रखा है। सहजैव भटार्क का स्वार्थ अनन्तदेवी के कुचक्र से जुड जाता है। भटार्क के मनकी रही-सही धर्मभीरुता क्रूर-कठोर नर-पिशाच बौद्ध कापालिक प्रपचबुद्धि के भयानक व्यक्तित्व एव तान्त्रिक शब्दाडम्बर से समाप्त हो जाती है। वह विवेक को तिलाजलि देकर सम्प्रति गुप्त-साम्राज्य की भाग्यविधात्री, दु साहसशीला अनन्तदेवी के सकेतो पर चलने के लिए कृतसकल्प हो जाता है। पाँचवा दृश्य इस प्रबल कुचक्र की पहली विभीषिका प्रस्तुत करता है। पुरगुप्त और भटार्क सम्राट कुमारगुप्त की हत्या करते हैं और प्रतिकार-समर्थ होने पर भी अन्तर्विद्रोह का अनवसर होने के कारण ग्लानि और विक्षोभ मे भरे हुए पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार एव दण्डनायक गुप्त साम्राज्य के विधानानुसार चरम प्रतिकार अर्थात् आत्महत्या कर लेते है। अब प्रतिपक्ष और दृढ हो जाता है, क्योकि सम्राट् और उनके स्वामिभक्त सेवक समाप्त हो चुके है।

छठे दृश्य मे मातृगुप्त और मुद्गल के वार्तालाप से साम्राज्य की बिगडती हुई स्थिति का परिचय मिलता है। इसी समय, मानो अभी-अभी सूचित शको और हूणो को बर्बरता को प्रमाणित करने के लिए ही हूण-सैनिक निरीह बन्दियो पर नृशस अत्याचार करने को उद्यत दिखायी देते हैं, किन्तु मातृगुप्त और अकस्मात प्रकट होने वाले संन्यासी-वेशधारी महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त के प्रयत्न से वे भाग खडे होते है। सातवें दृश्य मे अवन्ती के दुर्ग मे देवसेना, विजया और जयमाला विषम सकट को घडी मे वार्तालाप करती हुई अपनी चारित्रिक विशेषताओ का परिचय देती हैं। मालव के धनकुबेर की कन्या विजया अपनी अपार धनराशि की सुरक्षा के लिए चिन्तित है और अत्यधिक भयभीत है। उसे देवसेना और जयमाला के इस साहस पर आश्चर्य होता है कि वे विनाश के भयावह क्षण मे भी गीत गाती हैं और मर मिटने का साहस रखती है। शको और हूणो की सम्मिलित सेना बन्धुवर्मा को भुलावा देकर दुर्ग तक आ जाती है, और द्वार तोडकर प्रवेश करती है। भीमवर्मा जयमाला और देवसेना की सहायता से शत्रुओ का सामना करता है। इससे पूर्व कि शत्रु विजयी हो, स्कन्द अपने सैनिको के साथ जा पहुँचता है और युद्ध के बाद शत्रु पराजित होकर बन्दी होते हैं। विजया स्कन्द के भयानक और सुन्दर व्यक्तित्व की ओर आकर्षित होते हैं और स्कन्द भी

उतनी ही, कदाचित् उससे भी कही अधिक तीव्रता से उसके असाधारण सौन्दर्य के प्रति आश्चर्यमयी आसक्ति का अनुभव कर उठता है।

इस प्रकार इस नाटक का पहला अक एक ओर सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य स्थितियो को उद्घाटित करके उन्हे सयोजित करता व दिशा देता है और दूसरी ओर प्रमुख पात्रो की आधारभूत विशेषताओ को सामने रखकर उन्हें अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप अपने मार्ग से कुछ नाटकीय क्रिया-व्यापार अथवा चरम सीमा की ओर बढ़ने देता है। यह अक परिचायक भी है और दिशा-निर्देशक भी। नाटककार का कौशल इस बात मे है कि वह स्थितियो और चरित्रो का विश्लेषण पृथक्-पृथक् करते हुए भी उन्हे इस प्रकार संयोजित व संगुम्फित करता रहता है कि बिना कही कोई ग्रन्थि पडे ही सारा कुछ एक कथा-प्रवाह का रूप ग्रहण कर लेता है। पक्ष प्रतिपक्ष दोनो ही अपनी प्रकृति के अनुसार सहजैव अपनी दिशा पकड लेते हैं, व्यूह-रचना कर लेते है और आक्रमण-प्रत्याक्रमण करने लगते हैं। प्रतिपक्ष का बाहरी दल पुष्यमित्रो, शको और हूणो का है। पहले उनके आक्रमण की सूचना मिलती है। अक के अन्त तक वे मच पर आजाते है। प्रतिपक्ष आन्तरिक दल अनन्तदेवी, भटार्क, पुरगुप्त और प्रपचबुद्धि का है, जो अपेक्षाकृत अधिक सघन व भयानक है। सम्राट की हत्या के रूप मे उसकी सघनता व भयानकता प्रकट भी होती है। प्रतिपक्ष के ये दोनो दल अभी परस्पर सम्बद्ध न होकर अलग-अलग अपने स्वार्थसाधन में निरत है। नायक-पक्ष भी अभी पूरे तौर पर सुगठित नही हुआ है। चक्रपालित का मोर्चा कहीं और है, गोविन्दगुप्त का कही और। स्कन्द गुप्त मालव रक्षा के लिए कृतसकल्प है और अभी वह अकेला ही है। बन्धुवर्मा व भीमवर्मा अभी आत्मरक्षा मे लगे हैं। इस प्रकार पक्ष और प्रतिपक्ष की व्यापक रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत कर दी गयी है, जो आगे चलकर क्रमश: सघनतर होते रहते है।

इस बहिर्द्वन्द्व के साथ अन्तर्द्वन्द्व का भी परिचय यहाँ मिल जाता है। यद्यपि वह अपेक्षाकृत अत्यल्प है। अपने अधिकारो की ओर से नायक की विरागशील उदासीनता और अंक के अन्त मे वणिक्बाला विजया के प्रति उसका आकर्षण—नाटक के मनोद्वन्द्व का हल्का आभास भर दे देते हैं। वस्तुत. सारे कथानक का यह कोमलतम मर्म है, जिसे प्रसाद आरम्भ मे हल्के स्पर्श देते हैं। उन्हे मालूम है कि इस तार को अन्त में तो झनझनाकर टूटना ही है—फिर अभी से उतावलापन क्यों—कुछ देर मीठी मीड़ें ही सही। फिर अभी इससे एक बहिर्मुखी चरित्र भी जुडा हुआ है। उसके इधर से कट जाने पर स्वत: ही इसकी तान प्रखर होने लगेगी। आगे चलकर जब विजया भटार्क का वरण कर लेती है तो दर्दभरी मूर्च्छनाएँ स्वत: उभरने लगती हैं। अस्तु, पहले अंक में बाह्य संघर्ष की ही भूमिका प्रधान है, अन्त: संघर्ष की ओर केवल एक हल्का इंगित भर कर दिया गया है। कहना न होगा कि पहले अंक का यह सारा वातावरण प्रारम्भ-

कार्यावस्था का विशद एवं प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत करता है। पक्ष-प्रतिपक्ष दोनो का कार्यारम्भ हो चुका है—पक्ष का स्कन्द के मालव-रक्षार्थ प्रतिश्रुत होने मे और विपक्ष का अनन्तदेवी के कुचक्र मे भटार्क के सम्मिलित होने मे। दोनो पक्षो की प्रयत्नशीलता भी इसी अंक मे आरम्भ हो गयी है। पाँचवे दृश्य मे कुमारगुप्त की हत्या विपक्ष का प्रयत्नारम्भ है और छठे-सातवें दृश्यो मे गोविन्दगुप्त व मातृगुप्त का हूणो से युद्ध करके उन्हे भगा देना और स्कन्द-द्वारा शत्रुओ से मालव—दुर्ग की रक्षा नायक-पक्ष का। भारतीय परम्परा नायक की फलप्राप्ति या कार्यसिद्धि से ही कार्यावस्थाओं को सम्बद्ध करती हैं, अतएव अन्तिम दृश्य से प्रयत्न-कार्यावस्था का श्रीगणेश माना जा सकता है, जो आगे दूर तक चलती रहती है।

अर्थप्रकृतियो की दृष्टि से भी यह अंक महत्वपूर्ण है। पहले दृश्य मे ही मुख्यतः पर्णदत्त और गौणतः चक्रपालित के इस प्रयत्न मे 'बीज' अर्थप्रकृति विद्यमान है कि युवराज स्कन्दगुप्त अपनी उदासीनता त्याग कर राष्ट्ररक्षण के निमित्त साधिकार सन्नद्ध हो। आधिकारिक कथा के साथ जहाँ पताकारूप मालव-प्रसग सहयोगी रूप मे जुड़ जाता है अर्थात् अन्तिम दृश्य मे—वहाँ से 'बिन्दु' अर्थप्रकृति मानी जा सकती है। धातुसेन, मातृगुप्त, शर्वनाग आदि के प्रकरण प्रकरी कहे जा सकते हैं। इस अक मे मुख तथा प्रतिमुख सन्धियाँ भी देखी जा सकती हैं। पहले दृश्य मे स्कन्द का मालव-रक्षार्थ और व्यापक रूप मे राष्ट्र-रक्षार्थ उठ खडे होना मुख-सन्धि के आरम्भ का परिचायक है, क्योंकि पर्णदत्त के द्वारा उद्घाटित 'बीज' यही 'प्रारम्भ' के साथ जुडकर कथा को कार्य या फल की दिशा मे नियोजित करता है। प्रतिमुख-सन्धि मे 'बीज' का लक्ष्यालक्ष्य रूप में उद्भेद होने लगता है। छठे-सातवें दृश्यों मे हूणों का परास्त होना उद्भेद का ही समारम्भ है। यह प्रतिमुखसन्धि प्रयत्न-कार्यावस्था के समान और उसके ही साथ दूर तक चलती है। इस प्रकार 'स्कन्दगुप्त' का प्रथमांक अपने दायित्वो का संवहन यथोचित रूप मे करता है।

दूसरा अक आरोहावरोहपूर्ण है। इसका आरम्भ देवसेना और विजया के वार्तालाप से होता है। विजया स्कन्द के प्रति आकर्षित है, किन्तु सिंहासन के प्रति उसकी त्यागमयी उदासीनता देखकर वह उसकी ओर से विमुख होने लगती है। देवसेना के व्यंग्य तथा स्त्रीजनोचित परामर्श से भी उसकी मनोदशा मे कोई परिवर्तन नहीं आता। इसी समय बन्धुवर्मा से स्कन्द के लौटने एवं आसन्न राज्याभिषेक की सूचना मिलती है। उसके अन्तर्मन मे देवसेना और स्कन्द के परिणय की कोमल कल्पना है, किन्तु वह उसे स्पष्ट रूप से अभी प्रकट नही करना चाहता। दूसरे दृश्य मे प्रपंचबुद्धि अपनी धूर्तता एवं दुष्ट तर्क बुद्धि से राजभक्त एव वीर सैनिक शर्वनाग को प्रभावित करके उसे राजमाता देवकी की हत्या के कुचक्र मे प्रधान भूमिका निभाने के लिए तैयार कर लेता है। यही मुद्गल और धातुसेन के वार्तालाप से पता चलता है कि इस कुचक्र की गन्ध उन्हें

मिल चुकी है और वे महादेवी की रक्षा के लिए प्रयत्नशील है। तीसरे दृश्य मे शर्वनाग की पत्नी रामा मदिरोन्मत्त शर्वनाग को इस कुचक्र से विरत करने के प्रयास मे असफल होती है। अनन्तदेवी द्वारा धमकाये जाने और भटार्क द्वारा पद-वृद्धि एव पुरस्कार का प्रलोभन दिये जाने पर शर्वनाग देवकी की हत्या के लिए तत्परतापूर्वक उनके साथ चल देता है। चौथे दृश्य मे देवकी की हत्या का षडयन्त्र स्कन्द के यथा समय पहुँच जाने से निष्फल हो जाता है। भटार्क स्कन्द से कुछ देर द्वन्द्व-युद्ध भी करता है, किन्तु शीघ्र ही आहत होकर गिर जाता है।

पाँचवें दृश्य मे जयमाला बन्धुवर्मा के इस प्रस्ताव का विरोध करती है कि मालव का स्वामित्व स्कन्दगुप्त को दे दिया जाय। भीम व देवसेना बन्धुवर्मा का समर्थन करते है, किन्तु जयमाला के गले के नीचे यह बात नही उतरती कि अपना पैतृक राज्य दूसरो के पदतल मे यो ही अर्पित कर दिया जाए। बन्धुवर्मा मालव जयमाला के लिए त्यागकर आर्य-साम्राज्य-सेना का साधारण पदातिक सैनिक बनने के लिए चल देना चाहता है। इसी समय चक्रपालित से समाचार मिलता है कि महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त सौराष्ट्र के शको को निर्मूल करके उत्तरापथ की सीमा-रक्षा के लिए मालव की ओर प्रस्थान कर चुके हैं। जयमाला महाराजपुत्र की इस अखण्ड राष्ट्रनिष्ठा से प्रभावित होती है और अपने दुराग्रह के लिए अपने पति बन्धुवर्मा से क्षमा-याचना करती है। छठे दृश्य में भटार्क की माता कमला भटार्क के देशद्रोह के लिए उसकी भर्त्सना करती है। विजया भटार्क के महाबलाधिकृत-पद एवं वीरत्व-व्यंजक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसके प्रति अनुरक्त हो जाती है। इसी समय मातृगुप्त और मुद्गल के साथ गोविन्दगुप्त का आगमन होता है। वे भटार्क को राजद्रोह के अपराध मे बन्दी बनाते है। विजया भटार्क का अनुसरण करती हुई स्वेच्छा से बन्दिनी बन जाती है। अन्तिम दृश्य मे नायकपक्षीय सभी प्रमुख चरित्रो की उपस्थिति मे स्कन्द का राज्याभिषेक होता है। बन्धुवर्मा महाराजपुत्र का आर्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत के रूप मे अभिनन्दन करता है। फिर भटार्क, शर्वनाग और विजया राजबन्दी के रूप मे प्रस्तुत किये जाते है। शर्वनाग सम्राट् स्कन्दगुप्त द्वारा, रामा की राजभक्ति के प्रतिफल के रूप मे, क्षमा कर दिये जाने पर घोर आत्मग्लानि का अनुभव करता है और आत्महत्या करना चाहता है। राजमाता देवकी की प्रेरणा से स्कन्द उसे अन्तर्वेद का विषयपति नियत करता है। भटार्क विवशता मे अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। यही विजया यह घोषणा करती है कि उसने भटार्क का वरण किया है। स्कन्द उसके इस अप्रत्याशित आचरण से स्तम्भित रह जाता है और उसे आत्यन्तिक व्यथा का अनुभव होता है, जो देवसेना से छिपा नहीं रहता। राजमाता की मंगल-कामना के अनुसार सभी राजबन्दियो को क्षमा कर दिया जाता है।

यह समूचा अक आन्तरिक समस्याओं के सामयिक शमन के साथ नायक-पक्ष

का उत्थान प्रस्तुत करता है। पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनो की सघनता और क्रियाशीलता बढ़ती है। अनन्तदेवी के दल मे शर्वनाग जुडकर उसे कुछ देर के लिए और शक्तिशाली बना देता है। अन्त.शुद्धि होने पर जब वह नायक का पक्षधर बनने का सकल्प ले लेता है, तो उसका स्थान विजया ले लेती है, जो उसकी अपेक्षा कही अधिक उग्र और सशक्त व्यक्तित्व की स्वामिनी है। नायक-पक्ष विशेष त्वरा के साथ इसमे संघबद्ध होता है। मालव का प्रत्यर्पण एवं स्कन्द का राज्याभिषेक इसके प्रमुख घटक है। बन्धुवर्मा के साथ महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त भी इस समय पक्ष-गठन मे प्रमुख भूमिका निभाते हैं। प्रतिपक्ष का कुचक्र विफल होता है और लगता है कि अब आन्तरिक प्रतिरोध नि.शेष हो जायगा, किन्तु स्कन्द की देवोपम उदारता और राजमाता देवकी स्वाभाविक उदात्तता के कारण उसके प्रमुख सूत्रधार थोडी मानहानि के साथ यथावत् बने रह जाते हैं। यदि अनन्तदेवी और भटार्क इस सयय पगु बना दिये गये होते, तो भीतरी षड्यन्त्रो की रीढ टूट जाती, किन्तु उन्हे अपमानित करके मुक्त कर देना वस्तुत: और अधिक गूढ तथा उग्र विरोध को आमन्त्रित करना है। चोट खाये हुए क्रोधान्ध महासर्प के सदृश वे आगे चलकर भयानक प्रतिशोध लेने का प्रचण्ड उपक्रम करते हैं। नाटककार का अभीष्ट भी यही है। उसे नायक के व्यक्तित्व को उभारना है, जिसके लिए भीषणतम परिस्थितियाँ चाहिए ही। विजया का प्रतिपक्षीय हो जाने की घोषणा करना इसी भयावह भविष्य की ओर संकेत करता है।

वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्व को भी यहीं से एक निश्चित दिशा मिलती है। स्कन्द अब मानसिक रूप से अपने को एकाकी अनुभव करता है और दु:सह मनोव्यथा से भीतर ही भीतर विजड़ित हो जाता है। दूसरी ओर हृदय के देवालय के निगूढतमकक्ष मे उसे जाने कब से देवता के रूप मे प्रतिष्ठित किये रहने वाली देवसेना भी विजया के परि-वर्तन के सन्दर्भ मे स्कन्द की विकलता लक्षित करके अपने को पदच्युत और अस्वीकृत मान लेती हैं। स्कन्द और देवसेना – दोनो ही मर्माहत होते है और भीतर से टूट जाते हैं। यह स्थिति पाश्चात्य 'क्राइसिस' जैसी है। इसके पूर्व विजया का भटार्क की ओर अग्रसर होना 'इन्सीडेंट' की अवस्था है, जिसके परिणामस्वरूप यह 'क्राइसिस' उत्पन्न हो गयी है। अन्तर्द्वन्द्व के विचार से वास्तविक ट्रेजेडी यही घटित हो जाती है। समापन मे तो तदाश्रयी शील-निर्वाह भर है।

पूरे अक मे प्रयत्न नामक कार्यावस्था है, जिसका आरम्भ पहले अंक के अन्तिम दो दृश्यो मे हो चुका है। यह प्रयत्नशीलता दोनो ही पक्षो मे देखी जा सकती है—इस विशेषता के साथ कि जहाँ नायक-पक्ष विजयी एवं एकान्वित होता दिखाया गया है, वहाँ विपक्ष की विफलता के साथ उसके उग्रतर प्रयत्न का द्वार खोल दिया गया है। नायक-पक्ष की प्रयत्नशीलता प्रकटत: आन्तरिक कलह से सम्बन्ध है, किन्तु उसके उद्देश्य की व्यापकता उसे वाह्य संघर्ष से भी जोडे रहती है। अवन्ती का मगध-

साम्राज्य मे विलय और स्कन्द का राज्याभिषेक जहाँ राष्ट्रशक्ति के आन्तरिक बिखराव की समाप्ति की घोषणा करते है, वहाँ, उसी के साथ, वे विदेशी आक्रमको को मुह तोड उत्तर देने की तत्परता भी सकेतित करते हैं अथवा यो कहा जाए कि यह सारा आन्तरिक संगठन उसी महा-रण की राष्ट्रीय तैयारी के रूप मे है जो आर्य सम्राट् और विदेशी आक्रामको के बीच होने वाला है और अनन्त देवी का अब तक का सारा छल-बल पारिवारिक स्तर के विघ्नो के रूप मे है। आगे चलकर जब यह भीतरी दल विदेशियो से दुरमिसन्धि कर लेता है, तो वह प्रतिपक्ष की प्रमुख भूमिका मे आ जाता है और तब यह छल-बल गृह-कलह न रहकर, देशद्रोह बन जाता है। अस्तु, यह अक प्रयत्न-कार्यावस्था का है।

अक के अन्तिम दृश्य मे प्राप्त्याशा का क्षीण आभास मिलता है। नायक-पक्ष संगठित होता है और विरोधियो का पराभव होता है, किन्तु जहाँ स्कन्द आदि अपने संघबद्धता के अभियान मे सफल होने के कारण उदार और कुछ निश्चित हो गये है, वहाँ भटार्क आदि पराभूत होने पर भी कुछ कर गुजरने की मानसिक तैयारी कर रहे हैं। आगे उनकी यह मानसिक तैयारी उग्र रूप मे प्रकट होती है और नायक-पक्ष को उससे टकराना पडता है। अतएव यहाँ प्राप्त्याशा का आभास भर है, वास्तविक प्राप्त्याशा नही। सच तो यह है कि प्रस्तुत नाटक मे संघर्ष के अत्यधिक आरोहावरोह पूर्ण होने के कारण प्रयत्नावस्था व्यापक हो गयी है और उसने प्राप्त्याशा को अपने क्रोड मे छिपा लिया है। अर्थ प्रकृति की दृष्टि से इसमे 'बिन्दु' की अवस्थिति मानी जा सकती है। मुख्य कथा को आगे बढाती हुई व उससे जुडती हुई प्रासगिक कथा इसमे बराबर चलती रहती है और अन्ततः उसी मे लीन हो जाती है। कार्यावस्था और अर्थ प्रकृति की गति के अनुरूप ही सन्धि भी इस अक मे दूसरे सोपान पर है। प्रथमाक के अन्त मे आरब्ध प्रतिमुख सन्धि इस अंक मे विद्यमान है। मुख सन्धि मे प्रकट बीज इसमे लक्ष्य या अलक्ष्य रूप में विकसित होता रहता है। मगध के आन्तरिक षडयन्त्र की सक्रियता और उसकी विफलता, मालव-समपर्ण के प्रसग मे जयमाला का वैमत्य और अन्तत. साहमत्य आदि राष्ट्र-गौरव-रक्षण के बीज को विकसित करने वाली घटनायें है जो इस अक के अन्त मे उसे एक प्रभावशाली रूपाकार प्रदान कर देती है।

तृतीय अंक संघर्ष की चरम सीमा प्रस्तुत करता है। अक के आरम्भ मे प्रपच-बुद्धि कृतज्ञताभिमुख भटार्क को पुन कृतघ्न कुचक्रो की ओर ले जाने मे सफल होता है। विजया मन ही मन देवसेना के प्रति ईर्ष्या व द्वेष से भरी हुई है। प्रपंच बुद्धि उसके विद्वेष का लाभ उठाकर उसे देवसेना को बलि के लिए श्मशान तक बहाने से लाने को कहता है। भटार्क मनसा यह न चाहते हुए भी अपने कुकर्म के नागपाश मे जकड जाने के कारण इसका विरोध नही कर पाता। मातृगुप्त छिपकर उनकी बात सुन लेता है।

दूसरे दृश्य मे प्रपंचबुद्धि की दुर्योजना विफल होती है। देवसेना का प्रेम प्रथम और अन्तिम बार यहाँ स्कन्द के आलिगन मे प्रकट होता है। तीसरे दृश्य मे अनन्तदेवी व भटार्क की हूणो से दुरभिसन्धि पुष्ट होती है। हूण पुरगुप्त को सम्राट बनाने मे सहायक होने का वचन देते हैं और भटार्क युद्ध मे साम्राज्य-पक्ष के साथ विश्वासघात करके उन्हे सहयोग देने का प्रमाण-पत्र देता है। प्रपचबुद्धि समाप्त हो चुका है। पुरगुप्त अनन्तदेवी के आगे कुछ भी नही कह पाता और कादम्ब मे डूबा रहता है। विजया उसका मनोरजन करती है। चौथा दृश्य सूचनापरक है। भीम वर्मा व देवसेना के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि शको की पराजय हो चुकी है और महाराजपुत्र के वीर गति को प्राप्त होने के कारण उनके स्थान पर बन्धुवर्मा को गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत बनाया गया है। यह भी सूचना मिलती है कि काश्मीर अब गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया है और सम्राट ने देवसेना बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को वहाँ का शासक बना दिया है। पाँचवाँ दृश्य रणक्षेत्र का है। बन्धुवर्मा हठ पूर्वक स्कन्द को कुभा के रणक्षेत्र की ओर भेजकर गान्धार की घाटी मे हूणो का सामना करता है। हूण हारकर भागते है। बन्धुवर्मा वीरगति को प्राप्त होता है। अन्तिम दृश्य में स्कन्द कुभा के रणक्षेत्र मे ऊँची पहाडी पर स्थित हूणो को विकट युद्धमे पराजित करके नदी के दूसरे तट पर स्थित हूणो एव भटार्क-सचालित मागधी सेना के प्रतिरोध के लिए अपने सैनिको के साथ नदी पार करने लगता है, किन्तु इसी समय भटार्क कुभा का बन्ध काट देता है और सेनासहित स्कन्द जल की बाढ मे बह जाता है।

यह अक नाटकीय सक्रियता की दृष्टि से विशेष महत्व पूर्ण है। आन्तरिक विद्वेष के स्तर पर भटार्क की सहमति से और विजया के सहयोग से प्रपचबुद्धि द्वारा देवसेना की बलि का कुचक्र रचा जाता है, जिसमे विफल होकर वह विनाश को प्राप्त होता है। अब अन्तवर्ती विरोधी दल हूणो से दुरभिसन्धि करता है, जिसके फलस्वरूप नायक का प्रयत्न सफल होकर भी निष्फल हो जाता है। प्रतिपक्ष का कूटचक्र यहाँ अपने सघनतम रूप मे प्रकट होता है। नायक-पक्ष अक के अन्त तक भयावह रूप से छिन्न-भिन्न हो जाता है। गोविन्द गुप्त तथा बन्धु वर्मा युद्ध मे काम आ चुके हैं और सारी आशाओ का एकमात्र केन्द्र स्कन्द भी बाढ मे विलीन हो जाता है। यह आकस्मिक उपप्लव हृदय पर गहरा आघात करता है और सशय व निराशा की एक तेज लहर मन-प्राण पर छा जाती है। भारतीय दृष्टि से यहाँ प्राप्त्याशा तथा नियताप्ति कार्या-वस्थाएँ होनी चाहिए थी, किन्तु प्रसाद ने उनके स्थान पर पाश्चात्य चरम सीमा-क्राइसिस का विनियोजन किया है जो प्रस्तुत कथानक की अपेक्षा के सर्वथा अनुरूप है। अक के अन्त मे हूणो की पराजय मे प्राप्त्याशा की एक तेज किरण कौधती है, किन्तु दूसरे ही क्षण घटाटोप अन्धकार मे सब कुछ डूब जाता है। प्रसाद वस्तुत 'सघर्ष की अवस्था के बाद, उसी की परम्परा मे' 'निगति' की अवतारणा करना चाहते हैं अतएव वास्तविक

प्राप्त्याशा के लिए यहाँ गुन्जाइश ही नही है। इसीलिए अक की समाप्ति चरम विपत्ति मे होती है।

विरोध-प्रधान नाटको मे जब तक विपत्ति अपनी चरम सीमा पर नही पहुँचेगी तब तक नायक के व्यक्तित्व का सर्वातिशायी अभ्युदय प्रमाणित नही किया जा सकेगा। नाटककार इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से सुपरिचित है, अतएव वह प्राप्त्याशा व नियताप्ति की पारम्परिकता का मोह त्यागकर प्रतिपक्ष को उभारता है। वैयक्तिक सन्दर्भों मे भी वह यहाँ सशय की व्याप्ति चित्रित करता है। एक अप्रत्याशित एव भयानक स्थिति मे जब देवसेना का मनोभाव स्कन्द पर अकस्मात् खुल जाता है, तो विजया की प्रवचना से दुखी स्कन्द उसकी ओर अभिमुख होता है जिसकी अभिव्यक्ति मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बनाने के रूप मे होती है। किन्तु अब देवसेना का स्वाभिमान उसे इस ओर आगे बढने से रोक देता है। वह मन ही मन स्कन्द से विरत होने का सकल्प कर लेती है। यह कठोर सकल्प लेने मे उसे अपने से कितना जूझना पडा है, प्रसाद ने इसे बडे सक्षिप्त किन्तु मर्मवेधी प्रसगो मे सकेतित किया है।

देवसेना के बिजया, जयमाला और सखियो से वार्तालाप इस मनोद्वन्द्व और करुणा को बडी मर्मिकता से रूपायित करते हैं। देवसेना अब बिखर गई है, भीतर से खन्डित हो गयी है, फिर भी वह दृढता की मुद्रा अपनाने के लिए विवश है। स्कन्द विजया के अकल्पनीय परिवर्तन के कारण पहले से ही टूटा हुआ था, देवसेना की हत्या के कुचक्र मे उसकी प्रमुख भूमिका पाकर उसे जीवन से विरक्ति सी हो जाती है। वह टूटे मन से कदाचित् विचार पूर्वक देवसेना की ओर अग्रसर होना आरम्भ करता है, किन्तु इसी समय उस पर विपत्ति के पहाड टूट पडते है और सारा कुछ एक विराट सशय के निविड अन्धकार मे खो जाता है। भटार्क का विश्वासघात प्रत्यक्ष होने पर भी स्कन्द का उसके विरुद्ध निर्णय न ले सकना इसी सशय की असह्य मनोदशा का परिचायक है।

इस अक मे यह सशय इतना व्यापक है कि प्रतिपक्ष भी एकबार इससे ग्रस्त होता है। भटार्क की क्षणिक आत्मग्लानि, प्रपंचबुद्धि की आरम्भिक किंकर्त्तव्यविमूढ़ता, बार-बार असफल होने के कारण हूणो की उद्विग्नता, हूणो की धमकी पर भटार्क की व्याकुलता, हूणों से दुरभि-सन्धि के प्रसग मे पुरगुप्त की कसमसाहट, अपनी रुचि के प्रतिकूल विजया द्वारा पुरगुप्त का मनोरजन प्रतिपक्ष की सशयग्रस्त मनः स्थिति प्रस्तुत करने वाले स्थल हैं। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह अक प्रतिपक्ष के उत्कर्ष का है, अतएव वह अधिक देर इस डावाँडोल स्थिति मे नही रहने पाता। नायक-पक्ष पर यह कुहरा काफी घना है, इससे उसके शीघ्र उबरने की सम्भावना नही—किसी-किसी प्रसग मे तो बिल्कुल नही। देवसेना और स्कन्द के अतिरिक्त अन्य पक्षीय-चरित्र भी चिन्ता और सन्देह से बिधे हुए हैं। भटार्क के देशद्रोह पर राजसैनिक

का विक्षोभ, चक्रपालित का भटार्क के प्रति निष्फल आक्रोश, बन्धु वर्मा का अन्तिम समय भीम व देवसेन के विषय मे विचारोद्वेग ऐसे ही मानसिक परिवेश की सूचना देते है। इसमे सन्देह नही कि इस अंक मे सामूहिक और वैयक्तिक—दोनो ही स्तरो पर 'क्राइसिस' का सुन्दर निर्वाह हो सका है।

चतुर्थ अक घटनात्मक सक्रियता एवं तीव्र चारित्रिक अवरोह की स्थिति अकित करता है। आरम्भ मे ही प्रतिपक्ष के विघटन का आभास मिलने लगता है। विजया भटार्क को लेकर अनन्तदेवी के प्रति असहाय ईर्ष्या व रोष से भरी हुई है। उसे विलास-जर्जर पुरगुप्त नही, भटार्क चाहिये जिसे अनन्तदेवी ने अपनी मुट्ठी मे बन्द कर रखा है। वह अनन्तदेवी को धमकी देती है और बदले मे अपमानित होकर अपने को एकाकी व लक्ष्यहीन अनुभव करने लगती है। उसे अपने दभ व अविवेकपूर्ण कृत्यो के लिए क्षणिक आत्मग्लानि होती है। शर्वनाग उसे राष्ट्र सेवा की प्रेरणा देता है। दूसरे दृश्य मे भटार्क से स्कन्द की दुर्गति का सकेत पाते ही दु.खाघात से राजमाता देवकी की मृत्यु हो जाती है। कमला द्वारा भर्त्सना किये जाने पर भटार्क की चित्त शुद्धि होती है और वह शस्त्र त्यागकर सघर्ष से विरत होने की प्रतिज्ञा करता है। तीसरे दृश्य मे मातृगुप्त दुहरे आघात के कारण विषण्ण होता है। एक ओर उसकी प्रणय-प्रतिमा मालिनी वेश्या के रूप मे सामने आकर उसके हृदय को मर्माहत कर देती है, दूसरी ओर उसे चर से समाचार मिलता है कि हूण पचनद पर अधिकार करके काश्मीर पर आक्रमण किया चाहते हैं और स्कन्द के विषय मे कुछ भी पता नही चला है। वह काश्मीर से बिदा ले लेता है।

चौथे व पाचवें दृश्यों मे ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष की समस्या और उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है। पहले दृश्य मे देश व धर्म की दुरवस्था पर बातें करते हुए धातुसेन व प्रख्यातकीर्ति को भिक्षु से इस सघर्ष की सूचना मिलती है। अगले दृश्य में बिहार के समीप चतुष्पथ पर बलि के लिए कटिबद्ध ब्राह्मण-वर्ग और उसके विरोध के लिये कृतसकल्प बौद्ध जनता मे कटुता-पूर्ण बहस होती है। ब्राह्मण बौद्धो को राष्ट्र द्रोही व नास्तिक कहते हैं और बौद्ध ब्राह्मणो को दम्भी, हिंसक और धर्मच्युत बताते है। धातुसेन के समझाने पर भी जब ब्राह्मण बलि देने के निश्चिय पर अडिग रहते हैं तो प्रख्यातकीर्ति पशुओ के स्थान पर अपनी बलि प्रस्तावित करता है और प्रहार के लिए सिर झुका लेता है। ब्राह्मण उसकी धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर बलि का विचार त्याग देते है। छठे दृश्य मे नायक-पक्ष निराशा और दु:खातिरेक के कारण विक्षिप्त और दिङमूढ़ दिखाया गया है। विजय-शिखर पर चढ़ते-चढते अप्रत्याशित रूप से पराजय के गर्त मे गिरने के कारण चक्रपालित, बन्धु वर्मा जैसे परम वीर बन्धु के निधन के कारण भीम और मालिनी के प्रवंचना व देशदुर्दशा के कारण मातृगुप्त सब पागल, लूटे गये से, अनाथ और आश्रयहीन हो गये हैं। विजया की प्रेरणा और धातुसेन के पत्र से मातृगुप्त सचेष्ट होता है और सब उसका अनुवर्तन करते है।

अन्तिम दृश्य मे हताश, विरक्त और विषण्ण स्कन्द को भटार्क की माँ कमला पुनस्संगठन के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करती है। देवसेना की पुकार उसे तत्त्वरण सक्रिय एवं कर्त्तव्याभिमुख बना देती है। इस प्रकार यह अक विघटन की स्थिति प्रस्तुत करता है। नायक-पक्ष पहले ही बिखर चुका है, यहाँ उस बिखराव की वैयक्तिक करुणा देखी जा सकती है। चक्रपालित, भीम, वर्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, रामा और कथानायक स्कन्द—सभी विपत्ति और अप्रत्याशित स्थितियो के प्रहार से विजडित हो गये है। वस्तुतः ये सारे ही चरित्र नायक रूपी धुरी से जुडे थे, अतः इसके हटने से ही ये सभी अकेले और असहाय लगने लगते है। जिस तेजी के साथ स्कन्द के राज्याधिरोहण मे ये सब सगठित हो गये थे, उसी तेजी से स्कन्द के टूटते ही ये सभी खण्डित हो जाते हैं। आन्तरिक प्रतिपक्ष का भी विघटन इसी त्वरा से होता है। विजया का अनन्त देवी के प्रसंग मे मोहभग हो चुका है, अत वह झटके के साथ उससे अलग हो जाती है। भटार्क का मन बदल गया है और उसे अपने कुकृत्यो के लिए सच्ची और स्थायी आत्मग्लानि का अनुभव हो रहा है। अनन्तदेवी अब निपट अकेली पड गयी है, उसके साथ केवल उसका अशक्त अहकार बच रहा है। स्पष्ट है कि उसके दल का यह बिखराव पूर्ण तथा अन्तिम है। वास्तविकता यह है कि पक्ष-प्रतिपक्ष दोनो ही पिछले अक मे अपनी समग्र संगठित शक्ति आजमा चुके हैं और प्रस्तुत अक शक्तिपरीक्षण की उनकी अवसादभरी परिणति व थकन को उपस्थापित करता है। यह अवरोह वैयक्तिक सन्दर्भों मे भी उतना ही वास्तविक है। विजया एक ओर भटार्क के लिए अशकित है, दूसरी ओर उसे देवसेना व स्कन्द के प्रति अपनी दुर्भावना के लिए पछतावा है। यह मानो अपनी इस दशा से परित्राण पाने के लिए हो राष्ट्रोद्बोधन के कर्मक्षेत्र मे उतरती है। यह उसकी अन्त-रात्मा की पुकार नही, वरन् सोच-विचार के बाद लिया गया निर्णय है। वह महत्वा-काक्षिणी है, उसे नेपथ्य में रहना प्रिय नहीं। एक जुआ वह खेल चुकी है। उसमे उसे विफलता मिली तो क्या हुआ, एक दाव और सही और कदाचित् यह ऐसा दाव है जिसमे हर हाल में कुछ न कुछ महत्वपूर्ण मिलने की सम्भावना है। अस्तु, उसकी यह सक्रियता उसके अवसाद का एक मुखौटा कही जा सकती है।

स्कन्द विजया से विरत हो चुका है। उसे अपने व्यापक उद्देश्य की विफलता के दुःख ने अभिभूत कर लिया है। देवसेना के प्रति वह एक भावनामय कर्त्तव्य का अनुभव तो करता है, किन्तु उसमें आग्रह और आवेग नही है। यह बहुत कुछ निर्णायक संघर्ष से उसकी विफलता का भी परिणाम हैं। किन्तु उसमे आग्रह और आवेग नही है। यह बहुत कुछ निर्णायक संघर्ष मे उसकी विफलता का भी परिणाम है। सफल होने पर कदाचित् वह देवसेना के प्रति विशेष आग्रहपूर्ण हो उठता है। देवकी की मृत्यु की सूचना उसकी वैयक्ति विषण्णता को और बढ़ा देती है। मातृगुप्त मालिनी की प्रवचना के कारण वैयक्तिकता से उपरत हो गया है। अनन्तदेवी भटार्क को खो चुकी है, जिसके

प्रति उसके भीतर कही अतृप्तिमयी लालसा छिपी हुई थी। राजमाता देवकी की तो मानसिक आघात के कारण जीवन-लीला ही समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार यह अक अवरोह का व्यापक वातावरण प्रस्तुत करता है। इसे पाश्चात्य दु खान्त नाटको की। निगति (Denoument) के रूप मे देखा जा सकता है। भारतीय विचार से इसमे नियताप्ति-कार्यावस्था होनी चाहिए, किन्तु प्रसाद ने पिछले अक की 'क्राइसिस' की ही परम्परा मे यहाँ 'डिनोमा' की स्थिति अकित की है और 'नियताप्ति' को अन्तिम अक मे वहा उभारा है जहाँ भटार्क स्कन्द की प्रेरणा से, आत्महत्या न करके राष्ट्रोद्धार के लिए सकल्पित होता है। यो, नियताप्ति का आभास अवश्य यहाँ है, क्योकि ब्राह्मण-बौद्ध-विद्वेष की इतिश्री हो जाने के कारण राष्ट्र के गुप्त शत्रुओ की भूमिका समाप्त हो गयी है और धातुसेन की प्रेरणा से मातृगुप्त एवं कमला की प्रेरणा से स्कन्द कर्मभूमि मे पुनः उतरने को तैयार हो गये हैं।

राष्ट्र-चेतना के इन कुछ लक्षणो मे कार्यं सद्धि अथवा फलप्राप्ति की सम्भावना को निश्चय ही पुनर्जीवन मिलता है। फिर भी समय दृष्टि से यहाँ 'निगति' की ही प्रधानता है। 'निर्गति' की स्थिति मे भी एक पक्ष के पतन के साथ दूसरा पक्ष उभरता ही है, किन्तु उसमे प्रतिपक्ष का उत्थान होता है जबकि नियताप्ति मे सत्पक्ष अथवा नायक पक्ष प्रबलतर होकर सिद्ध की ओर अग्रसर होता है। प्रसाद ने पूरे अक मे निगति को प्रमुखता देते हुए नियताप्तिवत् समापन दिया है। इसे उनकी समन्वयबुद्धि का निदर्शन मान सकते हैं। सन्धियों की दृष्टि से इसमे 'गर्भ' की समाप्ति और 'विमर्श का आरम्भ होता है। विमर्श-सन्धि मे 'गर्भ' की अपेक्षा 'बीज' का अधिक विस्तार होना चाहिए। अन्तिम दो दृश्यो मे यह विस्तार देखा जा सकता है। अन्त-द्वंन्द्व और बाह्य-सघर्ष की भी नवीन भूमिका यहा विद्यमान है, जो अन्तिम अक मे चरितार्थ होती है। अर्थप्रकृतियो मे कार्य का आभास माना जा सकता है, यद्यपि उसका वास्तविक रूप अन्तिम अंक मे भटार्क के नायकपक्षीय बन जाने पर उभरता है।

अन्तिम अक पिछले दो अको की द्विवपद्धतीय परम्परा को आगे बढाता हुआ समग्र कथानक को दुहरा समापन देता है। आरम्भ मे मुद्गल से सूचना मिलती है कि अनन्तदेवी ने पुरगुप्त के साथ हूणो से सन्धि कर ली है और इधर चक्र, भीम और मातृगुप्त सम्राट् को खोज रहे है। पर्णदत्त देवसेना को संरक्षण देता हुआ देवकी की समाधि पर देवकुलिक का सा जीवन व्यतीत कर रहा है। जयमाला सती हो चुकी है। विजया मुद्गल से स्कन्द का पता लेकर एक बार पुन. अपने रूप तथा ऐश्वर्य के बल पर महादेवी बनने का स्वप्न देखने लगती है। दूसरे दृश्य मे पर्णदत्त देवसेना की मर्यादा की रक्षा करता हुआ घायल तथा वीरगति प्राप्त सैनिको के अनाथ बालको के पोषणार्थ लिए भीख मागता है और सम्पन्न देशवासियो की कृपणता व विलासिता से क्षुब्ध होता है। देवकी की समाधि पर स्कन्द देशसेना के उसके तथा पर्णदत्त के विषय मे जानकर दुखी होता है। वह देवसेना से जीवन-सहचरी बनने का अनुरोध

करता है, किन्तु देवसेना अपने स्वाभिमान एवं उसके महत्व की रक्षा करती हुई विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देती है। स्कन्द आजीवन कौमार-व्रत की प्रतीक्षा करता है। इसी समय विजया उससे प्रणय-याचना करती हुई उसे अपने यौवन-विलास एवं राष्ट्रोद्धार के निमित्त अपने रत्नगृह का प्रलोभन देती है। स्कन्द उसकी भर्त्सना करता है ठीक इसी समय स्कन्द के दर्शन की इच्छा से आया हुआ भटार्क भी उसकी निर्लज्जता पर उसे धिक्कारता है। विजया सब ओर से हताश और अपमानित होकर आत्महत्या कर लेती है। भटार्क भी आत्महत्या करना चाहता है, किन्तु स्कन्द उसे जन्म-भूमि की रक्षा के लिए जीवित रहने को कहता है। विजया के शव के लिए भूमि खोदते समय उसका रत्नगृह प्रकट हो जाता है, जिसे भटार्क सेना-सकलन मे लगाने का निश्चय करता है।

तीसरे दृश्य मे देशसेवा के लिए भीख माँगते समय पर्णदात को स्कन्द तथा भटार्क, मातृगुप्त, भीम' चक्रपालित, शर्वनाग आदि मिल जाते है और नायक-पक्ष पुनस्संगठित हो जाता है। चौथे दृश्य में अन्तदेवी व हूणो को बौद्ध-सघ का देशद्रोहपूर्ण सहयोग न मिलने पर वे नवीन महास्थविर प्रख्यातकीर्ती की हत्या करना चाहते है, किन्तु इसी समय धातुसेन अपने सैनिको के साथ आकर सभी कुचक्रियों को बन्दी बना लेता है। पाँचवें दृश्य मे स्कन्द के साथ हूणो का अन्तिम युद्ध होता है, जिसमे हूण हारते हैं और उनका सेनापति खिगिल घायल होकर बन्दी होता है। अनन्तदेवी व पुरगुप्त क्षमायाचना करते है। स्कन्द युद्ध भूमि मे ही रक्त का टीका लगाकर पुरगुप्त के यौवराज्य की घोषणा करता है और हूण-सेनापति को सिन्धु के इस पार के पवित्र देश मे फिर कभी न आने की चेतावनी देकर मुक्त कर देता है। अन्तिम दृश्य मे देवसेना स्कन्द से विदा माँगती है। हतभाग्य, क्षत-जर्जर और भग्नहृदय स्कन्द उसे रोकना चाहते हुए भी नही रोक पाता। गहन अनुराग और गहनतर त्याग की दिव्य प्रतिभा देवसेना के लिए स्कन्द उसके इस जीवन का देवता और उस जीवन का प्राप्य बनकर रह जाता है। उसका राष्ट्-रक्षण एवं साम्राज्य-व्यवस्थापन का संकल्प तो पूरा होता है, किन्तु उसके निजी स्वप्नो का दर्पण टूट जाता है। वह पूर्ण सिद्ध भी होता है और नितान्त असिद्ध भी। सिद्धि भारतीय परम्पर की है। असिद्धि पाश्चात्य परम्परायुद्धभूमि मे पुरगुप्त का रक्त-तिलक से राज्याभिषेक फलागम-कार्यावस्था एवं कार्य-अर्थप्रकृति की चरितार्थता का उद्योतक है।

प्रथम और अन्तिम दृश्यो को छोडकर पूरा अक क्षिप्र एवं सद्यो गति से इसी प्रकर्षबिन्दु की ओर बढता है। दूसरे दृश्य मे भटार्क का स्कन्द की प्रेरणा से आत्महत्या न करके राष्ट्ररक्षण के लिए समर्पित एवं संकल्पित होना नियताप्ति-कार्याव्यस्था का वाचक है और यहीं से निर्वहण-सन्धि भी आरम्भ हो जाती है। विजया मर चुकी है, बौद्ध-संघ राष्ट्रद्रोही कुचक्रों से अपने को अलग कर चुका है, अनन्तदेवी और पुरगुप्त बन्दी बना लिये जाते हैं पाँचवें दृश्य में अन्तिम और मुख्य शत्रु हूण भी निरस्त हो जाते हैं और नायक पक्ष का सिद्धि-क्षण उपस्थित हो जाता है। भारतीय दृष्टि से यह

फलागम अथवा कार्य की स्थिति है। विदेशी आक्रामक पूर्णतः परास्त किये जा चुके हैं और अन्तर्विद्रोह की समाप्ति हो चुकी है। कौटुम्बिक कलह निर्मूल हो चुका है क्योकि जिस स्वार्थ को लेकर कुचक्र रचे जा रहे थे, उसे स्कन्द अपनी सहज उदारता और विरागशील मनोवृत्ति के कारण स्वय पूरा कर देता है। नायक को फल की प्राप्ति यहाँ साम्राज्य के रूप मे नही, अपने सत्संकल्प की पूर्ति एवं तज्जन्य आत्मतोष के रूप में होती है। उसकी इस महनीय सफलता के ठीक विपरीत उसे वैयक्तिक सन्दर्भ में आत्यन्तिक विफलता मिलती है। विजया की ओर से मन फिर जाने पर वह देवसेना की ओर अग्रसर होता है। उसके इस प्रत्यावर्तन मे कर्त्तव्यबुद्धि की प्रेरणा होते हुए भी निष्ठा और भावना की कमी नहीं है। सच तो यह है कि उसके इस मनोनिवेश मे अपेक्षाकृत अधिक समूचापन एव निर्भरता है। विजया की ओर वह जब आकर्षित हुआ था, तब वह एक महान् सकल्प की पूर्ति के लिए कर्मरत था और पूरे देश की आँखें उसकी ओर लगी हुई थी। उस आकर्षण मे जितनी एकमुखी त्वरा थी, उसके भीतर उसकी विफलता सहने के लिए उससे कही अधिक आत्मशक्ति थी, अतएव वैसा अप्रत्याशित आघात पाकर भी उसकी गति कुंठित नही हो सकी थी। देवसेना की ओर वह अपना थका-हारा और आश्रय-कामी मन लेकर अग्रसर होता है।

वह अकेला है, साम्राज्य के दायित्व से मुक्त हो चुका है और निरन्तर युद्ध-रत रहने के कारण क्षत-जर्जर है। उसकी इस अग्रसरता में उपलब्धि का भाव न होकर समर्पणशीलता ही अधिक है। विजया को उसने पाना चाहा था, देवसेना को वह समर्पित होना चाहता है। दोनो मे उसे विफलता मिली। पहला दु:ख वह सह ले गया था, किन्तु यह अन्तिम आघात उसके लिए असहनीय है, मर्मान्तक है। उसके जीवन की 'ट्रैजेडी' का यह चरम क्षण है, जिसे सर्वनाश-कैटेस्ट्रॉफी—कहा जा सकता है। इस ट्रैजेडी का आभास वहाँ मिला था, जहाँ देवसेना विजया के प्रति उसके मनोभाव का परिचय पाकर कुण्ठित हो गयी थी। अब वह घटित हो जाती है। इस प्रकार यह अंक भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियो का समाहारात्मक रूप प्रस्तुत करता है।

'स्कन्दगुप्त' का कथानक अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व के दुहरे ताने-बाने से बुना हुआ है, अतएव वह जितना जटिल है, उतना ही रोचक और नाटकोचित भी। यह कहना कठिन है कि इन दोनो मे से किसे नाटक का मुख्य कथ्य माना जाए। यदि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की कथा-परम्परा मे विचार करे तो बहिर्द्वन्द्व की प्रधानता माननी होगी, क्योकि उनमें वे सास्कृतिक गरिमा के निदर्शन का लक्ष्य सामने रखकर चले हैं। यह लक्ष्य प्रस्तुत नाटक में भी विद्यमान है और परवर्ती कृति 'चन्द्रगुप्त' को छोडकर, इसमें यह श्रेष्ठतम रूप मे भी सिद्ध हुआ है। स्कन्द के नेतृत्व में सारे आदर्श-चरित्र अखण्ड आर्यावर्त की सास्कृतिक परिकल्पना से भावित और प्रेरित है। राष्ट्रनिष्ठा के साथ वैयक्तिक उदारता, वीरता के साथ उदारता और बुद्धि-वैचित्र्य के साथ विवेकशील

सामंजस्य की जैसी भव्यता इस नाटक में है, अन्यत्र नही मिलेगी। यदि स्कन्द, बन्धुवर्मा, गोविन्दगुप्त, पर्णदत्त और चक्रपालित राष्ट्रवीरता के उज्ज्वल वैयक्तिक आदर्श सामने रखते है, तो धातुसेन और प्रख्यात-कीर्ति इस देश की आध्यात्मिक गरिमा का सवहन करते हैं। ये वैयक्तिक खण्डचित्र अन्ततः एक विराट् मानचित्र मे समाहित होकर उसे दीप्ति देते हैं। यह मानचित्र आर्य-सस्कृति का है, आर्यावर्त का है। अन्तिम विजय का सेहरा भी किसी एक के माथे पर नही बाँधा जा सकता, स्कन्द के माथे पर भी नही। स्कन्द केन्द्रीय आकर्षण अवश्य है किन्तु बन्धुवर्मा का सर्वस्व त्याग, गोविन्दगुप्त का सतर्क चक्रमण, पर्णदत्त की अटूट निष्ठा और चक्रपालित की निर्विराम तत्परता कदापि उपेक्षणीय नही। सत्य तो यह है कि इनके बिना राष्ट्ररक्षण के विराट् आयोजन की सिद्धि संभव नही हो पाती। अत· सास्कृतिक गौरव के निदर्शन की दृष्टि से इस नाटक मे, अन्य नाटको की भाँति, बहिर्द्वन्द्व को प्रधान माना जा सकता है। आधिकारिक और प्रासंगिक—सारा कथानक इससे सम्बद्ध है, इसके आधार पर विकसित होता है, इसे केन्द्र में रखकर एकान्वित होता है और इसकी सिद्धि होने पर निष्पन्न होता है।

अन्तर्द्वन्द्व की समस्या शील-वैचित्र्य से जुडी हुई है, जिसे इस नाटक का विशिष्ट आकर्षण कहा जा सकता है। अपने इसी गुण के कारण वह नाटक सर्वाधिक प्रशसित हुआ और स्वयं प्रसाद जी भी कदाचित् इसी कारण इसे अपना सर्वश्रेष्ठ नाटक मानते थे। वे मूलतः कवि थे—भावनामय उदात्त प्रेम के कवि, जो जगती के कण-कण से सजग व्यथाएँ चुनकर अपने हृदय में भर लेना चाहता है और उसे जनरजनकारी कथाओ मे ही आनन्द-विह्वल देखने की उदार आकाक्षा रखता है। उनके समग्र साहित्य में व्याप्त जीवन-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु करुणा है। कर्मठता, समसता आदि समूहगत बौद्धिक शिक्षाएँ है, जिनका समर्थन वे शास्त्र-वचनो के प्रमाण देकर करते रहे हैं। व्यक्ति-रूप मे उनके भावनामय अन्तःकरण से जो जीवन-दर्शन स्वतः फूट पडा है, वह करुणा का ही है जिसे उन्होने त्याग, उदारता, सहनशीलता आदि वैविध्यमयी छाया-छवियो में उभारा है। अतएव उनका निजी आदर्श करुणा ही है। कहना न होगा कि यह करुणा का ही प्रस्तुत नाटक की निजी विशेषता है और यही इसके शील-वैचित्र्य का मर्म है।

मुझे कुछ ऐसा लगता है कि जिस प्रकार निराला ने 'राम की शक्ति-पूजा' मे राम के व्यक्तित्व में कही अपने को भी उरेह दिया है, उसी प्रकार प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' म स्कन्द के माध्यम से अपना अन्तर्मन उद्घाटित किया है। अजातशत्रु, जनमेजय, चन्द्रगुप्त—किसी भी नायक का चरित्र उन्होने इतनी संवेदनशीलता और सावधानी के साथ रूपायित नही किया। उसकी एक-एक मुद्रा के प्रति वे जागरूक है। विजया का प्रसग लें। स्कन्द उसके विषय मे प्रथम तथा द्वितीय अंको के अन्त मे केवल एक-एक अधूरा वाक्य कहता है और उसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति की सारी कथा इतने में ही आरम्भ होकर समाप्त हो जाती है। प्रसाद ने आरम्भ से ही उसका आन्तरिक व्यक्तित्व इतनी सूक्ष्म संवेदना से उभारा

है कि उसे अधिक बोलने की आवश्यकता नही। अतः उसके ये दो अधूरे वाक्य, जो किन्ही असावधान क्षणो में उसके मुख से सहसा और सहज ही व्यक्त हो जाते है, इतनी बडी घटना के अथ-इति के लिए, कदाचित् कुछ अधिक ही पर्याप्त हैं। बिना गहन तादात्म्य चरित्राकन मे इतनी सजीवता असंभव है। यही कथानायक जब अपने बाहुबल से अर्जित व सरक्षित साम्राज्य श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ मानकर अनायास दूसरे को दे देता है और स्वय नितान्त निरवलम्ब, एकाकी बच रहता है तो मर्मवेधी करुणा की गहरी घटा सदा-सदा के लिए मन-मस्तिष्क पर छा जाती है। उसे सौपी गयी धरोहर— उसके असहाय मन की एकमात्र अवलम्ब देवसेना को भी उसकी प्रकृति अथवा नाटककार की स्वानुभूतिमयी सवेदना का एकाश मिला है और अन्त मे वह भी मूर्तिमती करुणा हो उठी है। इतनी निष्करुण करुणा प्रसाद ने किसी को नही दी। प्रबन्धकार के अन्तर्तम मे निहित यह प्रगीत कदाचित् प्रथम और अन्तिम बार यहाँ अपनी परिपूर्णता में उभरा है। कथानक की यह अन्तर्वर्ती धारा वाह्य प्रवाह के समानान्तर पूरे नाटक मे व्यापती रही है—यहाँ तक कि दूसरे प्रमुख चरित्र भी इसकी तीखी छुअन से नही बच सके हैं।

मातृगुप्त जिस नवनीत की पुतली पर अपने हृदय की समूची अनुरक्ति के साथ निछावर था, उसे अन्तत रूपाजीवा के रूप मे पाकर विक्षोभ-विजडित हो जाता है। अबतक वह उसे पूजता था, उसकी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा था किन्तु जब उसी ने सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेच डाला तो मातृ-गुप्त के लिए क्या शेष रह गया। उसे वैयक्तिक सुखो से विरक्ति हो जाती है। वह मालिनी को भूल तो नही सकता किन्तु अब वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी जिसमे ज्वाला न होगी, धुँआँ उठेगा और उसकी मूर्ति धुँधली होकर सामने आवेगी। उसकी कल्पना के सुन्दर स्वप्नो का प्रभात हो गया है। विजया गौरवोन्नत, सत्तासम्पन्न स्कन्द को पाना चाहती थी। स्कन्द की विरागशीलता और मालव-समर्पणजनित भ्रान्ति उसे भटार्क की ओर ले जाती है, किन्तु उस पर भी अनन्तदेवी को हावी पाकर वह एक बार पुन. स्कन्द की ओर प्रत्यावर्तित होती है। स्कन्द ने उसे पहले सुख-शर्वरी की सन्ध्या-तारा के समान देखा था, किन्तु जब उसी ने उल्कापिंड होकर दिगन्त-दाह करना चाहा और अपनी ओर से उसके सर्वनाश मे कुछ भी नही उठा रखा तो उसे विजया से विरक्ति हो गयी। हारी हुई मन स्थिति मे जब विजया उसे प्रलोभन देकर आकर्षित करने का प्रयास करती है, तो उसकी विरक्ति घृणा बन जाती है और वह उसे धिक्कारता है। विजया शायद पुनः भटार्क की ओर लौटती और उसे ही लेकर सन्तोष कर लेती, किन्तु उसे इसका अवसर ही नही मिल पाता। सब ओर से निराश विजया अपनी उद्दाम लालसामयी महत्वाकाँक्षाओ के साथ समाप्त हो जाती है। उसके वैयक्तिक जीवन की विडम्बना कम दारुण नही है। साहसशीला अनन्तदेवी का भी मन भीतर ही भीतर भटार्क-लिप्सु था, किन्तु अपने दुष्प्रयोजन की सिद्धि के पहले वह प्रकटतः कुछ भी कहना

करना नही चाहती थी। विजया को भटार्क के प्रति अत्यधिक अनुरक्त देखकर कदाचित् उससे विरक्त करने के लिए ही उसने उसे पुरगुप्त के सेवा-विनोद मे लगा दिया था। अनुभव-चतुर विजया द्वारा उसका मनोभाव पकड लिये जाने एव निगूढ मर्म पर प्रत्यक्ष प्रहार किये जाने पर अपने व्यक्तित्व की सत्तात्मकता बनाये रखने के लिए वह भटार्क का परित्याग कर देती है। इस अवसर पर विजया के प्रति प्रकट किया गया उसका भयकर रोष उसकी विफल-वासना के प्रतिक्रिया-स्वरूप ही है। भटार्क भी परीक्षत. उससे तथा प्रत्यक्षत विजया से प्रवंचित होता है।

इस प्रकार सामूहिक सिद्धि का यह कथानक वैयक्तिक विफलताओ की करुणा से ओत-प्रोत है। यह व्यापक मनोद्वन्द्व बाह्य-सघर्ष से किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण नही है। स्कन्द और देवसेना पर इस द्वन्द्व का आघात भीषणतम है। दोनो का ही गौरव बना रहता है और दोनो ही पूरी तरह टूट जाते है। यह नाटक चरित्र-प्रधान है और इस दृष्टि से इसे दु खान्त ही कहा जा सकता है। विराग की जमीन से नायक के चरित्र का अकुर फूटा था और उसी मे वह पर्यवसित भी होता है। वह कठपुतली जैसा है जो सूत्रधार के सकेत पर सारे कर्मों का निर्वाह करके फिर निष्क्रिय हो जाता है। सामूहिकता के धरातल पर इस नाटक को बहिर्द्वन्द्व-प्रधान भले ही कहा जाये, व्यष्टि के परिप्रेक्ष्य में यह मानसिक उद्वेलन का ही निदर्शन है। व्यापक व्यजना के स्तर पर दोनो की ध्वनि एक हो जाती है और वह है गरिमामयी उदात्तता की ध्वनि जिसमें सुख-दु ख की स्थूल सीमाएँ समाप्त हो जाती है और मानवोचित फिर भी अतिमानवीय उच्चता की ही अनुभूति बच रहती है। इस गरिमामयी उदात्ता, मानवीय देवत्व को ही प्रस्तुत नाटक का प्रेषणीय या प्रदेय कहा जा सकता है।

कथानक की इस दुहरी धारा के कारण प्रस्तुत नाटक की रस-व्यजना भी दुहरी-तिहरी है। बाह्य-संघर्ष, जो कि इस नाटक का व्यापक वस्तुविषय है, की दृष्टि से इसमे वीर-रस को अगी (तथा कथित) मानना होगा। स्कन्द, बन्धुवर्मा, पर्णदत्त, चक्रपालित, गोविन्दगुप्त, मातृगुप्त आदि अनेक उत्साही व कर्मठ चरित्र इसके आश्रयरूप है और कुचक्र व राष्ट्रध्वस मे लिप्त अनन्तदेवी भटार्क, प्रपचबुद्धि, खिंगिल आदि आलम्बन। कमला, जयमाला, देवसेना, रामा आदि चरित्र सत्पक्षीय बाह्यगत उद्दीपन कहे जा सकते है और प्रतिपक्ष के अमानुषिक अत्याचार, कुचक्र एवं क्रूर-कर्म आलम्बनगत उद्दीपन। वीरोत्साह की वैविध्यमयी छवियाँ यहाँ देखी जा सकती है। स्कन्द और बन्धुवर्मा जितने बड़े युद्धवीर है, उतने ही बडे त्यागवीर भी। दोनों ही राष्ट्रहित मे अपना स्वामित्व हँसते-हँसते दूसरो को सौप देते है और निष्कृति का अनुभव करते है। पर्णदत्त में युद्ध-वीरता के साथ सेवा का भी अथक उत्साह है। चक्रपालित, धातुसेन और मातृगुप्त कर्मवीर है। गोविन्दगुप्त की कर्मठता आर्य-संस्कृति की रक्षा के भाव से प्रेरित है, अतः उन्हे धर्मवीर भी कहा जा सकता है। उत्साह के विविध रूपों में युद्धोत्साह वीर-रस का

प्रमुख परिचायक कहा गया है। नायकपक्षीय सभी चरित्र युद्धोत्साही है और इसीलिए इस कृति मे वीरत्व-व्यजक उक्तियों की बहुलता है।

यह उत्साह पुरुष-पात्रो में ही नही, नारी-पात्रो मे भी देखा जा सकता है। युद्ध-वीरता न सही, किन्तु त्याग और सेवा का उत्साह इनमे किसी से भी कम नही। देवसेना बन्धुवर्मा के मालव-समर्पण का सोत्साह समर्थन करती है और सैनिको की सेवा के लिए भी तैयार है। अपने मनोभाव को वह नाटक के अन्तिम अश मे चरितार्थ करके भी दिखाती है। रामा देवकी की रक्षा के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा देती है। कमला निराश और साधनहीन स्कन्द को पुनर्जागरण का मंत्र देती है और उसी की घृणा से भटार्क भी रास्ते पर आता है। भटार्क मे भी युद्ध-वीरता है, किन्तु कुचक्र एव देशद्रोह का कलुष उसकी दीप्ति को मटमैला कर देता है। विशुद्ध युद्धवीरता बन्धुवर्मा मे देखी जा सकती है। वीररस के पक्ष मे यह चारित्रिक सत्य महत्वपूर्ण है कि स्कन्द विजया की प्रवचना से मर्माहत हो जाने पर भी युद्ध से विरत नही होता। मातृगुप्त में भी यह चारित्रिक विशेषता मिलेगी। देवसेना का भी त्याग व्यापक राष्ट्रभाव से जुडा हुआ है। विजया के प्रति स्कन्द की अनुरक्ति प्रकट होते ही देवसेना ने मन ही मन उससे विदा ले ली थी, किन्तु संघर्षों मे वह बराबर उसका साथ देती रही। इस प्रकार 'स्कन्दगुप्त' में वीररस की एक व्यापक भाव-भूमि है।

स्कन्द के वीरत्व के साथ उदात्त शृंगार की भी मनःस्थिति जुडी हुई है। देवसेना के प्रति उसका ममत्व धीरे-धीरे गहराता है और अन्तत' यह मनोभाव एक अनिर्वचनाय करुण-मधुर प्रभाव की सृष्टि कर देता है। समापन में विप्रलंभ की ही स्थिति है, करुण की नही। अधिक से अधिक इसे करुण-विप्रलभ कह सकते है। शृंगार की यह करुणा अपने मनोमय प्रभाव में अन्यतम है। प्रसाद-साहित्य का कोई दूसरा प्रेम-प्रसग मन को इतने गहरे नही पकडता। इसकी थोडी झलक 'चन्द्रगुप्त' मे मालविका के प्रसंग मे तथा कतिपय कहानियो में देखी जा सकती है, किन्तु इस जैसी अविस्मरणीय, हृदय को मथ देने वाली करुण-मधुरता कही नही मिलेगी। नाटक के अन्य प्रेम-प्रसंग रसाभास उत्पन्न करते हैं। विजया और मालिनी के वृत्त ऐसे ही हैं। उनमें मोहभंग हो जाता है और ग्लानि का अनुभव होता है।

मनोद्वन्द्व के विचार से इस नाटक में शान्तरस की भूमिका प्रमुख ठहरती है। यदि नायक के आत्मगत विचारो को आधार मानकर चलें तो पूरे नाटक मे निर्वेद का अन्त निर्झर बहता हुआ मिलेगा—आरभ और अन्त में विशेषकर। प्रसाद के नाटको के लिए यह कोई नई बात नही। वे प्रायः सर्वत्र कर्म की दृष्टि से वीर को प्रधानता देकर भी शान्त को समाहारी रस के रूप में प्रतिष्ठित करते रहे हैं, जिसकी प्रेरणा उन्हे शैवागमो की सामरस्यपूर्ण समाधि-साधना से मिली थी। 'स्कन्दगुप्त' में भी शम का वही सर्वातिशायित्व मुखर है। नाटक का उदय ही स्कन्द की विरागशील मनोभूमि में होता

है। मध्यवर्ती घटनाएँ अपने घात-प्रतिघात में इस मूल चरित्र-गुण का सम्पोषण करती रहती है। समापन में यह सर्वोपरि हो उठता है और समस्त भावोद्वेग इसमे विलीन हो जाते हैं। प्रसाद का रसानुभूतिविषयक आधार-सिद्धान्त इस प्रकार 'स्कन्दगुप्त' मे व्यापक चरितार्थता प्राप्त करता है। इस प्रसग में व्यक्ति-वैचित्र्य और त्रासद-तत्व का भी योग-दान कम महत्वपूर्ण नही।

अन्य नाटको में रसानुभूति की समस्या इतनी जटिल अथवा सघन नही। आश्रय-भेद से उनमें वीर और शान्त की अलग-अलग सिद्धि हो जाती है और फलागम के साथ जुडी हुई शमात्मक विश्रान्ति एक विलक्षण मन·स्थिति मे नाटक को समापन देती है, जिसे प्रसादीय ही कहा जा सकता है। 'स्कन्दगुप्त' मे स्थिति थोडी भिन्न है। इसमे नायक एक ही साथ वीर तथा शान्त रसो का आश्रय बना रहता है और परिणति में सफल होकर भी विफल होता है। कहना न होगा कि यह भाव-वैचित्र्य पौर्वात्य-पाश्चात्य के समीकरण से जन्मा है। नाट्यवस्तु की दृष्टि से यह वैचित्र्य अन्तिम दृश्य पर आधृत है, जिसके न होने पर वीर को निर्द्वन्द्व रूप से अगीरस कहा जा सकता था, किन्तु प्रसाद को रसानुभूति की यह सपाटता प्रिय नही। वे यो भी इसे तोडते रहे हैं, फिर यहाँ तो द्वन्द्वात्मक चरित्र-भूमि ही थी। वास्तविकता यह है कि मनोद्वन्द्ववाही कथावस्तु के निर्वहण मे नाटककार उतना रसवादी नही रहा, जितना कि प्रभाववादी और यही उसके लिए स्वाभाविक भी था। जिस परम्परा की यह चीज है, उसी के अनुरूप इसे प्रस्तुत भी किया गया है।

नायक के व्यक्तित्व से उत्साह, रति और निर्वेद की भावभूमियो को सम्बद्ध करने में प्रसाद की एक प्रयोगशील दृष्टि यह भी हो सकती है कि महाकाव्य या नाटक मे अगी के रूप में शृंगार, वीर और शान्त रसो की एक समाहारात्मक प्रतिभा गढी जाये। स्कन्द में ये तीनो ही स्थायी भाव वस्तुतः स्थायी हो गये है। वीर-रस को व्याप्ति के आधार पर अंगी मानते हुए भी नायक के व्यक्तित्व में ओत-प्रोत निर्वेद और अनुरक्ति को पृष्ठभूमि मे नही डाला जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि स्कन्द की वीरता उतना प्रभावित नही करती, जितना उसकी विरागशीलता और प्रणय-करुणा। नाटक का समग्र प्रभाव इन्ही के रूप में मन पर अमिट छाप छोडे जाता है। अतएव यदि इस नाटक की रस-व्यजना को त्रिरसात्मक कहा जाए तो अनुचित न होगा। समाहरण शान्त में होता है क्योकि वह सर्वलयी चरम और परम मन·स्थिति है।

अन्य सहकारी रसो की भी सहज सिद्धि इस नाटक में हुई है। प्रपंचबुद्धि का प्रकरण अद्भुत, भयानक और वीभत्स रसो का व्यंजक है। रौद्र अधिकतर 'अनन्तदेवी और यदा-कदा चक्रपालित एवं पर्णदत्त के माध्यम से उभरा है। मुद्गल विदूषक की परम्परित मुद्रा में श्रेष्ठ हास्य की सृष्टि करता है। वात्सल्य देवकी एवं रामा-शर्वनाग से

सम्बन्धित प्रसंगो में है। भक्ति-भावना देवकी व स्कन्द के व्यक्तित्व में आस्था अथवा प्रणति के रूप में विद्यमान है।

'स्कन्दगुप्त' के तथाकथित अंगी रस की व्यंजना व्यापक है और अन्य नाटको की अपेक्षा इसमें रस-वैविध्य भी अधिक है, किन्तु वास्तविकता यह है कि त्रासदी की प्रकृति का सन्निवेश होने के कारण इसकी रसानुभूति एक महत्वपूर्ण सीमा तक बाधित हो गयी है। समग्र प्रभाव द्वन्द्वात्मक है, जबकि रस-दशा निर्द्वन्द्व निर्विकल्प होती है। पहले ही कहा जा चुका है, यह स्थिति नायक की विरागशील मनोवृत्ति के कारण उत्पन्न हुई है। पाश्चात्य त्रासदियो, विशेष कर शेक्सपीयर के त्रासदी-नाटको के नायको में एक न एक ऐसी प्रवृत्ति अन्त· प्रतिष्ठित होती है, जो उसे सर्वनाश की ओर ले जाती है। स्कन्द की विरागशीलता ऐसी ही है। ऐसा न होने पर विजया उसका वरण करती और वह भी स्वार्जित साम्राज्य पुरगुप्त को न सौंपकर स्वयं सम्राट् बनता। वैसी स्थिति में रस-दशा अबाधित रूप में निष्पन्न होती। किन्तु प्रसाद को यह स्थिति अभीष्ट न थी। वे समग्रत ट्रैजिक-प्रभाव उत्पन्न करना चाहते थे। इसका सूत्र नायक की प्रकृति मे ही नही, अन्य नाटकीय युक्तियो के प्रयोग में भी पाया जा सकता है। त्रासदी की नाटकीय विडम्बना अथवा उसका दुर्योग-तत्व भी यहाँ विद्यमान है। स्कन्द भटार्क को शत्रु-सैन्य के प्रतिरोध के लिए कुभा का बाँध काटने का आदेश देता है, किन्तु भटार्क उसी के विनाश के लिए उसके आदेश का दुरुपयोग करता है। उसका दिया मंत्र उसी के विपक्ष में फलीभूत होता है। रक्तपात, कुचक्र, श्मशान, अन्धकार, युद्ध, बाढ़ आदि के भयावह दृश्यो की एक लम्बी शृंखला आदि से अन्त तक फैली हुई है, जो ट्रैजिक प्रभाव की पुष्टि करती है। प्रपच बुद्धि के तान्त्रिक क्रिया-कलापो में कुछ अति-प्राकृत तत्व भी हैं, जो रहस्य-रोमाच की सृष्टि करता है। प्रतारणा और संशय की व्याप्ति प्राय ही पात्रो के मस्तिष्क का सन्तुलन बिगाड देती है।

पहले अंक में कुमार गुप्त की हत्या के प्रसग में सैनिक को चिल्लाकर कहा हुआ अपना ही 'सावधान' शब्द नही सुनाई पडता और अपनी म्यान उसे हल्की, तलवार से रहित लगती है। यह स्थिति बहुत कुछ 'मैकबेथ' के पोर्टरवाले दृश्य की याद दिलाती है। मानसिक असन्तुलन का शिकार नायक भी होता है। कुँभा के प्रवाह से बच कर निकला हुआ स्कन्द इतना अव्यवस्थित हो गया है कि वह अपना ही निष्प्रभ, निस्तेज, मलिन चित्र जैसा लगता है। शर्वनाग और रामा तो विक्षिप्त ही हो गये हैं। इस नाटकीय मोड पर मातृगुप्त, भीम आदि भी बौखला गये हैं। निश्चय ही नाटककार ने इन विशिष्ट नाट्य-युक्तियो का विनियोजन परम्परागत भारतीय नाटकों की सुखान्त एकरसता को तोडने के लिए किया है और रसानुभूति का परिव्याप्त होकर भी बाधित होना इसी का एक सहज परिणाम है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि 'फलागम' और 'सर्वनाश' (Catastrophe) दोनो ही स्थितियाँ इसमें अधूरी है, अतएव भारतीय और

पाश्चात्य—दोनो ही दृष्टियो से यह एक असफल नाटक है। किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि नायक—नायिका के चरित्र व परिणाम की एक अमिट छाप हृदय पर बिना पडे नही रहती। प्रभाव की वास्तविकता इसे सफल नाट्य-कृति होने का श्रेय देगी ही। अतएव इस नाटक का आकलन किसी एक दृष्टि से न करके, समाहार-पद्धति पर ही करना समीचीन होगा। कहना न होगा कि इस कसौटी पर यह नाटक अन्यतम प्रमाणित होता है।

कथानक के प्रसग में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद ने भारतीय कार्यावस्थाओं के साथ पाश्चात्य क्रिया-स्थितियो (Stages of Action) की सगति बिठाने का सफल प्रयास किया है। दोनों मे पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं और पाँच अको मे यह नाटक न्यूनाधिक एक-एक अवस्था प्रस्तुत करता है। आरम्भ मे नाटककार ने प्रारम्भ और प्रयत्न-कार्यावस्थाओ को प्रधानता दी है और उनके अनतर क्राइसिस (सघर्ष) और डिनोमा (निगति) की। समापन द्विविध है। नायक के उद्देश्य की सिद्धि (फलागम) भी होती है और वह आत्यन्तिक रूप से विफल (कैटेस्ट्राफी) भी होता है। यदि पाश्चात्य त्रासदी को प्रधानता देनी होती, तो नायक को बाह्य तथा आन्तरिक दोनो ही संघर्षों में विफल और नष्ट चित्रित किया गया होता। दूसरी ओर भारतीय विचार के अनुसार उसे सर्वरूपेण सफल ही होना चाहिए था। प्रसाद ने दोनो की आत्यान्तिकता का परिहार करते हुए उनके सामंजस्यपूर्ण निर्वाह का प्रयत्न किया है और इसमें उन्हे अभूतपूर्व सफलता मिली है।

वैयक्तिक कथा-प्रसंग का विश्लेषण अवश्य पाश्चात्य क्रियावस्थाओ के आधार पर करना समीचीन हो सकता है। प्रथमाक के अन्त में स्कन्द का विजया को ओर आकर्षित होना 'एक्सपोजीशन' की स्थिति है। औत्सुक्य जगाने में यह स्थल विशेष सक्षम है। दूसरे अंक मे स्कन्द की विरागशीलता के कारण विजया का उससे विरत होना और भटार्क की ओर अग्रसर होना 'इन्सीडेन्ट की अवस्था है। अंक के अन्त में विजया का घोषित रूप से भटार्क के पक्ष में होना और तज्जन्य स्कन्द का मानसिक विक्षोभ 'क्राइसिस' का व्यजक है। इसके आगे अन्तिम अंक मे वहाँ तक 'डिनोमा' की स्थिति चलती है, जहाँ देवकी की समाधि पर स्कन्द को देवसेना अनायास ही मिल जाती है। देवसेना की अस्वीकृति, स्कन्द का कौमार-व्रत-ग्रहण एवं उसके द्वारा विजया कि भर्त्सना 'कैटेस्ट्राफी' अथवा सर्वनाश की चरम अवस्था सूचित करते है।

नाटक का अन्तिम दृश्य इस सर्वनाश की अनुभूति को गहरा तथा अन्तिम बनाने के लिए रख दिया गया है। इस दृश्य का महत्व क्रियावस्थाओ की दृष्टि से निश्चय ही नहीं है, किन्तु समग्रप्रभाव के विचार से उसका होना अनिवार्य हैं। यदि यह दृश्य न होता तो सर्वनाश की अनुभूति दब जाती और फलागम की सुखान्तता सर्वोपरि हो जाती, किन्तु नाटककार को यह अभीष्ट न था। वह करुणा की अनुभूति को प्रधानता देना चाहता था,

जिसका कथासूत्र बाह्य संघर्ष के व्यापक कथा-प्रसाद मे अधिक अभिव्यक्ति नही पा सका था और न ऐसा होना उचित ही होता। अतएव अन्तिम दृश्य का नियोजन उसकी विवशता थी, उसके करुणार्द्र अन्त करण की अनिवार्य नियति थी।

'स्कन्दगुप्त' चरित्र-प्रधान नाटक है और इसका नामकरण नायक के आधार पर हुआ है। यो, निष्कण्टक साम्राज्य-रूपी फल पुरगुप्त को मिलता है और फलभोक्ता होने के नाते उसे ही नायक होना चाहिए था, किन्तु उसके व्यक्तित्व की हीनता के कारण उसे यह गौरव देने का प्रश्न ही नही उठता। जिन कारणो से वह पूरे नाटक मे सिंहासन के अयोग्य माना जाता रहा उन्ही कारणो से वह नायकत्व के लिए भी अयोग्य है। यह साम्राज्य किसी और ने अपने बाहुबल से रक्षित और अर्जित किया है और उसे यह केवल दान के रूप मे मिला है। फिर, साम्राज्य-प्राप्ति इस नाटक का वास्तविक फल है भी नही। वह स्कन्द जैसे महच्चरित्र के लिए उपयुक्त फल हो भी नही सकता। सारी विषम स्थितियो को दबाकर यदि वह स्वय सम्राट् बन बैठता, तो नायक तो वह तब भी रहता किन्तु तब उसमें वह उच्चाशयता और महनीयता न होती जो मनुष्यत्व को देवत्व तक पहुँचा देती है। अतः इस नाटक का वास्तविक फल वही है, जो स्कन्द को मिलता है—अर्थात् रक्षण और त्याग का उदात्त गौरव।

स्कन्द जितना कर्मठ और पराक्रमी है, उतना ही—वरन् उससे भी कही अधिक त्यागशील है। जिस गौरवशाली गुप्त-साम्राज्य की रक्षा के लिए वह रात-दिन एक कर देता है, अपने प्राणो पर खेल जाता है, उसे ही दूसरे को सौपने में उसे एक पल भी नही लगता। यह दूसरा भी कोई श्रेष्ठ और अधिकारी व्यक्ति नही, वरन् वह पुरगुप्त है जिसे राजद्रोह के अभियोग में प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए था। यह स्कन्द का ही उदार हृदय है जो एकाधिक बार उसे उसके पक्षधरो सहित क्षमा ही नही करता, अपितु अन्ततः उसे वह सारा कुछ अनायास ही दे देता है जिसके लिए उसने कुचक्र रचे थे, देश के साथ विश्वासघात किया था। निश्चय ही उसका त्याग महान् है। इतना बडा त्याग केवल विवेक के सहारे नही किया जा सकता, उसे मानव-प्रकृति में निहित भी होना चाहिए। स्कन्द का व्यक्तित्व ऐसा ही है। विराग की एक गहरी अन्तर्धारा उसमें आरभ से ही प्रवहमान है। उसे अधिकार-सुख मादक और सारहीन लगता है। चक्रपालित का यह आरोप किसी सीमा तक सही हो सकता है कि गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम उसकी विरक्ति का कारण है, किन्तु इसे पूर्ण और एकमात्र कारण नही कहा जा सकता। स्कन्द महत्वाकांक्षी होता तो केवल यह नियम उसे सम्राट् बनने से नही रोक सकता था। सत्ता हस्तगत करते उसे देर न लगती। पुरगुप्त के पक्षधर कुछेक लोगो को छोडकर शेष सभी उसके समर्थक थे और उसे गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक के रूप में देखते थे। वृद्ध-सम्राट् कुमारगुप्त स्वयं भी उसे उत्तराधिकारी निर्वाचित कर चुके थे, अन्यथा पुरगुप्त भटार्क आदि के द्वारा उनकी निर्मम हत्या न कर दी जाती। अत: चक्र का आरोप

एक अवान्तर कारण को ही उद्घाटित करता है, मूल कारण को नही । मूल कारण उसकी प्रकृतिगत विरागशीलता में निहित है, जिसका परिचय पूरे कथानक मे वाचा और कर्मणा मिलता रहा है । दूसरे अक के आरभ में चक्रपालित से उसका वार्तालाप इसका अच्छा उदाहरण है, जिसमें वह त्याग को महत्व का पर्याय मानता है । उसके मतानुसार वीरता भी त्यागमूला है, प्राणो का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है । ज्ञातव्य है कि स्कन्द यह बात तब कह रहा है, जब वह विजया के प्रति आकर्षित हो चुका है और उसके सन्निकट है । उसकी भावना का शीशमहल भी उसकी इसी प्रकृति के कारण चकनाचूर हो जाता है । फिर वह एकाधिक बार अपने प्रति अपराध करने वालो को बिना दण्डित किए छोड देता है—भटार्क को भी, जो उसका भीषणतम शत्रु है और जिसकी प्रवृत्ति के विषय में उसे कोई भ्रान्ति नही ।

स्कन्द का महत्वाकाक्षी न होना उसका दुर्गुण भी हो सकता है । नाटकीय दृष्टि से उसके महत्वाकाक्षी होने पर इस नाटक को किसी एक दिशा में चलना पडता—एकान्त सुखान्तता की ओर अथवा एकान्त दुःखान्तता की ओर । वैसी स्थिति मे या तो उसे अन्तत: विजया और साम्राज्य की उपलब्धि से सम्पन्न और सुखी दिखाया जाता या फिर दोनो की हानि के कारण वह निर्विण्ण और विनष्ट होता । वर्तमान स्थिति मे अन्तत. उसे दोनो ही मिलते हैं और दोनो को वह ठुकरा देता है । अपना कहने को कुछ भी उसके पास नही बच रहता, फिर भी उसका उपलब्धि सम्पूर्ण है । प्रसाद को यही सुख-दुखात्मक स्थिति अभीष्ट थी अत. उन्होने उसे महत्वाकाक्षी न बनाकर विरागोन्मुख दिखाया है ।

स्कन्द की यह विराग-वृत्ति बहुत कुछ 'गीता' के कर्मयोगी की अनासक्ति से मिलती-जुलती है, क्योकि यह केवल भोग-भाग में बाधक है—कर्मशीलता अथवा तज्जन्य उपलब्धि में नही । स्कन्द में अपार कर्मोत्साह है । पर्णदत्त और चक्रपालित द्वारा उद्-बोधित किये जाने पर ही सही, किन्तु जब वह त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए अपने अधिकारो का उपयोग करने को तत्पर हो जाता है, तो कुछ भी नही उठा सकता । एक बार तो वह इसी निमित्त सिंहासनस्थ होकर 'विक्रमादित्य' उपाधि भी धारण कर लेता है । उसकी कर्मण्यता अन्ततः साम्राज्य और विजया को उसे सौपती ही है, भले ही वह उन्हे स्वीकार न करे । प्रसाद-साहित्य में व्याप्त जीवन-दर्शन जिस नियतिवादी कर्मठता का आदर्श प्रस्तुत करता है, उसी का एक सशक्त रूप स्कन्द के माध्यम से चरितार्थ हुआ है । अनासक्त कर्मयोगी स्कन्द ईश्वर और अदृष्ट में आस्था रखता ही है । तभी तो एक ओर उसकी चेतना कहती है कि वह राजा है और दूसरी ओर उत्तर में जैसे कोई कहता है कि वह खिलवाडी वटपत्रशायी बालक के हाथो का खिलौना है ।

स्वत्व के प्रति नायक की यह उदासीनता इसलिए भी हो सकती है कि उसमें उदात्त भाव-स्तर का तीव्र अहं है और उसे वह सिंहासन रुचिकर नही, जिसका दावेदार कोई और भी हो। बन्धुवर्मा की इस उक्ति में स्कन्द के व्यक्तित्व का मर्म पाया जा सकता है कि 'उसके अन्त करण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है।' उसका अपरिसीम औदार्य उसके अभेद्य अह का ही संपोषक है। उसके अहशील मन की तुष्टि मात्र इसी रूप मे सभव थी कि जिस अधिकार के लिए उसके अहकार के लिए उसके बन्धुजन उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करते रहे, उसे अपने बाहुबल से अर्जित करके वह पूर्णत· निष्कण्टक और व्यवस्थित रूप मे उनकी हथेली पर रख दे। उसके सत्वसम्पन्न और अटूट आत्मविश्वासी व्यक्तित्व का प्रभाव प्रतिपक्ष पर उसकी आकाक्षा के अनुरूप अन्तत पडता ही है। विजया, भटार्क, पुरगुप्त, अनन्तदेवी, खिंगिल—सभी उसके प्रति अपराध-भाव और आत्म-ग्लानि का अनुभव करते है। अपने पराक्रम से वह उनका कूट-तन्त्र तोडता है और अपनी उदारता से वह उन्हे मानसिक पराजय देता है। उसके अह की तुष्टि मनोविजय में थी और बाह्य विजय उसकी सिद्धि के लिए एकमात्र साधन थी। यह उसके चरित्र का वैयक्तिक पहलू है।

सामाजिक भूमिका मे वह मर्यादाभिमानी वीर क्षत्रिय है, अश्वमेघ-पराक्रम श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य का पुत्र है, परम-गौरवशाली गुप्त-साम्राज्य का उत्तराधिकारी है और आर्य-राष्ट्र का सरक्षक है। निश्चय ही उसका विशाल मस्तक वक्रलिपियो से अकित है और भविष्य के साथ उसका युद्ध होना अनिवार्य है, किन्तु यह नियति उसे उसके सास्कारिक वीरोचित शील एव सकल्प से नही डिगा सकती। अपने अधिकार को लेकर वह भले ही तटस्थ रहे, किन्तु शरणागत-रक्षा का प्रश्न सामने आने पर उसे सन्नद्ध होते देर नही लगती। और वह अकेला ही मानव-रक्षा के लिए कृतसकल्प हो जाता है। उसे अपनी शक्ति पर अटूट आत्मविश्वास है, जो फलीभूत भी होता है। भटार्क के विश्वास-घात के कारण जब उसकी शक्ति बिखर जाती है तो गहरे विक्षोभ से उसका हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। उसको यह ग्लानि उसके सामाजिक अहं पर आघात लगने के कारण है। उसने यही तो चाहा था कि नीति और सदाचारो का महान् आश्रय-वृक्ष गुप्त-साम्राज्य हरा-भरा रहे और कोई भी उसका उपयुक्त रक्षक हो, किन्तु घोर आत्म-निर्वासन और अथक प्रयत्न के बावजूद जब ठीकरा उसी के सिर पर फूटता है और आर्य-साम्राज्य का नाश उसे ही अपनी आँखो से देखना पडता है तो वह विक्षिप्त हो उठता है। उसे अपनी असहाय स्थिति में अर्जुन के सोये हुए पुरुषार्थ का जगाकर स्वातन्त्र्य का विमल मन्त्र फूंकने वाले सत्-चेतन-आनन्द-रूप कृष्ण का ध्यान आता है और वह परमोद्धारक के आगे मुक्ति-प्रार्थी के रूप में प्रणत होता है। यह उसका यथार्थ से पलायन नही, वरन् उसकी मानवीय आस्था है। उसका अहं अपनी जगह बरकरार है। परम शक्ति के आगे प्रणति तो उदात्त-मानवीय अहं का लक्षण ही है, जिसका अभाव होने

पर वह दानवी दम्भ बन जाता है । अस्तु, विराग के साथ तीव्र अह् स्कन्द के व्यक्तित्व का आधारभूत घटक है ।

साम्राज्य का हस्तान्तरण और देवसेना की विदा क्रमश' उसके सामाजिक और वैयक्तिक अह के सपोषक है, जिसके क्रियान्वयन मे उसकी विरागवृत्ति सहायक होती है । यह और बात है कि इस अहता के लिए उसे क्या-कुछ नही सहना पडता । देवसेना भीतर से दृढ होते हुए भी अपने जीवन-देवता की अनुमति के बिना उससे विदा नही ले सकती थी । अब यह स्कन्द की बात थी कि वह उसे मुक्त कर दे या रुकने का अनुरोध करे । वह उसे मुक्त करता है—अपना टूटा हुआ, जीर्ण-जर्जर मन सम्हाल कर उसे विदा देता है, क्योकि रोकने में देवसेना के साथ-साथ उसका भी अह आहत होता है । उसका आन्तरिक भाव प्रतिदान माना जाकर अपमानित हो, यह उसके लिए असह्य है । अपमान की यह कचोट आमरण एकाकीपन की विरह-पीडा से कही अधिक दारुण है । अत उसे विदा देकर वह अपने और उसके-दोनो के अह की रक्षा करता है ।

स्कन्द मे आदर्श-नायक के सभी गुण है । वह गभीर, मितभाषी और सयमी है । महत्वाकाक्षा न होने पर भी मनोबल की उसमे कमी नही । बाधाओ के आगे झुकना वह नही जानता । उसमे अपार कर्मशीलता और कर्मकौशल हैं । युद्धक्षेत्र मे उसका सैन्य-संचालन उसकी दक्षता एवं सूझ-बूझ का परिचायक है । उसमे अजेय पौरुष और पराक्रम हैं । भटार्क जैसा अप्रतिभट योद्धा भी कुछ ही क्षणो मे उसका लोहा मान लेता है । जननी और जन्मभूमि के प्रति उसमे अपार श्रद्धा है और दोनो की रक्षा के लिये वह अथक प्रयत्न करता है । उसे ईश्वर मे आस्था है और कदाचित् इसीलिये उसमे अकम्प निर्भीकता है । आत्म-विश्वास का प्रकर्ष उसके व्यक्तित्व मे है, जिसके कारण उसके गुणो मे अतिरिक्त दीप्ति आ गयी है । बडे से बडे शत्रु को-भटार्क और खिंगिल को भी वह हँसते हँसते क्षमा कर देता है । उसकी उदार और निश्चिन्त क्षमाशीलता उसके आत्मविश्वास का ही प्रतिफल हैं । वह कृतज्ञ है । देवसेना को बचाने के पुरस्कार स्वरूप वह मातृगुप्त को काश्मीर का प्रशासक बना देता है । इस प्रतिदान का मूलभूत कारण बन्धु वर्मा का राज्यार्पण है, यद्यपि देवसेना का प्रेम उस पर प्रकट हो चुका है और उससे वह एक आतरिक सम्बद्धता अनुभव करने लगा है ।

उसका सस्कारगत राजकीय तेवर अविस्मरणीय है । शालीनता और विनय की प्रतिमूर्ति होते हुए भी वह एक दबग प्रशासक है और संकल्प का बाधित होना वह किसी प्रकार नही सह सकता । उसका पथ नीति सम्मत है और उद्देश्य महत् । अपनी वैयक्तिक विशेषताओ के कारण वह बाह्य और आन्तरिक समस्त बाधाओं पर विजय पाता है और राष्ट्रोद्धार का संकल्प पूरा कर दिखाता है । एक निर्वैयक्तिक किन्तु महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह अथक उद्योग करता है और जब उसे सिद्धि मिल जाती है, वह एक मोह-मुक्त विरागी की भाँति कर्म सन्यास ले लेता है । वह मानो अदृष्ट से प्रेरित होकर अपने

वैयक्तिक 'ग्रीनरूम' से बाहर आता है और सामाजिक मंच पर अपनी भूमिका बखूबी निभा कर पुन: उसी मे लौट जाता है। विशेषता यह है कि उसका यह निभृत एकान्त-ग्रीनरूम-रगमच का ही एक हिस्सा है।

सगीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध-रेखा, कुचले हुए फूलो का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद—देवसेना का व्यक्तित्व सचमुच इन्ही की प्रतिकृति है। विरागी स्कन्द से अपना मन बाँधने वाली देवसेना इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकती थी। भाव-विभोर, दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरगी सी कुमारी स्कन्द के ही समान स्वय-पोषित आत्म-निर्वासन का दु:ख-सुख सहने के लिये प्रतिबद्ध है। जिस प्रकार स्कन्द ने अपने आहत अह की तुष्टि के लिये सर्वस्व-त्याग किया है, उसी प्रकार देवसेना ने भी। कहना तो यह ठीक होगा कि उसका त्याग दुहरा होने के कारण स्कन्द की अपेक्षा महत्तर है। स्कन्द ने केवल साम्राज्य छोडा था, देवसेना राज्य के साथ-साथ अपनी कामना के पुरुष से भी विदा ले लेती है। परिणाम दोनो का एक है, किन्तु त्याग की प्रकृति भिन्न है। स्कन्द की विजया-विरक्ति देवसेना की निर्णायक अस्वीकृति के आगे कुछ भी नही है। विजया स्कन्द के जीवन से स्वय दूर चली गयी थी और उसका अन्तिम प्रयास केवल उसकी गर्हित स्वार्थ-वृत्ति और विलास-लालसा का परिचायक है। उसे इस रूप मे स्कन्द तो क्या, भटार्क भी नही स्वीकारता। इसके विपरीत देवसेना अपने उस देवपुरुष का अनुरोध ठुकराकर साग्रह विदा लेती है, जिसे छोडकर उसके हृदय में न तो कोई दूसरा आया और न जो कभी वहाँ से जायेगा। उसके त्याग को करुणा मर्म वेध देती है। उसके हृदय की कोमल कल्पना उसके लिये रह रहकर पुकार मचाती है, जिसे उसने द्वार पर आये होने पर भी लौटा दिया था, किन्तु वह उसे बरबस सुला देती है। उसकी कामना से उसका अह बडा है, यद्यपि अह-तुष्टि के सुख से विदा की वेदना कही अधिक गहरी है।

देवसेना का अह स्कन्द की ही भाँति दुहरा है। व्यक्ति-रूप मे वह एक भावना-मयी युवती है, जिसके अन्त:करण मे प्रेम का समुद्र लहरा रहा है। उसका भोला देवोपम सौन्दर्य एक बार उसकी क्रूर प्रतिद्वन्द्विनी विजया को भी उसके नृशस निश्चय से डिगा देता है। धरती के नन्दन की बसन्त श्री, इस अमरावती की शची देवसेना पहली ही दृष्टि में स्कन्द को समर्पित हो जाती है, यद्यपि वह स्कन्द का मनोभाव नही जानती। स्कन्द के प्रति विजया के आकर्षण-विकर्षण को वह एकपक्षीय मानती है और अपनी ओर से उसे वह सहानुभूति और सम्मति ही देती है। उसका अहं तब आहत होता है, जब विजया द्वारा भटार्क-वरण की घोषणा किये जाने पर स्कन्द मर्माहत हो जाता है। उसे लगता है कि विजया ने स्कन्द को खो तो दिया है, किन्तु खोने से पहले उसके हाथ से छीन लिया है। स्कन्द की विजयानुरक्ति का सत्य उसके वैयक्तिक अह पर गहरी चोट करता है और वह भीतर ही भीतर कुण्ठित हो जाती है। यह कुण्ठा सामाजिक अहं का

भी प्रश्न आ जुडने पर निर्णय का रूप ले लेती है। वह क्षत्रिय राजकुमारी है। अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा के प्रति वह जागरूक है। उसे यह कदापि सह्य नही कि उसके देशाभिमानी वीर अग्रज बन्धुवर्मा के देशहित मे किये गये राज्यापर्ण को उसके प्रणय का मूल्य कहकर अपमानित किया जाए। देवसेना के वैयक्तिक अहं पर आघात लगने के तुरन्त बाद विजया उसके इसी सामाजिक अह पर भीषणतम प्रहार करती है और यही क्षण निर्णायक बन जाता है। एक बार निर्णय ले लेने के बाद उसे कोई भी विचलित नही कर सकता, स्वय उसका देवता स्कन्द भी नही। अपने प्रखर अहं के अनुरूप ही उसमे चरित्र-बल और सकल्प की दृढता है, जो इस नाटक की परिणति को पूरी तरह प्रभावित करती है। उसकी त्यागमयी उदात्त दृढता से प्रभावित होकर स्कन्द एक ओर आजीवन कौमार-व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा करता है दूसरी ओर पुरगुप्त के लिए साम्राज्य-त्याग का निर्णयात्मक सकल्प घोषित करता है। कहना न होगा कि देवसेना का अह स्कन्द के अह से कही अधिक प्रखर और प्रभावशाली है। जितना मनोद्वन्द्व उसे झेलना पडा है, उतना स्कन्द को नही। इस अन्त· कलह पर विजयी होने वाला उसका मनोबल भी अप्रतिम है। स्वयं दिङ्मूढ स्कन्द को उससे कर्त्तव्य की दिशा मिलती है।

यह अवश्य है कि स्कन्द के अह का सन्दर्भ व्यापक है और देवसेना का अपेक्षाकृत आत्मबद्ध अधिक—किन्तु इतने से ही उसका महत्व कम नही हो जाता। फिर व्यापक सन्दर्भ की अतिरिक्त भास्वरता देवसेना के स्वाभिमान में निहित है ही, भले ही वह तुलनात्मक रूप मे कम हो। स्कन्द को अस्वीकार करने में उसका यह मनोभाव कम महत्वपूर्ण नही है कि मालव-समर्पण का उद्देश्य-राष्ट्रोद्धार-पूर्ण होना ही चाहिए, जिसके लिए स्कन्द का कर्मशील रहना सर्वथा अपेक्षित है। साम्राज्य की सामरिक शक्ति बिखर जाने पर वह सगठन और देश-सेवा के कार्य में वृद्ध पर्णदत्त का हाथ जिस प्रसन्न तत्परता से बाँटती है, वह उसके वैयक्तिक अथवा वंशगत अहं को व्यापक सन्दर्भ से जोडने के लिए पर्याप्त है।

वैचित्र्य और विरोध देवसेना के चरित्र में सर्वाधिक है। स्कन्द को केवल कर्मशीलता और त्याग में सगति बिठानी पडती है, जबकि देवसेना का पूरा जीवन असगतियो की एक करुण कथा है। एक ओर वह संगीतप्रिया है, दूसरी ओर प्राणोत्सर्ग के लिए सदैव तत्पर रहने वाली क्षत्राणी। अपनी भावना और कोमल कल्पना में जहाँ वह स्वर्गीय कुसुम सी कोमल है, वही अपने सकल्प में वज्र-कठोर भी। जब वह गाती है तो भीतर की रागिनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है। एक आकस्मिक क्षण में वह सदैव के लिए समर्पित होती है, दूसरे आकस्मिक क्षण में वह सदा-सदा के लिए विदा ले लेती है। प्रणय और अहं, व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व में बेतरह उलझी हुई यह भावनामयी बाला अपरिसीम मानवीय करुणा का उद्रेक करती है। उसके जीवन की विडम्बना यही है कि वह प्रकृति से जितनी कोमल है, आचरण में उसे उतना

ही कठोर होना पडता है । प्रेम के नाम पर वह केवल एक बार रोती है और अन्त मे जीवन-सचित मधुकरियो की भीख लुटाकर अपने इस जीवन के देवता और उस जीवन के प्राप्य से क्षमा याचना सहित विदा ले लेती है । उसकी वेदना गहरी है, मर्मव्यापिनी है । स्कन्द का व्यक्तित्व यदि अपनी उदात्तता में अन्यतम है, तो देवसेना का व्यक्तित्व अपनी करुणा मे मर्मान्तक ।

व्यक्तित्व की प्रखरता के विचार से विजया इस नाटक में सर्वाधिक जीवन्त चरित्र है । अन्तर्द्वन्द्वपरक वैयक्तिक कथाधारा मे उसकी भूमिका विशेष महत्वपूर्ण है । स्कन्द और देवसेना के अहं पर क्रूर आघात करके वही समापन की दिशा निर्धारित करती है । उसमें जितनी रूप-दीप्ति है, उतनी ही उद्दाम लालसा भी । मालव के घन-कुबेर की कन्या विजया प्रकृति से महत्वमुखी है । स्कन्द से भटार्क और भटार्क से पुन स्कन्द की ओर उसका प्रत्यावर्तन उसकी इसी प्रकृति का परिचायक है । उसकी जीवन-दृष्टि स्थूल है, बाह्यपरक है । गंभीरता और विवेक की उसमे बहुत कमी है । आवेगमयी प्रकृति के चरित्रो मे इनका न होना ही स्वाभाविक है और विजया प्रचण्ड आवेग की भयानक प्रतिमा है । वह पहाडी नदियो से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार है । अनन्तदेवी जैसी उग्र सत्ताधारिणी को कटूक्तियाँ सुनाने के लिए जैसी दुर्धर्ष धृष्टता अपेक्षित थी, वह पूरे नाटक मे केवल उसी में है । प्रतिशोध का अन्धापन उसे देवसेना की हत्या के गर्हित कुचक्र का सूत्र थमा देता है । अपने आवेग मे वह अनेक बार भूल करती है पछताती है और फिर भूल करती है । यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक भूल और पछतावा चरम सीमा पर नही पहुँच जाते । यह बिन्दु उसकी भी अन्तिम सीमा है, जहाँ पहुँचकर उसे आत्म-हत्या करनी पडती है । अपने उदय मे जो स्कन्द की सुखाशर्वरी की सन्ध्या-तारा के समान चमक उठी थी, वह अपने प्रकर्ष मे उल्कापिण्ड होकर दिगन्तदाह करती है और सबेरा होते-होते वह दुश्चरित्रा, हिंस्र पशु, पिशाची बनकर घोर अपमान एवं भीषण अन्त को प्राप्त होती है । उसकी धुरीहीन चचल प्रवृत्ति उसे पतन के पथ मे आगे बढाती रहती है और विनाश के कगार पर लाकर उसे एकदम नीचे ढकेल देती है उसका क्षणिक भावावेग एक बार उसे सत्कर्म-राष्ट्रसंगठन-की ओर भी ले जाता है, किन्तु कोई ठोस काम कर सकने के पहले ही उसकी स्वार्थमयो वणिक् बुद्धि उस पर हावी हो जाती है और वह सौदेबाजी करने लगती है । उसकी चारित्रिक दुर्बलता उसके स्वार्थबद्ध अहं से परिचालित है ।

स्कन्द के विरुद्ध चलने वाले कूटतन्त्र की सूत्रधारिणी अनन्तदेवी में शासन-सत्ता हथियाने की उग्र महत्वाकाक्षा है, जिसकी पूर्ति के लिए वह कुछ भो कर सकती है । विजया और अनन्तदेवी—दोनो में महत्वमुखी स्वार्थपरता है, किन्तु जहाँ विजया अपने वणिक्-संस्कार के अनुरूप महत्व को समर्पित होती है, वहाँ अनन्तदेवी का राजरक्त बड़े से बड़े को भी अपनी प्रभुता के दर्प में कुछ नही समझता । उसकी महत्वाकाक्षा के अनु-

रूप ही उसमें अडिग आत्म-विश्वास और अकम्प मनोबल है। अपनी नियति का पथ वह अपने पैरो चलने के लिए दृढ है। अपने ही बल पर वह महापिशाची की विप्लव-ज्वाला धधका कर खण्ड प्रलय करने के लिए उद्यत है। उसके विकट मनोबल की यह अजेयता बहुत कुछ उसकी शासन-सत्ता के कारण है, किन्तु उसका सौन्दर्य-सम्मोहन भी इसमें कम योगदान नही करता। वह अश्वमेध-पराक्रम कुमारगुप्त से बालो को सुगन्धित करने के लिए गन्धपूर्ण जलवा चुकी है। भटार्क उसकी शक्ति के अतिरिक्त इस सम्मोह के कारण भी उसके हाथो की कठपुतली बना रहता है। वह गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुजी जिधर चाहे घुमा दे। उसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डावाँडोल हो उठता है। उसे अपना प्रतिषेध कदापि प्रिय नही, चाहे वह उसके अपने बेटे पुरगुप्त द्वारा ही क्यों न किया जाए। महास्थविर प्रख्यातकीर्ति तक को वह अपमानित करती है। कुचक्र-रचना मे उसकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर और दृष्टि अत्यधिक पैनी है।

वह अवसरचतुरा है। भटार्क के अपमानित होने का वह पूरा लाभ उठाती है क्योकि उसने उसकी अधीरता तथा मनोबल-क्षीणता पकड ली है। उसकी दुर्बलता पहचान कर वह उसे अपना कर्मठ सहयोगी बना लेती है। प्रपचबुद्धि भी उसका एक अस्त्र ही है। वह अत्यधिक व्यावहारिक और व्यवहार-कुशल है। उसकी अपने लक्ष्य पर दृष्टि है, जिसकी सिद्धि के लिए वह घोर से घोरतर काम कर सकती है। मर्यादा और सिद्धान्त का कोई द्वन्द्व उसके भीतर नही उभरता। अवसर के अनुरूप वह कभी कठोर और कभी नम्र हो जाती है। भटार्क के सामने वह अपने को किंचित् असहाय दिखाती है जबकि शर्वनाग, पुरगुप्त, विजया आदि पर वह कठोर नियन्त्रण रखती है। कुमारगुप्त को वह नीत्या विलासिता में आकण्ठ-मग्न रखती है, जिससे कि वह उन्ही के विरुद्ध निर्द्वन्द्व व्यूह-रचना कर सके। अपने पुत्र पुरगुप्त को भी वह इसीलिए विलासप्रिय बना देती है कि वह उसके मनतव्य मे बाधा न दे सके और सम्राट् बनने के बाद भी उसी के निर्देशो पर चलता रहे। कूट-तन्त्र के सचालन के लिए जिस दुर्भेद्य और रहस्यमय व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, वह उसके पास है। भटार्क उसकी आँखो मे काम पिपासा के उबलते हुए संकेत, कपोलो पर रक्त होकर क्रीडा करने वाली अतृप्ति की चचल प्रवंचना, विलास का सन्देश वहन करती हुई उसकी श्वासो की गरमी का अनुभव करके भी इस दिशा मे कोई निश्चित धारणा नही बना पाता और उसके अज्ञात आकर्षण मे बँधा हुआ, उसके दुस्साहस से अभिभूत-उसके कार्य-साधन का अस्त्र बना रहता है। विजया की सहज नारी-बुद्धि उसके मन में छिपे चोर को अवश्य पकड लेती है, किन्तु तब वह एकदम पैतरा बदलकर उसे हतबुद्धि कर देती है। अपने दुर्भेद्य व्यक्तित्व की सन्धि प्रकट होते देखकर वह उस पर कठोरता का कवच डाल देती है और भटार्क को घृणापूर्वक अपने से काटकर अलग कर देती है।

उग्र महत्वाकाक्षा और राजदंभ उसके चरित्र की रीढ़ हैं, जिनको लेकर वह कभी

समझौता नही कर सकती। जब वह अपने पति की हत्या करा सकती है, तो भटार्क जैसे कीट-पतंग को लेकर वह अपने व्यक्तित्व का विघटन क्यों होने दे। भटार्क को अलग करके भी वह अपनी दिशा मे तब तक प्रयत्नशील रहती है, जबतक अन्तिम रूप से निरस्त्र नही हो जाती। अन्त मे स्कन्द से उसकी क्षमायाचना केवल उसकी विवशता की सूचक है, हार्दिक शुद्धता की नही।

अप्रतिभट योद्धा भटार्क मे भी उग्र महत्वाकाक्षा है, किन्तु उसकी अधीरता उसे कुपथ पर ले जाती है और एक बार पाप-पक में फँस जाने के बाद वह चाहते हुए भी उससे अपने को अलग नही कर पाता। कुमारामात्य पृथ्वीसेन और सम्राट् कुमारगुप्त उसे सौराष्ट्र के युद्ध में सेनापति न बनाकर उसके साथ कुछ अन्याय अवश्य करते है, किन्तु भटार्क की प्रतिक्रिया उसकी तुलना मे गुरुतर अपराध ठहरती है। उसमे अधीरता है और मनोबल की कमी है जिसका पूरा-पूरा लाभ अनन्तदेवी उठाती है। रहा-सहा मनोबल धूर्त प्रपचबुद्धि नष्ट कर देता है। मूलत' वह महत्वाकाक्षा वीर योद्धा है, किन्तु कुकर्म के नागपाश मे जकड जाने पर उसे वह सब कुछ करना पडता है। जो उसकी प्रकृति के विरुद्ध था और जिसे वह स्वतन्त्र होने पर कभी नही करता। उसका युवा रक्त भी किसी सीमा तक इसका उत्तरदायी है। अनन्तदेवी से वह केवल सत्ता, साहस और दुर्लक्ष्य के स्तर पर ही प्रभावित नही है, वरन् उसके विलास-व्यंजक असामान्य सौन्दर्य-सम्मोहन ने भी उसे कही भीतर जकड रखा है। उसकी आँखो में उसने काम-पिपासा के संकेत पाये है, कपोलो की आरक्तता मे अतृप्ति की चचल प्रवंचना देखी है और श्वासो की उष्णता मे विलास का सन्देश सुना है।

अनन्तदेवी का दुस्साहस उसके वीर मन को इस भूमिका मे और आकर्षक लगता है। वह उसके दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज छिपा हुआ देखता है। प्रकटत वह इस सन्दर्भ में अनन्तदेवी से कुछ भी कहने का साहस नही रखता, किन्तु उद्दाम सभावना अवश्य वह अपने भीतर छिपाए हुए है। इसी बीच उसे विजया मिल जाती है, जो उससे अधिक आकर्षक है और जो स्वत. उसे समर्पित हो जाती है। दुर्भाग्य से वह भी उसे उसी दिशा में प्रोत्साहित करती है, जिधर अनन्तदेवी ने किया था और कर रही थी। दोनो के व्यामोह से उबरने पर वह स्कन्द का अनुगामी बनकर राष्ट्रोद्धार के लिए समर्पित हो जाता है। उसे अपने दुष्कर्मो पर घोर आत्मग्लानि होती है—यहाँ तक कि वह आत्म-हत्या करने को तैयार हो जाता है। यह आत्मग्लानि उसकी मूल प्रकृति की सत्वसम्पन्नता की व्यंजक है। उसकी यह मौलिक सद्वृत्ति भयानक कुकर्मों मे सन्निहित होने के पहले कई बार उसे मनोद्वन्द्व में डाल चुकी है, किन्तु तब वह दुष्चक्र में उलझ चुका था और अविवेक उस पर हावी हो जाता था। देवकी की मृत्यु पर कमला की भर्त्सना से उसकी आँखें खुलती है और उसे अनन्तदेवी से वितृष्णा हो जाती है। विजया की चरित्रहीनता देखकर उसे अपार घृणा और ग्लानि का अनुभव

उसमे अद्भुत समन्वय है। कुमारगुप्त के राजमन्दिर में उसका व्यंग्य-विनोद एक रोचक वातावरण का निर्माण करता है। हूणो के दमन में वह निरन्तर सक्रिय रहता है और अपनी वीरता का परिचय देता है। कुसुमपुर के राजमन्दिर मे उसी ने अनन्तदेवी पर विनोद की मुद्रा मे व्यग्य किये थे और अन्तत वही उसे बौद्ध विहार में बन्दी भी बनाता है। उसका व्यक्तित्व बहुमुखी है।

कुमारामात्य पृथ्वीसेन साम्राज्य का शुभेच्छु और स्वामिभक्त है। वह गम्भीर प्रकृति का है, विनाद मे उसकी रुचि नही। वह निर्भीक और साहसी है। साम्राज्य और देश के हित में वह महाप्रतिहार और दण्डनायक के साथ आत्म-हत्या कर लेता है। महाप्रतिहार और दण्डनायक के चरित्र भी उसी के समान गौरवपूर्ण, स्वाभिमानी और आत्मबलिदानी है। बन्धुवर्मा के अनुज भीम में वीरोचित साहस व तत्परता है। वह अपने अग्रज का अनुगमन करता हुआ न्याय के पक्ष मे कर्मरत रहता है। आदर्श-पात्रो की इस शृंखला मे रामा, कमला, जयमाला और देवकी जैसी गरिमा-महिमामयी नारियाँ भी है। रामा में अटूट स्वामिभक्ति है। देवकी के प्रति उसकी निष्ठा मे उसकी प्रकृतिगत सद्वृत्ति भी मिली हुई है। वह अपने पति के नीच इरादो का विरोध करती है, उसे अपशब्द भी कहती है और उसके हाथो देवकी को मरने से बचाने के लिए स्वयं मरने को उद्यत हो जाती है। हूणो द्वारा बच्चो की निर्मम हत्या किये जाने पर वह विक्षिप्त सी हो जाती है किन्तु उस स्थिति में भी उसकी निष्ठा प्रबुद्ध रखती है। स्कन्द को पुनरुद्बुद्ध करने में उसकी उन्मत्तावस्था की व्यग्योक्ति यथेष्ट महत्व रखती है।

भटार्क की माँ कमला में प्रखर राष्ट्रभाव है। भटार्क का देशद्रोह उसे बहुत सालता है। उसकी आत्यन्तिक विगर्हणा ही अन्तत भटार्क को सुमार्ग पर लाती है। हताश स्कन्द को भी वही कर्मठता और सघर्ष की विवेकमयी प्रेरणा देती है। जयमाला में क्षत्राणो का प्रकृत रूप देखा जा सकता है। युद्ध और गान दोनो उसके लिए एक जैसे है। मालव-समर्पण के प्रसंग में उसकी स्त्रीसुलभ व्यग्य-वृत्ति और पार्थिव ममता प्रकट होती है, किन्तु अन्तत वह राष्ट्रहित के महत् लक्ष्य से भावित होकर त्याग का ही समर्थन करती है। उसमे दुराग्रह नही है। वह स्पष्टवादिनी है। उसमें क्षत्रियत्व की तेजोमयी गरिमा है। उसमे उत्साह, स्वावलम्बन और आत्मगौरव का प्रखर भाव है।

राजमाता देवकी के चरित्र में आस्था का औदार्य है। उसे ईश्वर की शक्ति और करुणा पर अखण्ड विश्वास है। उसका पुत्र स्कन्द उसे प्राणाधिक प्रिय है और उसी के अनिष्ट का सकेत पाकर उसकी मृत्यु भी होती है। उसे मरण का भय नही। अपनी हत्या के समय भी वह निर्भीक रहती है और स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर बैठने की इच्छा रखने वाली अनन्तदेवी तथा रक्त के प्यासे कुत्ते शर्वनाग पर तीक्ष्ण व्यंग्य करती है। उसमें अपार क्षमाशीलता है। स्कन्द के राज्याभिषेक के अवसर पर वह सभी राजबन्दियो को मुक्त करा देती है। यही नही, रामा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के

बहाने वह अपनी ही हत्या के कुचक्र के प्रमुख अस्त्र शर्वनाग को गौरवपूर्ण पद दिलाती है। शील, सौजन्य तथा करुणा की वह महिमामयी प्रतिमा है।

प्रपचबुद्धि और प्रख्यातकीर्ति एक ही वर्ग के दो परस्पर-विरोधी चरित्र हैं। दोनो ही बौद्ध सघ से सम्बद्ध है, किन्तु एक उसके पतित और वीभत्स पक्ष का प्रतिनिधि है जब कि दूसरा उसका उज्ज्वल पक्ष सामने रखता है। प्रपचबुद्धि बौद्ध-कापालिक है। बौद्ध सघ पर उसका प्रभाव है। तन्त्र-साधना की वीभत्स भयावहता उसके व्यक्तित्व में आपाद-मस्तक समायी हुई है। वह सूचीभेद्य अन्धकार मे छिपने वाली रहस्यमयी नियति का—प्रज्ज्वलित कठार नियति का—नील आवरण उठाकर झाँकने वाला है। उसकी आँखो मे अभिचार का सकेत है, मुस्कराहट मे विनाश की सूचना है, आँधियो से खेलता है। बातें करता है—बिजलियो से आलिंगन। शव-चिता मे नृत्य करती हुई तारा का ताण्डव नृत्य, शून्य सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुण्डमालाओ की कन्दुक-क्रीडा—सबका वह प्रत्यक्षदर्शी है। यह क्रूर कठोर नर-पिशाच निश्चय ही भूकम्प के समान हृदय को हिला देनेवाला है। भटार्क और शर्वनाग के दुर्बल मन को अपने पक्ष मे सबल बनाने के लिए अनन्तदेवी उसे अस्त्र बनाती है। वह अपने तान्त्रिक शब्दाडम्बर एव असामान्य चेष्टाओ से वैसा कर दिखाता है।

वह दुष्ट-तर्क मे प्रवीण है। शर्वनाग को वह अपने स्थूल किन्तु प्रभावशाली तर्क से वश में कर लेता है। भटार्क को भी वह अपने इसी वाक्-चातुर्य से साम्राज्य-विरोधी बनाये रखने मे सफल होता है। उसकी नाटकीयता भी इसमे सहयोग देती है। वह अभिनय-कुशल है। कुछ घोर-आचार उसे सस्कारत. प्रिय हो गये हैं। वीभत्स तान्त्रिक क्रियाओ में उसे निष्ठा भी है और रुचि भी। 'दुरात्मा' स्कन्दगुप्त जब उसकी आशाओ के भंडार पर अर्गला लगा देता है और पुरगुप्त, अनन्तदेवी व भटार्क की गतिविधि बाधित कर देता है तो वह उग्रतारा की साधना करके सद्धर्म के उद्धार की योजना बनाता है। पहले उसकी दृष्टि विजया पर पड़ती है और वह उसी की बलि देने का विचार मन मे कर लेता है, किन्तु विजया अपनी प्रतिहिंसा मे देवसेना को आगे बढा देती है। प्रपचबुद्धि के लिए जैसी विजया वैसी देवसेना—उसे तो नरबलि चाहिए। 'सुयोग' से देवसेना की बलि उसके पक्ष में दुहरा महत्व रखती है। यह सारा अकाण्ड ताण्डव वह सद्धर्म के नाम पर करता है। वह महाधूर्त्त है। तत्कालीन प्रशासन से बौद्ध असन्तुष्ट थे और बौद्ध धर्म की आड मे अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले तथाकथित तन्त्राचारी भी इसीलिए साम्राज्य-विरोधी हो गये होगे। प्रपच बुद्धि उन्ही का प्रतिनिधित्व करता है। वह विफल होता है और अपनी प्रकृति के अनुसार, विनाश को प्राप्त होता है। उसका सुधार नही हो सकता, अतः उसका पूर्ण पतन होना ही चाहिए।

लंका-राज्य कुल का श्रमण, महाबोधि-विहार—स्थविर प्रख्यातकीर्ति ठीक उसके विरुद्ध सद्धर्म के उज्ज्वल पक्ष का प्रतिनिधि है। वह उदार विचारों का विवेकशील

बौद्ध है। स्वधर्म के आदर्शों में उसकी गहरी निष्ठा है, किन्तु ब्राह्मण-धर्म के प्रति उसमें घृणा, अनास्था अथवा प्रतिहिंसा का कोई भाव नही। वह जानता है कि मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। किन्तु यही विकास का रहस्य है। अतएव वह ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों को एक ही मूल धर्म की दो शाखाएँ मानता है। नरबलि से उसे प्रवृत्तिगत और सैद्धान्तिक घृणा है। वह इसका विरोध करता है और पशुओ के स्थान पर अपनी बलि के लिए तैयार हो जाता है। अहिंसा और करुणा का बौद्धमत मे विशेष महत्व है, किन्तु अन्य धर्मों में भी इनकी महत्ता कम नही मानी गयी है। उसकी आत्मशक्ति का यथाभीष्ट प्रभाव पडता है। वह भी राजनीति मे कर्मशील है किन्तु राष्ट्र के पक्ष मे, प्रपंचबुद्धि की भाँति विपक्ष में नहीं। नायक-पक्ष के छिन्न-भिन्न हो जाने पर वह धातुसेन का सन्देश मातृगुप्त तक पहुँचाता है। वह निर्भीक है। उसे न हूण सेनापति का भय है और न ही अनन्तदेवी, पुरगुप्त आदि का। हूणो को वह दो-टूक जवाब दे देता है और पुरगुप्त को अकर्मण्य और अनार्य कहता है। वह अधर्माचरण नही देख सकता। धर्म-रक्षा मे मृत्यु से उसे कोई भय नही। वह भय को क्षणिक और अनात्म मानता है, अत उसके लिए मृत्यु कोई अप्रत्याशित वस्तु नही। वह सास्कृतिक विचारो का आदर्श-बौद्ध है। प्रपचबुद्धि यदि भाद्र की अमावस्या के अन्धकार का साधक है, तो वह शरद् पूर्णिमा के चन्द्रालोक का आराधक।

दोनो के माध्यम से दो विचारधाराएँ नाटक मे प्रवाहित होती है—एक पूर्वार्ध मे, दूसरी उत्तरार्ध मे। जो हेय है, वह बीच में ही विनष्ट हो जाती है और जो श्रेय है वह अन्त में प्रकर्ष पाती है। नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से प्रपंचबुद्धि का व्यक्तित्व निश्चय ही हावी हो जाने वाला है और बेहद जीवन्त है। टूटने वाले नक्षत्र में कुछ विशेष चमक होती ही है।

शर्वनाग और पुरगुप्त मध्यम-कोटि के चरित्र है, जिन्हें परिस्थितियाँ कुपथ पर ले जाती हैं। शर्वनाग वीर सैनिक है और उसमे स्वामिभक्ति भी है, किन्तु मनोबल की कमी और लोभी प्रकृति के कारण वह विपक्ष से जुड़ जाता है। प्रपचबुद्धि का शब्दाडम्बर एवं अभिचार-कर्म भी उसके क्षीण मनोबल को अन्यथा-दृढ बना देते है। स्कन्द और देवकी की उदारता उसे पुन सुपथ पर ले आती है और वह पूरी शक्ति से राष्ट्र-रक्षण के कार्य में लग जाता है। वह चतुर और छद्मकुशल है। उत्तरार्ध में नायक-पक्ष को उससे बहुत बल मिलता है। पुरगुप्त अकर्मण्य और साम्राज्याकाक्षी है। मनोबल उसमें नही के बराबर है। फलत. वह अनन्तदेवी का सही मुहरा बन जाता है। वह विलासप्रिय अवश्य है, किन्तु उतना नही जितना उसे बन जाना पड़ता है। साम्राज्य का वह लोभी अवश्य है, किन्तु देशद्रोह के मूल्य पर वह उसे नही चाहता। अपने पक्ष की हूणो से दुरभिसन्धि उसे अच्छी नही लगती और वह प्रतिषेध का प्रयास भी करता है, किन्तु मनोबल की कमी के कारण अनन्तदेवी की डाँट पर चुप लगा जाता है और

कादम्ब मे डूब जाता है। अपने लोभ में और अनन्तदेवी के सकेत पर वह अपने पिता सम्राट् कुमार-गुप्त की हत्या के कुचक्र मे प्रमुख भूमिका अवश्य देता है, किन्तु आगे चलकर हूणों पर स्कन्द की विजय से वह प्रसन्न भी होता है। अन्त मे स्कन्द के चरण छूकर अपना अपराध स्वीकार करना उसकी आन्तरिक शुद्धि का परिचायक है।

मातृगुप्त एक ओर कवि तथा भावुक प्रेमी है और दूसरी ओर कर्मठ तथा वीर देशभक्त। स्कन्द के समान वह भी प्रेम मे विफल होता है, फिर भी कर्मरत रहता है। देवसेना को वह बलि से बचाता है और नायक-पक्ष के बिखरने पर उसके पुनर्गठन के लिए प्रयत्न करता है। उसमें विनोदशीलता भी है। मुद्गल से उसकी मैत्री बहुत कुछ हास-परिहास-प्रियता के ही कारण है। मुद्गल परम्परागत विदूषक के रूप मे है। वह राज-सहचर है, विनोद-कुशल है और भोजनभट्ट है। प्रकृति से वह देशभक्त है और स्कन्द के पक्ष में कर्मशील रहता है। सामान्य चरित्रो मे उसे आदर्श कहा जा सकता है। वृद्ध सम्राट् कुमारगुप्त विनोद-विलास मे डूबे रहते है। उनमे राजनीतिक विवेक है अवश्य, किन्तु वह इतना क्षीण हो गया है कि विलास वृत्ति उस पर हावी हो जाती है। उनकी हत्या इस तथ्य की सूचक है कि साम्राज्य एवं देश के हितैपी थे और वे स्कन्द को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। विलासप्रियता उन्हे दुर्बल बना देती है और उसी के फलस्वरूप वे अनन्तदेवी के कुचक्र के शिकार हो जाते है। हूण-सेनापति खिंगिल अनार्य आक्रामक है, जिसमे सदाशयता एव नैतिकता का पूर्ण अभाव है। उसे तथा उसके सैनिको को हिंसा और लूट मे ही विश्वास है। बार-बार पराजित होकर भी वे दुष्प्रयासो से विरत नही होते। पूरी तरह हार जाने पर वे स्कन्द का आदेश, अपनी विवशता के कारण, मान लेते है। मातृगुप्त की प्रणयिनी मालिनी का चरित्र कुछ विजया से मिलता-जुलता है, किन्तु एक तो कथा में उसकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नही है और दूसरे उसमे विजया के समान तेजस्विता और महत्व-प्रियता का अभाव है। उसमे चारित्रिक छिछला-पन है और नाटककार ने उसे पछताने के लिए ही छोड दिया है। वस्तुत वह एक अतिरिक्त पात्र है, जिसकी उपयोगिता केवल मातृगुप्त के वैशिष्ट्य को उभारने मे मानी जा सकती है।

'स्कन्दगुप्त' प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। सक्रियता, कथा-विन्यास, द्वन्द्व, चरित्र-वैचित्र्य आदि को कसौटी पर यह अपना वैशिष्ट्य प्रस्तुत करता है। रंगमच की दृष्टि से भी यह प्रसाद की सर्वोत्तम नाट्यकृति है। नाटकोचित सक्रियता जितनी इसमें है, किसी नही। सभी अंक संघर्ष का कोई न कोई सक्रिय रूप प्रस्तुत करते है। प्रतिपक्ष के अन्त तक प्रयत्नशील रहने के कारण कुचक्र की भयानक रोचकता खण्डित नही होने पाती। अनन्तदेवी और भटार्क की दुरभिसन्धि, कुमारगुप्त की हत्या, देवकी की हत्या का षड्यन्त्र, प्रपचबुद्धि की नरबलि-साधना, कुभा का युद्ध आदि के दृश्य बडे ही प्रभावशाली है। जैसा द्वन्द्व-प्रधान कथानक है, उसी के अनुरूप रणभूमि, मन्त्रणा-गृह, श्मशान, बाढ,

समाधि आदि दृश्यो का सयोजन किया गया है। पूरा कथानक चुस्त-दुरुस्त है और क्षिप्रता-पूर्वक—एक समाहित प्रभाव लिए हुए—आगे बढता रहता है। अभिनीत सारी कथावस्तु प्रसगबद्ध है—अधिक छानबीन करने पर अधिकतम तीन दृश्य अतिरिक्त कहे जा सकेंगे —प्रथम अक का तीसरा तथा चौथे अंक के तीसरे, चौथे दृश्य। पहले मे मातृगुप्त अपनी भावुक कल्पना से अतिरजित प्रणय-सकेत देता है, दूसरे में उसके अपनी प्रिया मालिनी से पुनर्मिलन तथा विच्छेद की कथा है और तीसरे मे धातुसेन व प्रख्यातकीर्ति को बौद्ध-ब्राह्मण-सघर्ष की सूचना मिलती है। यो, तीनों दृश्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि प्रथम दो स्कन्द व साम्राज्य से सम्बन्धित सूचनाएँ देते है और तीसरा व्यापक उद्देश्य-राष्ट्र-गौरव-के सस्थापन मे सहायक है। फिर भी, मंचन की दृष्टि से इन्हें हटाया जा सकता है और यह सूचना अन्यत्र भी दिलाई जा सकती है। पाठ्य नाटक के परिप्रेक्ष्य मे इन्हें होना चाहिए क्योकि इनसे क्रमश. काव्यगत, चारित्रिक एवं लक्ष्यगत प्रभावो की सम्पुष्टि होती है।

गीतो के सम्बन्ध मे भी यही बात है। गीत इसमे अनेक है, किन्तु वे यथावसर तथा उपयुक्त पात्र के माध्यम से प्रस्तुत किये जाने के कारण अप्रासंगिक नही लगते। नर्तकियो तथा देवसेना के गीत ऐसे ही है। देवसेना को सगीतप्रिय पात्र के रूप में प्रस्तुत ही इसलिए किया गया है कि कुछ श्रेष्ठ गीतो का समावेश किया जा सके। कम से कम अन्तिम गीत 'आह, वेदना, मिली विदाई' को लेकर इस विषय में आपत्ति नही की जा सकती। प्रथम अक के तृतीय और अन्तिम अंक के दूसरे तथा पाँचवें दृश्यों की लम्बी कविताएँ अवश्य अनाटकीय है—उन्हे हटा देने से नाटकीय प्रभाव में कोई कमी नही आती। यो, वे नितान्त असम्बद्ध भी नही है। विजया का गीत चरित्र- व्यंजक है और वीरो का समूह-गान भारत के सास्कृतिक गौरव का सस्थापक है। प्रथम अंक में मातृगुप्त का गीत केवल उसके भावुक कल्पनाशील कवित्व और प्रेम का परिचायक है और उसे अतिरिक्त ही माना जायेगा। साहित्यिक दृष्टि से निश्चय ही वे महत्वपूर्ण है। वैसे, इस नाटक के सभी गीतो का स्वर साहित्यिक और सौष्ठवपूर्ण है—नर्तकियो का गीत भी।

पात्रो में केवल मालिनी अतिरिक्त कही जा सकती है। शेष सभी नाटक की अपेक्षा के अनुरूप है—मुद्गल भी, जो केवल स्थूल विनोद की ही सृष्टि नही करता, आवश्यक सूचनाएँ भी देता है और नायक-पक्ष के साथ सक्रिय सहयोग भी करता है। सवाद कुछ स्थलो को छोड कर सर्वत्र छोटे-छोटे और त्वरापूर्ण हैं। कुछ पात्रों के व्यक्तित्व मे भावुकता, दार्शनिकता और कवित्व का विनियोग होने के कारण उनके कथोप-कथन अनावश्यक रूप से लम्बे और अतिरंजित हो गये है। मातृगुप्त का कवित्व-प्रदर्शन ऐसा ही है। स्कन्द और देवसेना के साथ विचारशीलता और भावुक आदर्शवाद जुडे हुए है, अतएव उन्हे पूरी बात कहनी पड़ती है। धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति दार्शनिक-कोटि के चरित्र है, अतः भाषण उनकी कमजोरी या नियति है। अभिनय के विचार से मातृगुप्त

के आरंभिक कई सवाद हटाए जा सकते है तथा शेष को सक्षिप्त किया जा सकता है। प्रतिपक्ष की संवाद-योजना विशेष नाटकोचित है, क्योंकि वे सभी व्यावहारिक स्वार्थ-साधक हैं और अपने विषय मे कम से कम कहना चाहते है। भाषा सर्वत्र प्रासादिक अर्थात् तत्समनिष्ठ है। उसे बदलना सम्भव नही। वस्तुत प्रसाद के नाटको के मचन के लिए मंच और दर्शक की स्तरीयता चाहिए। उनके नाटक साहित्यिक और पाठ्य हैं। तदनुरूप वातावरण होने पर उन्हें यथावत् अभिनीत भी किया जा सकता है।

'स्कन्दगुप्त' में तत्कालीन समस्याओ के प्रस्तुतीकरण और उनके निराकरण के माध्यम से सामयिक सन्देश देने का वैशिष्ट्य है। चौथी-पाँचवी शताब्दी के भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओ को इसमे व्यापक रूप से चित्रित किया गया है और उनका सामूहिक समाधान एक नैतिक ध्येयवाद की प्रतिष्ठा करता है। प्रसाद सास्कृतिक राष्ट्रवाद की एक पूरी तस्वीर सामने रखकर देश को एकता की प्रेरणा देना चाहते थे। उन्हे अपने इस मन्तव्य मे पूरी सफलता मिली है। स्कन्द के चरित्र की दुहरी और यथार्थ नाटकीयता भी इस नाटक का एक उल्लेखनीय गुण है। उसका दिशा-परिवर्तन, उसकी कर्म-प्रवृत्ति और अन्तत. कर्म-संन्यास—सब कुछ मच पर ही होता है। इसे एक प्रयोग कहा जा सकता है, जो यथार्थपरक है। जिस रूप मे वह विरागशील रहता है, उसी रूप में वह युद्धरत भी हो जाता है और अन्त मे पुनः उसी वेष-भूषा मे संघर्ष से अलग भी हो जाता है। इन अलग-अलग भूमिकाओ के लिए उसे बार-बार 'मेक-अप' नही करना पडता। समापन की मानवीय करुणा इस नाटक की अन्तिम और चरम विशेषता कही जा सकती है। त्रासदी को दु.खानुभूति के माध्यम से मन का उदात्तीकरण करना चाहिए और यह नाटक पूर्णत त्रासदी न होकर भी इस लक्ष्य की आत्यन्तिक पूर्ति करता है।

एक घूँट : थीसिस प्ले

'एक घूंट' प्रसाद की लघु नाट्यकृति है। इसका प्रकाशन १९३० मे हुआ। अपने कथ्य और शिल्प मे यह उनके अन्य नाटकों से अलग और अद्भुत है। इसकी शैली अन्यापदेश (एलेगरी) जैसी है, यद्यपि इसे अन्यापदेशी नाट्यवर्ग मे एकान्त रूप से नही रखा जा सकता। इसके अधिकतर पात्रों के नाम वर्ग अथवा वृत्ति के व्यजक अवश्य है, किन्तु यह व्यंजना इतनी पुष्ट, निश्चित और सर्वोपरि नही कि उसे प्रतीक की कोटि में रखा जा सके। बडे हल्के ढंग से प्रसाद ने चरित्रो का नामकरण उनकी प्रकृति के अनुरूप कर दिया है—प्रतीकत्व के गाम्भीर्य में यहाँ उनकी दिलचस्पी न थी। वस्तुत वे आदर्शवादी सैद्धान्तिकता को व्यावहारिक धरातल पर उतारना चाहते थे, जिसके लिए नामकरण की यह विशेषता एक कलात्मक आकाक्षा थी। यो भी, उनकी कृतियो में सामान्यत. पात्रो के नाम उनकी प्रकृति की व्यजना करने वाले होते ही है। अत इस साधारण व्यंजकता के आधार पर 'एक घूंट' को अन्यापदेश या रूपक के वर्ग में नही रखना होगा। इसके पात्रों का व्यक्तित्व ठोस है और वे प्रतीक न होकर व्यक्ति है।

'कामना' से इसका यही विभेद है कि जहाँ उसमें आद्योपान्त नामकरण और चरित्र निर्वाह में रूपकत्व की सावधानी बरती गयी है, वहाँ इसमें वैसा कुछ भी न करके कतिपय पात्रो की बहस के माध्यम से आदर्श को, उसकी कमी बताकर, व्यावहारिकता की दिशा में अग्रसर करा दिया गया है। न इसमे आरोहावरोहमयी कथा है, न घटनाओ का घातप्रतिघात और न ही चरित्रो की कर्मालोकित वैविध्यमयी विशिष्टताएँ। द्वन्द्व यदि है भी, तो वैचारिक स्तर का और वह भी ऐसा कि वास्तविकता का एक झटका उसे पात्र की अज्ञानता या अनुभवहीनता सिद्ध कर देता है। इसे द्वन्द्वाभास ही कह सकते है, द्वन्द्व नही। जाहिर है कि नाटकीय क्रिया-व्यापार के लिए द्वन्द्व—ठोस सघर्ष-की भूमि चाहिए, मात्र बौद्धिक भ्रान्ति से उसकी सक्रियता का ताना-बाना नही बुना जा सकता। यह तथ्य 'स्कन्दगुप्त' के रचनाकार से अधिक कौन समझेगा।

प्रसाद वस्तुत. इस कृति में जीवन की द्वन्द्वात्मक सक्रियता के स्थान पर वैचारिक द्वन्द्व या बहस प्रस्तुत करना चाहते थे और वह भी विनोदमयी हल्की-फुल्की शैली मे। अपने उद्देश्य मे वे निश्चय ही सफल है। मेरे विचार से इसे नाटक के स्थान पर नाटकीय निबन्ध अथवा निबन्धात्मक एकाकी कहना अधिक उपयुक्त होगा। खण्डन-मण्डन की चुस्ती और व्यवस्थित विकासमयी वैचारिकता इसमे आद्योपान्त मिलेगी। सवाद और अभिनय की विधा मे प्रसाद की निबन्धकला ने 'एक घूंट' के रूप में एक रोचक सर्जना की है, इसमें सन्देह नही।

'एक घूंट' का कथावस्तु बहुत क्षीण है। वह एक प्रसंग मात्र है। अरुणाचल पहाडी के समीप एक हरे-भरे वन मे कुछ उत्साही लोगो ने सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की आदर्शत्रयी को चरितार्थ करने के लिए एक आश्रम बना लिया है। कुज इस आश्रम का मन्त्री हैं। रसाल कवि है और बनलता उसकी पत्नी। मुकुल उत्साही तर्कशील युवक है। प्रेमलता उसकी दूर के रिश्ते की बहन है। झाड़ूवाला एक शिक्षित, किन्तु साधारण स्थिति का व्यक्ति है जो अपनी स्त्री की प्रेरणा से यहाँ आकर रहने लगा है। चँदुला एक विज्ञापन-विदूषक है। इन सबके बीच घुमक्कड और सुन्दर युवक आनन्द स्वतत्र प्रेम का आदर्श लेकर अतिथि रूप मे आया हुआ है और मुकुल के यहाँ ठहरा है।

आनन्द विश्व की कामना का मूल रहस्य आनन्द मानता है और वह उन दार्शनिकों से मतभेद रखता है जो ससार को दु.खमय मानते है। उसके मतानुसार दु.ख, अभाव आदि काल्पनिक है, मिथ्या है और स्वच्छन्द प्रेम की परिधि को संकुचित बना लेने के अनिवार्य परिणाम है। वह उन्मुक्त, स्वच्छन्द प्रेम का समर्थन करता है। रसाल आनन्द का परिचय देते हुए कहता है आश्रम की आदर्शत्रयी-स्वास्थ्य, सरलता और सौन्दर्य में आनन्द के सन्देश प्रेम को भी मिला देने से विश्व के लिए आनन्द का उत्स खुल जायेगा। आनन्द और प्रेमलता एक दूसरे के प्रति आकर्षण का अनुभव करते है। मुक्त प्रेम का समर्थक आनन्द बनलता को दुखी देखकर उसके आगे भी प्रेम का प्रस्ताव रखता है जिसे वह कठोरतापूर्वक ठुकरा देती है।

वनलता आनन्द के बौद्धिक आदर्शों को व्यावहारिकता की दिशा देने के लिए उसे प्रेमलता से जोड देती है और नाटक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार इस नाटक मे विचार की ही प्रधानता है, कथातत्व गौण है। इसे ऐसी नाटकीय विचार-गोष्ठी कह सकते है जिसका समापन व्यावहारिकता में हुआ है। बीच मे आनेवाला चँदुले का विनोदपूर्ण प्रसग भी अपने ढग से वैचारिक उत्तेजना देता है। समग्रत. इसे 'थीसिस प्ले' की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें किसी विचार की पुष्टि का उद्देश्य सामने रखकर तदनुरूप नाट्य-तत्वो की योजना की जाती है।

'एक घूंट' के पात्रो का चरित्र-निर्माण घटनात्मक तथा आरोहावरोहपूर्ण न होकर स्थिर तथा परिणतिपरक है। आनन्द, रसाल तथा झाड़ूवाले की स्त्री परिणतिपरक चरित्र है और वनलता, प्रेमलता, चँदुला तथा झाड़ूवाला स्थिर चरित्र। कुज और मुकुल कभी आनन्द का समर्थन करते हैं, कभी वनलता का—उनकी अपनी कोई निश्चित दिशा अथवा मान्यता नही। आनन्द आश्रम मे उन्मुक्त प्रेम का सन्देश लेकर आया है। विवाह की वह कोई उपयोगिता नही समझता, क्योकि उसके विचार से यह प्रेम को संकुचित सीमित कर देने वाली सस्था है। इसी प्रकार दृढ निश्चय या संकल्प से भी वह घबराता है, क्योकि यह जीवन को व्यावहारिकता की नियत दिशा में ले जानेवाला है। वह गंभीर विचारक तो है, किन्तु अनुभव की दृष्टि से कोरा है। वनलता का चरित्र उसे पुनर्विचार

के लिए बाध्य करता है और इसी मन. स्थिति मे वह प्रेमलता के साथ जोड दिया जाता है। घूंट-घूंट सर्वत्र पीने और असम्पृक्त भाव से चल देने की अपेक्षा अपने चिरपरिचित को खोजकर उसके हाथ से एक घूंट पीना अधिक तृप्तिकर है—यह अनुभव उसे अन्त मे मिलता है और यही इस कृति का कथ्यादर्श भी है।

रसाल अपरिपक्व विचारो का भावुक कवि है। झाड़ूवाले की पत्नी में चमक दमक एवं सामाजिक आशसा की प्रवृत्ति है और उसे अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष है। अपने पति की विचारशीलता से प्रभावित होकर वह उसकी अनुगामिनी बन जाती है। चँदुले की पत्नी भी इसी वर्ग की है, किन्तु उसमे कोई परिवर्तन घटित नही होता। मच पर वह आती भी नही। चँदुला पारिवारिक किस्म का हँसोड व्यक्ति है और काफी व्यावहारिक व समझदार है। विज्ञापनबाजी का अपना दायित्व वह भली प्रकार निभाता है। कुज और मुकुल उत्साहपूर्वक बहस मे भाग लेने के अतिरिक्त कोई अन्य उल्लेखनीय काम नही करते। वनलता और प्रेमलता जीवन की व्यावहारिकता की प्रतिनिधि है, वनलता विशेषकर क्योकि वह विवाहिता है। अपनी चारित्रिक दृढता से वह आनन्द और अपने पति रसाल को व्यावहारिकता के सही मार्ग पर लाने मे सफल होती है। प्रेमलता भावनामयी कुमारी है। आनन्द की बातो से वह चमत्कृत हो उठती है। किन्तु उसका बन्धनमुक्तता और दायित्वहीनता का आदर्श उसकी समझ मे नही आता। वह द्विधाग्रस्त होती है और तर्क भी करती है, किन्तु आनन्द की बातो से उसका समाधान नही होता, यद्यपि उसके व्यक्तित्व के प्रति वह आकर्षित रहती ही है। वनलता की प्रेरणा से आनन्द उसके मनोनुरूप ढल जाता है और उसका अभीष्ट पूरा हो जाता है। झाड़ूवाला इस नाटक का सर्वाधिक तेजतर्रार और अनुभवी व्यक्ति है। अपनी पत्नी की प्रेरणा से वह अपना अभावग्रस्त एवं तिरस्कृत सामाजिक जीवन छोडकर आश्रम मे रहने आया है। उसे आश्रम का यह आदर्श सुन्दर लगता है कि कोई भी कर्म लज्जाजनक नही, अतः वह शिक्षित होकर भी झाड़ू देने का काम सहर्ष करने लगता है। किन्तु शीघ्र ही आश्रम के आदर्शों का खोखलापन उसके समक्ष प्रकट हो जाता है। स्वास्थ्य, सरलता एव सौन्दर्य के नाम पर चलायी जाने वाली व्ययसाध्य जीवन पद्धति उसे विक्षोभ और तिक्तता से भर देती है। अपनी पत्नी की फरमाइशें पूरी करने मे वह जिस प्रकार पहले असमर्थ रहा होगा, वैसा ही इस आश्रम में भी है। अतः वह अतिथि आनन्द और आश्रम के संचालक-वर्ग के आदर्शों का मिथ्यात्व प्रकट करता हुआ उनकी उपेक्षा करता है। वनलता उसकी बातो से प्रभावित होती है और उसकी पत्नी भी। वह इस नाटक की चारित्रिक परिणतियो की धुरी है। वह न आता तो शायद बहस कभी समाप्त न होती और न कोई निष्कर्ष ही निकलता।

चरित्र-निरूपण की दृष्टि से और कुछ भी उल्लेखनीय नही। पात्रो के नाम अवश्य प्रवृत्तिव्यंजक हैं। आनन्द आनन्दवादी है। रसाल रसजीवी भावुक कवि है।

मुकुल खिलते फूल जैसा उत्साही है। कुज मत्री या व्यवस्थापक है, क्योंकि आनन्दचर्या बहुधा निकुंजों से सम्बद्ध रही है। लताएँ आकर्षणमयी और बाँधने वाली होती ही हैं, फिर वन की लता। उसका उद्दाम आवेग एक बार आनन्द को भी झकझोर देता है, किन्तु वह अपनी ही दिशा मे प्रसरित होती रहती है। आनन्द के लिए तो सीधीसादी प्रेम की लता ही उपयुक्त सगिनी है। चँदुला अपनी गंजी खोपडी के अनुरूप ही बौद्धिकता से कटा रहता है। झाड़ूवाला सबके मन-मस्तिष्क की सफाई करके अपनी संज्ञा सार्थक करता है। यह वृत्ति-व्यंजक अभिधान-पद्धति रूपकवर्गीय होने पर भी शुद्ध रूपकात्मक नही। बहुधा 'कामना' नाटिका और 'एक घूंट' को व्यजक नामकरण के आधार पर समवर्गीय—रूपकात्मक या आन्यापदेशिक-कह दिया जाता है किन्तु यह अधिक सगत नही प्रतीत होता। 'कामना' मे पात्रों के नाम एक ही पद्धति पर रखे गये है और वे सभी मानवीय वृत्तियो के प्रतीक हैं। 'एक घूंट' में यह एकतानता नही है। कुछ नाम प्रकृति-क्षेत्र से सम्बद्ध है और कुछ गुण या कर्म से। फिर, समूची स्थिति भी व्यजक नही है। अधिकतर यह उत्साही युवक-युवतियो की जीवन्त विचार-गोष्ठी ही प्रतीत होती है। कभी-कभी पात्र अवश्य प्रतिनिधि जैसे लगते है, किन्तु यह प्रभाव भी क्षणिक ही रहता है। दूसरे शब्दो मे, इसके पात्र खासे व्यक्तित्व-सम्पन्न है और वे अपनी प्रकृति के अनुरूप बहस या काम करते हैं—उन्हे प्रतीकात्मक या रूपकात्मक कहना एक अनावश्यक भ्रम उत्पन्न करना है।

रसदृष्टि से इसमे शृ गार की प्रधानता है। प्रेमलता आश्रय है, आनन्द आलम्बन। यो, आनन्द भी उसके प्रति एक आकर्षण का अनुभव करता रहा है, किन्तु उसे वह स्वय सही रूप मे समझ नही सका है। यह समझ उसे अन्त में आती है। तब प्रेम सम हो उठता है। पहले की बहस मे आन्तरिक लगाव का सस्पर्श भी कुछ कम मधुर नही। आनन्द की वाग्दीप्ति प्रेमलता के सौन्दर्य से स्फूर्ति पाती रही है और प्रेमलता भी उससे कई बातो मे मतभेद रखने के बावजूद उसके व्यक्तित्व से सम्मोहित रहती है। यह सम्पूर्ण प्रकरण पूर्वराग जैसा है। विदग्ध-शृंगार वनलता को आश्रय बनाकर प्रकट हुआ है। उसका उद्वेग विप्रलंभ के अन्तर्गत रखा जायेगा, यद्यपि अपने प्रेमालम्बन से उसका दैहिक या स्थानिक वियोग नही हुआ है। चाहे, तो इसे मानसी विप्रलंभ कह सकते हैं। उसका वैकल्य हृदय मथ देने वाला है—'आकर्षण किसी को बाहुपाश मे जकडने के लिए प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती ?' उसमें इतना उद्दाम आवेग है कि एक बार आनन्द भी दिग्भ्रान्त हो उठता है। अन्तत. उसका भी प्रेम प्रसंग समता की सुखानुभूति में पर्यवसित हो जाता है।

आनन्द का उसके प्रति प्रेम निवेदन रसाभास कहा जा सकता है, यद्यपि नाटकीय दृष्टि से वह इसलिए महत्वपूर्ण है कि वहीं से आनन्द के उन्मुक्त प्रेम-सिद्धान्त को व्यावहारिक और निश्चित दिशा मिलने लगती है और वह अपने आदर्श की कमी अनुभव करने

लगता है। चँदुले और उसकी पत्नी का प्रसंग विनोदपूर्ण अधिक है, शृंगारिक कम। बहुत करके इसे शृंगारिक हास्य कह सकते हैं। वस्तुत. यहाँ हास्य को सचारी के रूप में होना चाहिए था, किन्तु वह कुछ अधिक ही पुष्ट हो गया है और स्थायी भाव का आभास देने लगा है। झाड़ूवाले और उसकी पत्नी का कलह गार्हस्थ्य प्रणय का एक अन्य पहलू उपस्थित करता है, जिसका समापन अन्य प्रसगो की भाँति समत्व मे हुआ है। वस्तुत इस नाटक मे प्रसाद ने तीन गार्हस्थ्य प्रसंगो के द्वारा रतिभाव की व्यावहारिक अपूर्णताओ का हवाला दिया है और उनका समाधान भी किया है। इसी प्रकार उन्होने उन्मुक्त प्रेम को भी समत्वमयी व्यावहारिक दिशा दी है।

दाम्पत्य रतिभाव के प्रकरणो की भूमिका दुहरी है। वे अपने आप मे एक पूर्ण स्थिति भी प्रस्तुत करते है और आनन्द के सन्दर्भ मे उद्दीपन और दिशा-निर्देश का भी काम करते है। इस प्रकार समग्रत इसमे शृंगार रस की व्याप्ति है। व्यग्य-विद्रूप और विनोद के स्थल इसे रोचक बनाने मे सहयोग देते है, उनकी अलग रसवत्ता नही। आनन्द की बौद्धिकता शृंगार की सिद्धि मे कुछ व्याघात अवश्य उत्पन्न करती है, किन्तु उसकी क्षतिपूर्ति उसके समानान्तर चलने वाली वनलता और प्रेमलता की हार्दिकता से हो जाती है। विजय अन्त मे भावना की ही होती है और आनन्द की सारी बौद्धिकता अपनी वाग्दीप्ति के बावजूद खोखली साबित हो जाती है। इस दृष्टि से आनन्द 'कामना' के विलास और 'कामायनी' की इडा का समवर्गीय ठहरता है। हार्दिक रागात्मकता और सद्भाव की विजय जिस प्रकार 'कामना' और कामायनी' मे होती है, उसी प्रकार 'एक घूंट' में भी। एक प्रकार से 'कामना' और 'एक घूंट' 'कामायनी' के पूर्वाभास या पूर्वाभ्यास कहे जा सकते हैं और जिस प्रकार उसमे रतिभाव का प्रामुख्य है उसी प्रकार इनमे भी। बुद्धि पर हृदय की विजय का जो आदर्श 'कामायनी' मे पौराणिक इतिहास के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, वही 'कामना' मे काल्पनिक कथा के सहारे व्यक्त हुआ था और उसी को 'एक घूंट' मे व्यावहारिक प्रकरणो द्वारा अभिव्यक्ति मिली है। इस सम्पूर्ण गवेषणा और विश्लेषण का केन्द्र जीवनव्यापी रतिभाव ही है, जिसके प्रसाद वास्तविक पारखी हैं।

नाट्य अथवा अभिनय की दृष्टि से कुछ विशेष उल्लेखनीय नही। मचसज्जा साधारण है और एक ही दृश्य आदि से अन्त तक किंचित् परिवर्तन के साथ बना रहता है। गीत प्रासगिक है और वे बौद्धिक रुक्षता कम करने मे सहायक हैं। 'जलधर की माला' शीर्षक गीत विशेष सुन्दर है। चँदुले का प्रसग भी व्यंग्यविद्रूप की शैली मे बौद्धिकता के प्रभाव-विघटन मे सहयोग देता है और रोचक नाटकीयता की सृष्टि करता है। क्रियाशीलता का इसमें एकान्त अभाव है, क्योंकि इसका रूप ही विचारगोष्ठी जैसा है। नाट्य-सन्धियों तथा अर्थप्रकृतियों के विधान की यहाँ गुंजायश नही। हाँ, कार्यावस्थाएँ अवश्य देखी जा सकती हैं। आरम्भिक वार्तालाप में प्रेमलता का आनन्द के व्यक्तित्व पर

मुग्ध होना 'प्रारम्भ' है। वनलता और कुज का दोनो के विषय में विश्लेषण 'प्रयत्न' कहा जा सकता है, जिसमें चदुले और झाड़ू वाले के प्रसग भी शामिल हो जाते है। प्राप्त्याशा' और 'नियताप्ति' अन्त में बडी त्वरा से प्राय' एक साथ आते है और उसी के बाद 'फलागम'। वस्तुत कथातन्तु की क्षीणता के कारण वस्तु-विन्यास के कौशल के लिए यहाँ अवकाश ही नही रहा। इसमे विचार या जीवनदर्शन की ही प्रमुखता है और उसी के विन्यास में नाट्य-गुण खोजना समीचीन होगा।

चन्द्रगुप्त : एक महायामी प्रौढ़ कृति

'चन्द्रगुप्त' प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको मे कई दृष्टियो से शीर्षस्थ माना जाता है। है भी यह लेखक के श्रेष्ठतम सर्जनकाल की कृति। इसका प्रकाशन १९३१ मे हुआ। सभी विधाओ मे प्रसाद का कृतित्व उनके सर्जन-युग के उत्तराश में सर्वोत्तम बन पडा है। नाट्य-कृतियों मे यदि 'स्कन्दगुप्त' द्वन्द्व और समाहार के विचार से सर्वोत्तम है, तो चन्द्रगुप्त अपनी अखण्ड प्रभावान्विति में अद्वितीय है। कथानक, चरित्र, रस, उद्देश्य अथवा फल—सभी के विन्यास और सयोजन में जैसी एकतानता इस नाटक में है, अन्यत्र नही मिलेगी। ऐतिहासिक काल-खण्डो के बीच इस महादेश की सास्कृतिक गरिमा को उभारने का जो प्रयास प्रसाद सर्वत्र करते रहे है, उसे यहाँ सर्वतोमुखी सफलता मिली है।

भारतीय इतिहास का यह समय एक ज्वलन्त गौरव-युग था भी। नाटक के आरभ मे उन्होने इसके तथ्यपरक विवरण भी दिये है। चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था अत्युत्तम थी, प्रजा सुखी और समृद्ध थी। उसकी सेना जितनी विशाल थी, उतनी ही व्यवस्थित और उतनी ही रणकुशल। प्रजा राजभक्त थी और उसकी जीवन-पद्धति सरल किन्तु सास्कृतिक थी। चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त का शासनकाल भारत का स्वर्णयुग था। स्वय सम्राट् चन्द्रगुप्त दृढ शासक, विनीत, व्यवहारचतुर, मेधावी, उदार, नैतिक, सर्वगुणसम्पन्न तथा भारतभूमि के सपूतो मे से एक रत्न था। इस विक्रान्त और यशस्वी इतिहास-पुरुष के व्यक्तित्व के प्रति प्रसाद में आरम्भ से ही आदरपूर्ण आकर्षण था। इतिहास और साहित्य की गहरी छानबीन के बाद उन्होने इसके विषय के जो तथ्यात्मक और तत्वात्मक विवरण दिये हैं, वे अत्यधिक महत्वपूर्ण है और कदाचित् चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में हिन्दी में यह पहली विशद ऐतिहासिक विवेचना है। यह विवेचना १९०९ में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' के नाम से प्रकाशित हुई थी। इस नाटक के छपने पर उसे ही इसकी भूमिका के रूप मे जोड दिया गया है। १९१२ में इसी वस्तु-विषय का एक लघुरूपक 'कल्याणी-परिणय' के रूप मे नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत नाटक मे वह लघुरूपक यथाप्रसग परिवर्तित और परिवर्धित होकर सम्मिलित हो गया है। प्रकर्ष-युग की रचना होने के कारण इसमें अस्वाभाविक लगने वाली वे नाट्य-रूढ़ियाँ स्वत. समाप्त हो गयी है, जो लघुरूपक में थी—जैसे नादीपाठ, भरतवाक्य, पद्य-संवाद आदि। दूसरी ओर कथा-सूत्रों, प्रमुख चरित्रो तथा भाषा मे उक्त रूपक की आधारभूमि स्पष्ट देखी जा सकती है। यों, दोनो मे तुलना की कोई बात नही उठती, क्योंकि अपने आकार-प्रकार मे प्रस्तुत नाटक बहुत बडा है और अपनी समग्रता में यह डी० एल० राय के 'चन्द्रगुप्त' से कही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, जो इसके लेखन से कई वर्ष पूर्व—१९१७ में ही हिन्दी मे अनूदित हो चुका था।

प्राचीन भारतीय इतिहास के मौलिक अन्वेषक प्रसाद ने अर्थकथा, स्थविरावली, कथासरित्सागर और ढुण्ढि के आधार पर चन्द्रगुप्त-विषयक विवरण दिये है। उनकी स्थापना के अनुसार शैशुनाक-वंशी महानन्द के संकर-पुत्र महापद्म के पुत्र घननन्द से मगध का सिंहासन लेने वाला चन्द्रगुप्त मोरियो के नगर का राजकुमार था। 'मौर्य' शब्द को 'मुरा' नाम की शूद्रा के साथ जोडना भ्रान्त बताते हुए वे कहते है कि 'मुरा से मौर और मौरेय बन सकता है, न कि मौर्य।' 'मोरिय' को भी वे इसका मूल नही मानते, क्योकि पतंजलि ने स्पष्ट 'मौर्य्य' शब्द का उल्लेख किया है। वे अर्थकथा की इस व्याख्या को मान्यता देते है कि 'शाक्य लोगो मे आपस में बुद्ध के जीवनकाल में ही एक झगडा हुआ और कुछ लोग हिमवान् के पिप्पली-कानन प्रदेश में अपना नगर बसाकर रहने लगे। उस नगर के सुन्दर घरो पर क्रौंच और मोर पक्षी के चित्र अंकित थे, इसलिए वहाँ के शाक्य लोग मोरिय कहलाये। कुछ सिक्के बिहार मे ऐसे भी मिले है, जिन पर मयूर का चिह्न अंकित है।' इस प्रकार वे 'मौर्य' शब्द को मोर-पक्षी के उपलक्षण से सम्बद्ध करते हुए इस वंश के प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानते है। 'वृषल' विशेषण भी, उनके मतानुसार, चन्द्रगुप्त के क्षत्रियत्व का ही सूचक है। 'जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओ से उदासीन हो जाते थे, उन्हे धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व प्राप्त होता था।' चन्द्रगुप्त के नीच-जन्मा होने का प्रवाद ग्रीक इतिहास-लेखको के भ्रम के कारण चल पडा है। चन्द्रगुप्त को महानन्द का पुत्र मानना भी वे असगत बताते है, क्योकि महानन्द के बाद सौ वर्षों तक महापद्म और उसके पुत्रों ने राज्य किया था और चन्द्रगुप्त ने अन्तिम सम्राट् के बाद चौबीस वर्ष तक शासन किया था।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य-कुल का क्षत्रिय था, जिसका सबसे प्राचीन स्थान पिप्पलीकानन था। चन्द्रगुप्त के आदिपुरुष मौर्य इसी स्थान के अधिपति थे और यह राज-वंश गौतमबुद्ध के समय मे प्रतिष्ठित गिना जाता था। नन्दो के क्षत्रिय-नाशकारी शासन मे मौर्यों की शक्ति क्षीण हो गयी थी और वे उनकी सेना मे उच्च पदों पर काम करने लगे थे। ऐसे ही एक मौर्य-सेनापति का पुत्र चन्द्रगुप्त था—जो अपने पिता के राजकोप में पडे होने के कारण नन्दो की राजसभा मे रहता हुआ उनसे घृणा करता था और उसे राजक्रोध के कारण पाटलीपुत्र छोडना पड़ा था। घननन्द से अपमानित चाणक्य ने उसे बाल्यावस्था में देखकर उसके विषय मे भविष्यवाणी की थी और उसकी माँ से कहकर उसे राजसभा मे भिजवाया था, जहाँ उसने अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया था। ई० पू० ३२७-२८ में उसने मगध छोडा और शत्रुओं से बदला लेने के उद्योग में अनेक कष्ट मार्ग में झेलते-झेलते तक्षशिला पहुँचा था। यही ई० पू० ३२६ मे चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला था और अपनी असहनशीलता के कारण उसने सिकन्दर को असन्तुष्ट कर दिया था। इस बीच उसने ग्रीक-सेना की रणनीति का अध्ययन कर लिया था। उसने पार्वत्य जातियों को सिकन्दर से लड़ने के लिए उत्तेजित किया था और उन्हे ग्रीक रण-शिक्षा

दी थी। सिकन्दर क्रमश. वितस्ता, चन्द्रभागा और इरावती के प्रदेशों को विजय करता हुआ विपाशा-तट तक आया था, किन्तु मगध साम्राज्य का प्रचण्ड प्रताप सुनकर वह ३२५ ई० पू० में फिलिप को क्षत्रप बनाकर काबुल की ओर चला गया था।

सिकन्दर के चले जाने पर फिलिप ने षड्यंत्र करके पोरस को मरवा डाला। चन्द्रगुप्त ने पार्वत्य लोगों की एक सुशिक्षित सेना तब तक तैयार कर ली थी, जिसकी परीक्षा प्रथमत' ग्रीक सैनिको ने ली। इसी गडबड में फिलिप मारा गया और उस प्रदेश के लोग पूर्णरूप से स्वतत्र बन गये। पंजाब की यह अराजकता चन्द्रगुप्त के पक्ष में थी और उसने इसके राज्यो को स्वतंत्र बनाते हुए ३२१ ई० पू० मे मगध की राजधानी पाटलीपुत्र पर घेरा डाल दिया। उसने प्राय' पन्द्रह दिनो में विजय प्राप्त कर ली और मगध के सिंहासन पर आरूढ हुआ। सिल्यूकस से उसकी मुठभेड (३०६ ई० पू०) सिन्धु-तट पर हुई। चन्द्रगुप्त के नायकत्व मे विशाल मौर्यवाहिनी ने सिल्यूकस को गहरी पराजय दी। इसी समय ग्रीक जनरलो में खलबली मचने के कारण सिल्यूकस को शीघ्र लौटने की चिन्ता हो गयी थी, अतएव उसने चन्द्रगुप्त से सन्धि (३०५ ई० पू०) कर ली। सन्धि के अनुसार चन्द्रगुप्त भारतीय प्रदेशो का स्वामी हुआ। उसे अफगानिस्तान और मकराना भी मिले। नीतिचतुर सिल्यूकस ने उससे अपनी सुन्दरी कन्या का पाणिग्रहण करा दिया था जिस पर सन्तुष्ट होकर वीर चन्द्रगुप्त ने पाँच सौ हाथियो की एक सेना सिल्यूकस को दी थी। इस प्रकार अध्यवसाय का अवतार चन्द्रगुप्त प्रबल पराक्रान्त राजा माना जाने लगा और ग्रीस, मिस्र, सीरिया इत्यादि के नरेश उसकी मित्रता से अपना गौरव समझते थे।

चन्द्रगुप्त वैदिक धर्मावलम्बी था। वह प्रबल प्रतापी सम्राट् था। वह सदैव साव-धान रहता था और षड्यंत्रो से सुरक्षा के लिए एक स्थान पर सदा नही रहता था। मौर्य राजधानी पाटलीपुत्र उस समय अत्यधिक उन्नत अवस्था में थी। चन्द्रगुप्त ने चौबीस वर्ष तक भारत भूमि का शासन किया। उसका शासनकाल भारत का स्वर्णयुग था। चाणक्य उसके प्रधान सहायक मंत्री थे और वही उसकी उन्नति के मूल है। बौद्धों के विवरण के अनुसार चाणक्य तक्षशिला-निवासी थे। वे मगध के ब्राह्मण थे। मगध में नन्द की सभा में वे अपमानित हुए थे। उनकी जन्मभूमि पाटलीपुत्र ही थी। वे वेदधर्माव-लम्बी, कूटराजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान और हठी थे। उनकी नीति अनोखी होती थी और उनमें अलौकिक क्षमता थी। चाणक्यनीति, अर्थशास्त्र, कामसूत्र और न्यायभाष्य उनके ग्रन्थ हैं। यह मनुष्य बडा प्रतिभाशाली था जिसके बुद्धिबल द्वारा, प्रशंसित राज-कार्य-क्रम से चन्द्रगुप्त ने भारत का साम्राज्य स्थापित करके उस पर राज्य किया।

चन्द्रगुप्त-विषयक प्रसाद की यह ऐतिहासिक गवेषणा तथ्यपरक एवं प्रमाणपुष्ट है और मैक्रिंडल, हैवेल, ह्वीलर, टी० एल० शाह, हेमचन्द्रराय चौधरी आदि विश्रुत इति-हासज्ञो के एतद्विषयक निर्णय इससे साहमत्य रखते हैं। सिकन्दर का भारत पर आक्रमण,

गाधार नरेश आभी का देश द्रोह, सिकन्दर-पुरु का युद्ध, फिलिप्स की क्षत्रप के रूप मे नियुक्ति, तक्षशिला मे महत्वाकाक्षी चन्द्रगुप्त से सिकन्दर की भेंट और उसके दर्प के कारण असन्तुष्टता, चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त का पचनद पर अधिनायकत्व, नन्द का नाश और चन्द्रगुप्त का मगध-सिहासनारोहण, सिल्यूकस का आक्रमण और पराभव, सन्धि मे सिल्यूकस द्वारा चन्द्रगुप्त को वर्तमान लासबेला, कलात, कदहार, हिरात और काबुल प्रदेश दिया जाना तथा अपनी पुत्री एथिना का उससे विवाह कर देना—सभी इतिहास-सम्मत घटनाएँ है, जिन्हे लेकर इस नाटक का कथानक रचा गया है।

विन्यास में नाटकोचित जीवन्तता, सक्रियता एव सम्बद्धता के विचार से प्रसाद ने इन घटना-चित्रो मे कल्पना के रग भी भरे है, किन्तु उसका प्रतिशत न्यूनतम हो है और जितना है—वह इतिहास को बल देता हुआ उसे साहित्यिक औचित्य देता है। कुछ उदाहरण लें। इतिहास तक्षशिला मे चन्द्रगुप्त के चाणक्य के सम्पर्क मे आने, सिकन्दर से मिलने एव ग्रीक रण-कला से भिज्ञ होने की पुष्टि करता है। प्रसाद इन तथ्यो को यथावत् रखते हुए यह अनुमान कर लेते है कि चन्द्रगुप्त तक्षशिला मे मगध-साम्राज्य की ओर से शस्त्रविद्या सीखने के लिए भेजा गया था। इसी प्रकार मालवक्षुद्रको के युद्ध मे सिकन्दर का घायल होना ऐतिहासिक सत्य है। प्रसाद ने इसके आधार पर उसे सिंहरण से सम्मुख-युद्ध में घायल दिखाकर चारित्रिक एव राष्ट्रीय गौरव के निदर्शन के लिए कथाभूमि बना ली है। ऐसे ही सिल्यूकस की पुत्री के साथ चन्द्रगुप्त के परिणय का ऐतिहासिक तथ्य लेकर नाटककार ने फिलिप्स-चन्द्रगुप्त के द्वन्द्व-युद्ध तथा इतर रजक प्रसगो की सृष्टि कर ली है। फिलिप्स की हत्या के ऐतिहासिक तथ्य को चन्द्रगुप्त के साथ जोडकर नायक की वीरोचित प्रकृति एव उसकी अनुरक्ति का सम्पोषण किया गया है। नन्द की हत्या के तथ्य को शक्टार से जोडकर प्रतिहिंसा के एक जीवन्त नाटकीय दृश्य का विनियोजन कर दिया गया है। पर्वतेश्वर की हत्या भी ऐतिहासिक सत्य है। उसे कल्याणी से जोडकर चरित्र गुण की प्रतिष्ठा की गयी है। प्रसाद ने पोरस और पर्वतेश्वर को एक मान लिया है। इतिहास भी इस विषय में बहुत स्पष्ट नही है कि ये दो नाम एक ही व्यक्ति के है अथवा दो के। नाटकार ने इस ऐतिहासिक अनिश्चय का लाभ उठाया है।

इस प्रकार प्रसाद ने इतिहास के सत्य को महत्व देते हुए कारणो और विवरणो में कल्पना का उपयोग किया है, जो नाटकीय अपेक्षा के नितान्त अनुरूप है। उनकी कल्पना योगवाही, चरित्र-विधायक एव प्रसंग-सयोजक है। साहित्य के सदर्भ मे इतिहास की यह न्यूनतम फेर बदल है। प्रसाद को इस बात का श्रेय देना चाहिए कि उनकी यह रचना जितनी साहित्य-गुण से सम्पन्न है, उतनी ही इतिहास की दृष्टि से प्रामाणिक।

यह नाटक चार अको का है। प्रसाद के अन्य नाटकों की भाँति इसका भी प्रवेशांक प्रमुख पात्रो एवं वस्तुस्थिति का उपस्थापक है। प्रथम दृश्य में तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य, सिंहरण, आम्भीक, अलका और चन्द्रगुप्त के माध्यम से समूची वस्तु-

स्थिति व्यजित कर दी गयी है और उसके प्रति उनके दृष्टिकोण भी स्पष्टत. सामने रख दिये गये है जो मूलभूत चारित्रिक विशेषताओ के प्रकाशक है। तक्षशिला का आचार्य चाणक्य छात्रो को केवल शास्त्र-शिक्षा नही देता, उनमे राष्ट्र व्यापिनी राजनीति के प्रति अभिरुचि भी उत्पन्न करता है और आवश्यक होने पर कर्म की दिशा भी निर्देशित करता है। मालवगणमुख्य का कुमार सिंहरण देश के भविष्य के प्रति जागरुक है और उसे देशघाती आम्भीक से घृणा है। उद्धत आम्भीक उस पर प्रहार करना चाहता है, किन्तु चन्द्रगुप्त से परास्त होकर लौट जाता है। चाणक्य यवनो से आर्यावर्त की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त को मगध जाकर साधन-सम्पन्न बनने का निर्देश देता है और स्वय पर्वतेश्वर नरेश पर्वतेश्वर से मिलने के लिए चल पडता है। अलका सिंहरण के प्रति आकर्षित होती है।

अगले दृश्यो की महत्वपूर्ण घटनाएँ है—मगध सम्राट् नन्द का वसन्तोत्सव मे राक्षस-प्रिया सुवासिनी की ओर आकर्षित होना और राक्षस की अभिनय-कला से प्रसन्न होकर उसे अमात्य-वर्ग मे नियुक्त करना, चाणक्य को शकटार की दुर्दशा और उसकी पुत्री सुवासिनी के अभिनेत्री बन जाने का वृत्त ज्ञात होना, सुवासिनी के प्रति आसक्त राक्षस का राजचक्र मे बौद्धमत का समर्थन करने के लिए प्रतिश्रुत होना, चन्द्रगुप्त द्वारा मगध की राजकुमारी कल्याणी की चीते से रक्षा और कल्याणी का उसके प्रति आकर्षण, पर्वतेश्वर द्वारा अस्वीकृत कल्याणी का पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए यवन-युद्ध मे उसके पराजित होने पर उसे सहायता देने का सकल्प करना, चाणक्य का नन्द की सभा में अपमान और उसका नन्द वश का विनाश करने के बाद ही शिखा बाँधने की प्रतिज्ञा करना, चाणक्य का बन्दी होना और चन्द्रगुप्त का निर्वासन, आम्भीक के निरीक्षण मे यवन-सेना को सुविधा के लिए उद्भाड मे सिन्धु पर बनने वाले सेतु के मानचित्र के प्रसग मे सिन्धु कुमारी मालविका का अलका और सिंहरण से जुडना और अलका का विद्रोह, चन्द्रगुप्त का आकस्मिक रूप से चाणक्य को बन्दीगृह से छुडाना, चाणक्य का पर्वतेश्वर को पक्ष मे लेने का प्रयत्न और पर्वतेश्वर की दभपूर्ण अस्वाकृति, दाण्ड्यायन का विजयाभिलाषी सिकन्दर को केवल सुबुद्धि का आशीर्वाद देना और सम्मुखस्थ चन्द्रगुप्त को भारत का भावी सम्राट् घोषित करना, तथा चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया के प्रति आकर्षण । इस प्रकार यह अक एक ओर समूची वस्तुस्थिति का उद्घाटन करता है और दूसरी ओर विविध कथासूत्रो को संगुम्फित करके भावी विकास को दिशा देता है।

मगध और गाधार इसके प्रमुख कथा केन्द्र है। पचनद की भी स्थिति एक दृश्य में सामने रख दी गयी है। पचनद के समान मालव भी समूचे नाट्यवृत्त का एक सहयोगी किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र है। इस अक मे सिंहरण को उसके प्रतिनिधि के रूप मे विशेष महत्व देते हुए प्रकारान्तर से मंच पर यह कथाभूमि भी उतार दी गयी है। चाणक्य और सिंहरण इन वृत्तकेन्द्रो को जोडनेवाले चरित्र है। पर्वतेश्वर का वृत्त प्रासंगिक है और उसे पताका कहा जा सकता है। यह अभी अधिकारिक वृत्त से कटा हुआ है और

उसका यह अलगाव नायक-पक्ष के उद्योग को अतिरिक्त दीप्ति देता है नाटककार की योजना के अनुसार इसमे प्रतिपक्ष प्रबल तथा वेगशील दिखाया गया है । गान्धार को उसने अपनी मुट्ठी मे कर लिया है और उसके सामने भारत-विजय की कल्पना साकार होने लगी है । नायक-पक्ष अभी सगठित होने के उपक्रम में है । उसे अनेक बार प्रवचना और प्रतारणा सहनी पड़ती है, फिर भी वह हताश नही होता । वस्तुतः चाणक्य और चन्द्रगुप्त का नन्द तथा पर्वतेश्वर द्वारा मर्मान्तिक अपमान उन्हे उनके लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपेक्षित आवेग देता है । इसे आरम्भ कार्यावस्था कह सकते है, क्योंकि इस चरम प्रताडना के बाद दोनो अटूट तत्परता और आवेश के साथ कार्य के लिए प्रयत्नशील हो जाते है । बीज अर्थ प्रकृति तो पहले ही दृश्य मे है, जहाँ चन्द्रगुप्त अपने गुरु चाणक्य के चरणो का शपथ लेकर यवन-प्रतिरोध की प्रतिज्ञा करता है । इस बीज का सपोषक प्रसग नन्द द्वारा राजसभा मे चाणक्य के अपमान और चाणक्य द्वारा नन्दवश के नाश की प्रतिज्ञा का है । मुखसन्धि का भी रूप इस अक मे स्पष्ट है । पर्वतेश्वर के यहाँ चाणक्य का जाना और अपमानित होना प्रतिमुख सन्धि के आरभ का सूचक है । इससे पूर्व मुखसन्धि है, क्योकि बीज अर्थ-प्रकृति और आरभ-कार्यावस्था एक-दूसरे का सम्पोषण करते-करते यहा तक प्रयत्न की एक निश्चित दिशा ले लेते है । ठीक इसके आगे प्रयत्न-कार्यावस्था और विन्दु अर्थप्रकृति का आरंभ हो जाता है । चाणक्य का बदी होना, आम्भीक के निरीक्षण मे सिन्धु पर सेतु निर्माण, राक्षस का राजचक्र मे बौद्ध-समर्थन, चन्द्रगुप्त का निर्वासन प्रतिपक्ष की प्रयत्नशीलता है और चन्द्रगुप्त का चाणक्य को बन्दीगृह से छुडाना, अलका का राज-विद्रोह, सिहरण की तत्परता, चाणक्य का पर्वतेश्वर के पास जाना नायक-पक्ष का उद्योग है ।

'स्कन्दगुप्त' की भाँति इसमे भी प्रतिपक्ष दुहरा है, किन्तु स्थितियाँ भिन्न होने के कारण इस नाटक मे प्रयत्न का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो गया है । यवन-प्रतिरोध के लिए, साथ ही चाणक्य की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए भी—पहले चन्द्रगुप्त का मगध मे राज्यारूढ होना एक अनिवार्यता है, जिसके लिए कम उद्योग नही करना पडता । फिर, यहाँ एक सुविशाल साम्राज्य की स्थापना और उसके संरक्षण की समस्या है, जबकि 'स्कन्दगुप्त' की प्रयत्नशीलता बहुत कुछ मगध मे सीमित रही है । प्रथम अंक प्रयत्न के इस पूरे फैलाव को सामने रखता है । पक्ष-प्रतिपक्ष में छिटपुट शक्ति-परीक्षा और पारस्परिक परिचय भी यहाँ दिखाया गया है । दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी एक आकस्मिक और सुन्दर पूर्वाभास देती है, जिससे किंचित् क्लान्त नायक-पक्ष पुन' दीप्त हो उठता है । नन्दपुत्री कल्याणी का चन्द्रगुप्त की ओर एवम् चन्द्रगुप्त का यवनकन्या-कार्नेलिया की ओर आकर्षित होना एक ओर रोचक अन्तर्विरोध की सृष्टि करता है और दूसरी ओर चारित्रिक एव घटनात्मक दिशाओ का निश्चित संकेत देता है । यवन सेनापति सिल्यूकस के प्रति राष्ट्रवादी चन्द्रगुप्त की कृतज्ञता भी इसी प्रकार का क्षणिक विरोधाभास उत्पन्न करती

है और अलका को कुछ देर के लिए भ्रम हो ही जाता है, किन्तु समग्र वृत्त और चरित्र की दृष्टि से वह एक सुन्दर पूर्व-सकेत और शील-निर्वाह है। कर्मठ सिंहरण और क्रान्तिमयी राजकन्या अलका का गहन किन्तु सयत मनोबन्ध इस अंक का एक अतिरिक्त आकर्षण है। सुवासिनी के प्रति राक्षस और नन्द की आसक्ति दोनो के भावी वैमनस्य का पूर्व-संकेत देती है। चाणक्य के मोहभग के लिए उसका अभिनेत्री हो जाना ही अपेक्षाधिक है। राज्यीय द्वन्द्व मे सुवासिनी की भी भूमिका महत्वपूर्ण है, क्योकि वही राक्षस को बौद्ध-समर्थक एव ब्राह्मण विरोधी राजचक्र में प्रवर्तित करती है। अलका की आत्मीया सिन्धु कुमारी मालविका सरल-हृदया और उत्साहमयी बाला है। उससे नायक-पक्ष को बल मिलता ह। नाटकोचित सक्रियता का दृष्टि से यह आरंभिक विशेष महत्व रखता है। शायद ही किसी और नाटक का प्रवेशाक इतना सक्रिय हो। वस्तुत इस नाटक का आरंभ ही सघर्ष के बीच हुआ है और इसका नायक भी उतना बौद्धिक नही है, जितना कि वह तेजस्वी, पराक्रमी और स्फूर्तिवान है।

द्वितीय अक प्रयत्न की सघनता और सूत्रो के परस्पर उलझाव की विषम स्थितियाँ प्रस्तुत करता है। प्रमुख घटनाएँ हैं—ग्रीक शिविर मे चन्द्रगुप्त द्वारा फिलिप्स से कार्नेलिया की सम्मान-रक्षा और कार्नेलिया की उसमे अनुरक्ति, चन्द्रगुप्त के द्वारा सिकन्दर के सहयोग-प्रस्ताव की अस्वीकृति और वीरतापूर्वक ग्रीक-शिविर से निष्क्रमण, चाणक्य की योजना के अनुसार छद्मवेशी चन्द्रगुप्त, सिंहरण और अलका का पर्वतेश्वर को युद्धक्षेत्र में सलाह देना और विफल होना, यवनो के साथ हुए ऐतिहासिक युद्ध मे पर्वतेश्वर की पराजय और उसकी सिकन्दर से मैत्री, अलका का पर्वतेश्वर के यहाँ बन्दी के रूप में रहना और सिहरण को मुक्त कराकर चातुर्यपूर्वक पर्वतेश्वर की आशक्ति को मर्यादित रखते हुये कार्यसाधन, चन्द्रगुप्त और मालविका का नैकट्य, मालव-युद्ध मे चाणक्य और सिंहरण के प्रयत्न से चन्द्रगुप्त का क्षुद्रक और मालव की सम्मिलित सेना का महाबलाधिकृत बनना और मगध सेना का चाणक्य के कूटकौशल के फलस्वरूप युद्ध मे मालव का साथ देना, अलका की मुक्ति, सिकन्दर की पराजय और सिंहरण द्वारा पर्वतेश्वर-मुक्ति के प्रतिदान के रूप मे उसकी प्राण-रक्षा, तथा चन्द्रगुप्त का सिल्यूकस को ससैन्य सकुशल लौट जाने देना।

इस प्रकार यह अक प्रयत्न की तत्परता और नायकपक्ष के अभ्युदय का विधायक है। पहले अंक मे किये गये संकल्प इसमें चरितार्थ होने लगते है। इस समय विपत्ति के बादल मँडरा रहे है, किन्तु पौधे अन्धकार में बढते हैं और चाणक्य की नीतिलता भी उसी भाँति इस विपत्ति-तम मे लहलही होने लगती है। इस अक का वृत्त-केन्द्र मालव है, क्योकि नायक के शक्ति-सकलन का क्षेत्र वही है क्षत्रियाभिमानी पर्वतेश्वर की पराजय कथानक को सहसा पूरी तरह उसी ओर मोड देती है। चाणक्य 'फार्म' में आ गया हैं—थोथी नीति को ताक मे रखकर वह कूटनीति का महाजाल फैलाना आरम्भ करता

है और केवल साध्य पर दृष्टि रखता है। उसका हृदय पहले ही एक-पर-एक दारुण प्रसंगो द्वारा कठोर बनाया जा चुका है। नायकपक्ष का प्रयत्न उसी के सकेत पर अग्रसर होता है। ग्रीकशिविर से लडकर लौटे चन्द्रगुप्त पर व्यग्य करके वह उसके यवन-प्रतिरोध के संकल्प को दृढ बनाता है और कार्नेलिया व सिल्यूकस के प्रति उसकी आत्मीयता को अन्यथा प्रवर्तित होने से रोक देता है। चन्द्रगुप्त, सिंहरण तथा अलका का छद्मवेश मे पर्वतेश्वर के सैनिक शिविर में जाना पर्वतेश्वर पर अलका का वशीकरण, मगधसेना का मालव मे रुकना, चन्द्रगुप्त का मालवो तथा शूद्रको की सम्मिलित सेना का अभिनायक बनना—चाणक्य द्वारा निर्देशित नायकपक्षीय प्रयत्न हैं। प्रतिपक्ष का मनोबल आरम्भ से ही कुछ उखडा हुआ है और उसे अपने प्रयत्नो मे अधिकतर विफलता ही मिलती है। सिकन्दर का मन पहले ही 'नगे ब्राह्मण' दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी से आशकित है। उसके शिविर मे रहकर भी चन्द्रगुप्त उसकी सहायता लेना स्वीकार नही करता और उसके सामने उसके पक्ष को आहत करके निकल जाता है। पर्वतेश्वर की वीरता उसे आश्चर्य मे डाल देती है। उसके प्रचण्ड सैनिक भी भारतीयो की वीरता देखकर उखड गये है और स्वदेश लौटना चाहते हैं। आत्मविश्वासी सिकन्दर फिर भी अपने गौरव की रक्षा करता हुआ विजयपूर्ण प्रत्यावर्तन की योजना बनाता है और स्थितियो से विवश होकर स्थलीय सम्मुख-युद्ध में स्वय आगे बढकर आक्रमण करता है। उसकी पराजय से नायक-पक्ष अपने गन्तव्य की एक मजिल पूरी कर लेता है।

रागात्मक कथासूत्रो में भी विकास और उलझाव उत्पन्न होते हैं। कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त में फिलिप्स वाली घटना के कारण आत्मीयता बढती है। कल्याणी की चन्द्रगुप्त में अनुरक्ति यथावत् है, जिसका लाभ उठाकर चाणक्य उसे ससैन्य मालव में रोकने में सफल होता है। भावनामयी सरलहृदया मालविका चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षित हो चुकी है और चन्द्रगुप्त भी उसके प्रति ममत्व का अनुभव करता है। अलका और सिंहरण के प्रणय-प्रकरण में पर्वतेश्वर बाधक तत्व के रूप मे आकर जटिलता और अनिश्चितता उत्पन्न करता है। चाणक्य की सूचना के अनुसार नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से राक्षस के अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है। ये राग-सूत्र आगामी घटना-प्रसगो की भूमिका रच रहे है और चाणक्य की पैनी दृष्टि इन पर है। चन्द्रगुप्त की यवन-प्रतिरोध की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी है, किन्तु चाणक्य को अपने प्रतिशोध-प्रण की पूर्ति के लिए तो वस्तुत अब एकमुख होकर अग्रसर होना है, अतएव इन सभी सूत्रों को वह साधन या मुहरो के रूप मे देखता है। यह अंक नाटकीय सक्रियता की दृष्टि से उत्तम है। चन्द्रगुप्त का ग्रीक-शिविर से वीरतापूर्वक निकल आना, पर्वतेश्वर का युद्ध, नायकपक्ष का सँपेरे व नट-नटी के छद्म रूप मे पर्वतेश्वर से मिलना अलका का पर्वतेश्वर से कूट ममत्व, अलका का युद्धकौशल, सिकन्दर का दुर्ग में कूदना आदि अनेक नाटकीय एवं जीवन्त प्रकरण इस अक में है।

विविध घटनाओ में अन्तर्निहित चाणक्य की कूटनीति एक अतिरिक्त नाटकीय रोचकता की सृष्टि करती है राक्षस और पर्वतेश्वर का प्रवचित होना, एक विशिष्ट मचीय आकर्षण है। युद्धतत्र की सक्रियता के अनुरूप इसमें कथोपकथन विशेष त्वरापूर्ण, व्यजक, वस्तुनिष्ठ एव वाक्पटुता से युक्त है। पहले दृश्य मे सिकन्दर और चन्द्रगुप्त का वार्तालाप इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। गोत भी अपेक्षानुरूप कम—केवल तीन है और छोटे है। पूरा अक प्रयत्न-कार्यावस्था, विन्दु-अर्थप्रकृति और प्रतिमुख-सन्धि की स्थिति प्रस्तुत करता है।

तृतोय अक का वृत्त केन्द्र मगध है। सभी ओर से स्थितियाँ सिमटकर वही केन्द्रित हो रही ह। नायक की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी है, अब नियामक का प्रण पूरा होना है। चाणक्य की कूटनीति का प्रखरतम रूप इस " क मे सामने आता है। इसका पहला शिकार राक्षस होता है। इस अक की प्रमुख घटनाएँ हैं—चाणक्य के कूट-जाल मे फँसकर राक्षस का सुवासिनी के साथ नन्द का कोपभाजन बनना, पर्वतेश्वर द्वारा चाणक्य के महत्व की स्वीकृति और मगध अभियान मे सहयोग, सिकन्दर की मित्रतापूर्वक वापसी कार्नेलिया के प्रणय-प्रसग मे चन्द्रगुप्त से फिलिप्स का द्वन्द्व-युद्ध और मरण, चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में मगध की प्रजा का विद्रोह, नन्द का शकटार द्वारा बध और चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण।

यह अंक चाणक्य की प्रण-सिद्धि का है और एक प्रकार से कथानक को समापन दे देता है। इसके अन्त में चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट् बन जाता है और इस प्रकार नायक को फल-प्राप्ति हो जाती है। यदि इसे ही फल मान लिया जाय तो सिकन्दर का मैत्रीभाव से युक्त होकर लौटना और पर्वतेश्वर का चाणक्य का अनुगामी बन जाना प्राप्त्यमाशा कार्यावस्था के सूचक कहे जा सकते है। नन्द का बन्दी होना नियताप्ति है और चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण फलागम। किन्तु अभी कुछ महत्वपूर्ण क्रिया-व्यापार शेष है और वे साम्राज्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए अपेक्षित भी है, अतः इस पूरे अंक मे प्रयत्न कार्यावस्था मानी जा सकती है, जिसकी परिणति प्राप्त्याशा में होती है। इस दृष्टि से यहाँ गर्भ-सन्धि भी मानी जा सकती है। नाटकीय सक्रियता से यह पूरा अक भरा हुआ है। सारे सूत्र बडी त्वरा के साथ मगध की ओर बढते हैं। मगध के विद्रोह-सूत्र भी बडे जीवन्त है। शकटार विद्रोह की मशाल बना हुआ है। चाणक्य की कूटबुद्धि प्रखर हो उठी है। सम्प्रति उसके दो लक्ष्य हैं—नन्द के विरोधियो का सगठन और उसके आत्मीय पक्ष का विघटन। राक्षस की मुद्रा और कपट-पत्र के द्वारा वह उसे नन्द से अलग करने में सफल होता है। नन्द के नाश में उसके व्यक्तिगत असन्तोष को ही मूल कारण न माना जाए इस विचार से वह शकटार, मौर्य सेनापति, मौर्यपत्नी तथा वररुचि को नागरिकों के समक्ष उपस्थित करके असतोष को राजविद्रोह का रूप दे देता है। उसे नन्द की हत्या का भी दोषी नही कहा जा सकता, भले ही शकटार को उसने भीतर ही भीतर

इसके लिए उकसाया हो। सच तो यह है कि शकटार की प्रतिहिंसा इतनी दानवी हो उठी है कि नन्द के वध में किसी अन्य की ओर दृष्टि ही नही जाती। साथ ही चन्द्रगुप्त को मगध की प्रजा का समर्थन मिल जाता है। चाणक्य की कूटनीति पर्वतेश्वर को चन्द्रगुप्त का सहयोगी बना देती है।

इस अंक में कर्मसूत्रो का बाहुल्य है और नाटककार ने बडे लाघवपूर्ण कौशल से उन्हे समाप्त अथवा एकान्वित किया है। सिंहरण और अलका के परिणय के बहाने चाणक्य के महत्व की स्थापना भी कर दी गयी है और इस प्रासंगिक वृत्त को पूर्ण करके अलग भी कर दिया गया है। फिलिप्स मारा जा चुका है। सुवासिनी और राक्षस का वृत्त प्राय' पूर्ण हो चुका है। कार्नेलिया का प्रकरण एक पूर्वाभास देकर फिलहाल छोड दिया गया है। शेष सारे चरित्र चाणक्य की लक्ष्य सिद्धि के साधन बने हुए है। मचीय प्रभाव के एकाधिक दृश्य यहाँ है। राक्षस का बन्दी होते-होते बच जाना, शकटार का धरती फोडकर सहसा वनमानुष सा निकलना, नन्द की विवेकहीनता व क्रोधान्धता के दृश्य यथेष्ट मचीय प्रभाव रखते हैं। कथोपकथन वस्तुस्थिति के अनरूप ही सक्षिप्त एव वृत्त-वाही हैं। गीत केवल एक है और प्रसगोचित है।

अन्तिम अक चन्द्रगुप्त के सुदृढ साम्राज्य की कल्पना को आकार देता है। पिछले अंक में उसे मगध का सिंहासन मिल गया है किन्तु वह अभी निष्कटक नही है। फिर अभी कथानायक की राग-सिद्धि भी शेष है। एक अन्य, और कदाचित् सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि चन्द्रगुप्त को नायक का गौरवशाली पद पाने के लिए अभी कुछ और महत्कार्य करना चाहिए। उसने फिलिप्स को द्वन्द्व-युद्ध मे मारकर अपनी वीरता का परिचय अवश्य दिया है, किन्तु एक तो वहाँ उद्देश्य की वैयक्तिकता है और दूसरे फिलिप्स विशेष महत्व का चरित्र भी नही। सिकन्दर को सिंहरण ने आहत किया था, यद्यपि चन्द्रगुप्त का अध्यवसाय कम नही था। सच तो यह है कि चाणक्य तीसरे अक तक उसे चारों ओर से सहारा देता रहा है और उसका नायकत्व सन्दिग्ध बना रहा है। अस्तु, उसके नायकत्व की प्रतिष्ठा के लिए अन्तिम अंक एक अनिवार्य अपेक्षा है, जिसमें वह अकेले अपने ही बल पर सिल्यूकस का सामना करने को उद्यत हो जाता है। यह और बात है कि चाणक्य का कूट-चक्र भीतर ही भीतर उसकी सहायता कर रहा है। इस प्रकार यह अक अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। घटना क्रम इस प्रकार है—कल्याणी द्वारा लोभी और कामुक पर्वतेश्वर की हत्या और फिर आत्म-हत्या, विजयोत्सव के प्रसंग में चाणक्य का चन्द्रगुप्त से छद्म-कलह, चन्द्रगुप्त को बचाने के लिए चाणक्य की प्रेरणा से मालविका का स्वेच्छापूर्वक आत्मोत्सर्ग, कार्नेलिया का मनोभाव जानने के लिए चाणक्य द्वारा सुवासिनी की ग्रीक शिविर में नियुक्ति, चाणक्य के प्रभाव से आम्भीक का हृदय-परिवर्तन और उसका सिल्यूकस से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त करना, पचनद के युद्ध में चन्द्रगुप्त की विजय और उसका सिल्यूकस को उसके शिविर में सम्मान-

पूर्वक मुक्त करना, चिरशत्रु ऐंटिगोनस के अभियान की सूचना पाकर सिल्यूकस का शीघ्र सन्धि करके लौटने के लिए बाध्य होना, चाणक्य का राक्षस के पक्ष मे अमात्य-पद का त्याग, और चाणक्य के प्रस्ताव पर सिल्यूकस की सहमति से कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त से विवाह।

यह अक विमर्श और निर्वहण सन्धियो के सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। राक्षस का प्रतिपक्षीय प्रयत्न और चन्द्रगुप्त का विक्षोभ विमर्श के श्रेष्ठ स्थल है। सिल्यूकस की पराजय और राक्षस के हृदय-परिवर्तन से निर्वहण-सन्धि आरम्भ हो जाती है, जिसका चरम रूप अन्तिम दृश्य मे फलागम के रूप मे प्रकट होता है। मगध के आधे राज्य का दावेदार पर्वतेश्वर पहले ही समाप्त हो चका है और उसी के साथ नन्दवशीया कल्याणी भी आत्म-हत्या कर चुकी है, किन्तु यवनो से निश्चिन्त होना अभी शेष था। यह अन्तिम कटक चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया के परिणय से समाप्त हो जाता है और चन्द्रगुप्त निष्कटक आर्यावर्त के सम्राट के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। उसकी वैयक्तिक शान्ति के लिए कल्याणी और स्वर्गीय कुसुम जैसी मालविका पहले ही समाप्त हो चुकी है। अत अब वह पूरे मन से कार्नेलिया की ओर अभिमुख है। राक्षस और सुवासिनी को भी मनचाहा मिल गया है। चाणक्य अपने लक्ष्य की पूर्ण सिद्ध देखकर मौर्य के साथ तपस्वी जीवन बिताने के लिए चल देता है। इस अक में दृश्य छोटे-छोटे और सख्या में सभी अंको से अधिक है। नाटककार को यहाँ सभी सूत्रो को फल की ओर मोडना है और सिद्धि का प्रभाव घनीभूत करना है, अत दृश्यो का विधान उसी के अनुरूप हुआ है। इसमे चन्द्रगुप्त व्यक्तित्व को उभारने में उसे यथेष्ट सफलता मिली है, यद्यपि चाणक्य अपनी नीति मे अब भी सर्वोपरि रहता है। सिल्यूकस का पराजित होकर कार्नेलिया चन्द्रगुप्त से परिणय मनसा स्वीकार कर लेना और राक्षस द्वारा चाणक्य के महत्व की निर्णायक स्वीकृति प्राय· एक ही साथ घटित होते है। यहाँ नियताप्ति कार्यावस्था है। इसके अनन्तर फला-गम अथवा कार्य-सिद्धि की स्थिति स्वत आ जाती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'चन्द्रगुप्त' का अन्तिम अक इसके नायकत्व की प्रतिष्ठा में विशेष योगदान करता है। वैसे, नाटक का नामकरण प्रसाद की अन्य कृतियो की भाँति यहाँ भी नायकत्व का निर्धारक और निर्देशक है। साथ ही चन्द्रगुप्त का असीम साहस और उसकी अटूट मनस्विता आरम्भ से ही उसे प्रधान चरित्र का गौरवपूर्ण पद दिलाने मे समर्थ रहे हैं। फिर भी इस तथ्य को उपेक्षा नही की जा सकती कि वर्तमान संदर्भ मे नायक में जितनी आत्मदीप्ति अपेक्षित थी, वह अन्तिम अक से पहले पूर्णत. नही उभर पाती। नियामक चरित्र अन्य नाटको मे भी है, किन्तु वे कही भी नायक पर इतने हावी नही हो सके, जितना इस नाटक में। 'अजातशत्रु' मे अवश्य गौतमबुद्ध का व्यक्तित्व सर्वप्रभावी हो उठा है, किन्तु उनका सम्बन्ध नाटकीय क्रियाव्यापार से न होकर मुख्यत: शम-पक्ष से है। 'चन्द्रगुप्त' में स्थिति दूसरी है। इसमे चाणक्य सम्पूर्ण क्रियाव्यापार का

सूत्रधार है और शम-पक्ष भी उसे ही केन्द्र मे रखकर अग्रसर होता है। चन्द्रगुप्त की व्यक्तिगत तेजस्विता उसकी कूट बुद्धि का मुँह जोहती रहती है। अधिकतर वह उसका सहज अनुगामी और कर्मयन्त्र बना रहता है। नायकत्व के योग्य गुणो से विभूषित होने पर भी उसकी यह परमुखापेक्षा उसे भस्मावृत अगार की स्थिति मे तब तक रखे रहती है, जब तक वह सभी ओर से निरस्त्र और निस्सहाय नही कर दिया जाता। वैयक्तिक तेज ऐसे ही अफाट अकेलेपन मे प्रकट होकर अपना परिचय देता है। विपत्ति का घटा जितनी सघन होती है, तेज की विद्युल्लता भी उतनी ही दीप्ति के साथ चमकती है। चन्द्रगुप्त अतिम अक मे ऐसी ही स्थिति मे डाल दिया गया है। उसे आक्रामक यवन-वाहिनी का प्रतिरोध करना है और इस गाढे अवसर पर प्रकटत सभी ने उससे मुख मोड लिया है। पिता गये, माता गयी, उसके व्यक्तित्व के निर्माता गुरुदेव चाणक्य गये और अन्त मे कन्धे से कन्धा भिडाकर प्राण देने वाला चिरसहचर सिहरण भी चला जाता है। मालविका—वह स्वर्गीय कुसुम भी तो अब नही रहा, जो उसके विक्षोभ-विह्वल मन को अपने भाव-पारिजात की भीनी महक से कुछ क्षणो के लिए विभोर कर सके। इस भयावह अकेलेपन मे उसे निर्णायक युद्ध की विभीषिका मे उतरना है।

चन्द्रगुप्त का क्षत्रियत्व यहाँ उभरकर सामने आ जाता है और सर्वोपरि हो उठता है। जिस प्रचण्ड दृढता के साथ वह मरण से भी अधिक भयानक को आलिगन करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है, वह अतिमानवीय है। समूचे देश के प्रशासन और सैनिक नियंत्रण की दुहरी बागडोर वह अकेले ही थाम लेता है और यह प्रमाणित कर देता है कि वह युद्ध करना जानता है और उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगलगान है। यह अवश्य है कि परदे के पीछे चाणक्य और सिहरण उसकी गतिविधि देखते चल रहे हैं, सहयोग के लिए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं और उसके पथ को निष्कटक भी बनाते जा रहे हैं, किन्तु दुर्दान्त ग्रीकवाहिनी को मुँहतोड जवाब देने के लिए वह तैयार अपने ही बल पर हुआ है—उसमे किसी का निहोरा नही। व्यक्तित्व के निदर्शन के लिए यह अकेली स्थिति ही पर्याप्त है, चन्द्रगुप्त के अपराजेय पौरुष और पराक्रम के तो अनेक प्रमाण पहले ही मिल चुके है—चाहे वह तक्षशिला के गुरुकुल मे आम्भीक के देशद्रोह का प्रसग हो, जगद्विजेता सिकन्दर का सैनिक शिविर हो अथवा चाहे फिलिप्स के साथ द्वन्द्व-युद्ध का प्रकरण हो। चन्द्रगुप्त तेजस्वी है। निर्भीकता उसकी सहज प्रकृति है। अन्याय के आगे वह सदैव सीना तानकर खडा हो जाता है—फिर चाहे वह उसके प्रतिपालक, किन्तु अपनी दुर्बुद्धिपूर्ण नृशंसता के लिए कुख्यात, मगध सम्राट नन्द की सभा क्यो न हो। क्रुद्ध सिकन्दर की बात उसी के सैनिक-शिविर मे काटने का साहस केवल चन्द्रगुप्त कर सकता था। उसमें अटूट स्वाभिमान है। अपने कारण सिल्यूकस को अपमानित होते वह नही देख सकता, साथ ही अपनी उपेक्षा भी उसे सह्य नही। तभी तो वह बेसाख्ता कह उठता है कि 'सिल्यूकस नही, चन्द्रगुप्त से कहने की बात

चन्द्रगुप्त से कहनी चाहिए'। उसका यह आत्मगौरव जातीय मनोभाव से सयुक्त होने के कारण विशेष गरिमाशाली हो उठा है। सिकन्दर उसकी मगध-विजय मे सहयोग देने को तैयार है, किन्तु वह उसके प्रस्ताव को निर्द्वन्द्व-भा ा से ठुकरा देता है। उसने नीति और शिक्षा का यही अर्थ समझा है कि आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है' और इसी की रक्षा के लिए वह चाणक्य के चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि 'यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे'। पराक्रम मे वह अद्वितीय और अप्रतिभट है। सिकन्दर भी उसके आगे हतप्रभ हो उठता है। ग्रीक-शिविर मे उसका वीरतापूर्ण आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है। कार्नेलिया को दुराचारी फिलिप्स के हाथो अपमानित होने से बचा लेना उसकी मनुष्यता का ही परिचायक है। उसमे राजोचित सास्कृतिक शिष्टता है। सिल्यूकस के एक आकस्मिक उपकार को वह कई प्रकार से चुकाता है—उसके अतिथि के रूप में रहकर, उसे बन्दी बनाकर भी सम्मानपूर्वक मुक्त करके और अन्त मे उसकी साम्राज्यरक्षा के लिए गजसेना के रूप मे सहयोग देकर। पिता-माता और आचार्य के लिए उसमे अटूट निष्ठा है।

अन्तिम अक मे चाणक्य से उसका मनोमालिन्य उसकी राजोचित मर्यादा का ही व्यजक है, धृष्टता का नही। फिर उसके समक्ष जननी-जनक के सम्मान-स्वाभिमान का भी प्रश्न उठ खडा हुआ था। उसकी संगीतप्रियता और आभिजात्यपूर्ण सहृदयता उसके वीरोचित व्यक्तित्व को और निखार देती है। उसके लौह-कठोर कलेवर के भीतर एक कोमल सहृदयता विद्यमान है, जिसके कारण उसके सम्पर्क में आनेवाली सभी युवतियाँ उसकी प्रशमक और प्रेमाकाक्षिणी बन जाती है। उसकी यह अभिजात रसिकता उसकी चारित्रिक दृढता के कारण विलास-लोलुप नही बनने पाती और यह उसकी लक्ष्य-सिद्धि मे सहायक ही बनती है। यो भी, प्रेम वीरता का सहकारी होता है। फिर, यहाँ तो मालविका के आत्मदान का अप्रतिम साक्ष्य विद्यमान है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त में नायकत्व की पूर्ण योग्यता है। यह अवश्य है कि प्रथम तीन अंको मे उसकी पृष्ठभूमि रचते हुए उसे अन्तिम अक मे एकदम समग्रत उभारने की पद्धति अपनायी गयी है।

विलक्षण कूटनीतिक प्रतिभा का धनी चाणक्य नाटक का नियामक चरित्र है। यदि चन्द्रगुप्त इस नाटक का कर्मयन्त्र है तो चाणक्य इसका बुद्धितन्त्र। उसकी कूटबुद्धि का लोहा सभी को मानना पडता है। सम्पूर्ण नाट्य-व्यापार उसके व्यक्तित्व से अनुप्राणित है और इसीलिए नायक-निश्चय के हेतु प्रसाद को अन्तिम अंक की अवतारणा विशेष रूप से करनी पडी। वह मूलत ब्राह्मण है—उग्र, तेजस्वी, निर्भीक और निस्वार्थ ब्राह्मण। ब्राह्मणत्व का एक व्यापक और विराट् आदर्श उसके सामने है—मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियो को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना। इस उदात्त आदर्श की चरितार्थता में ही उसके व्यक्तित्व की गरिमा निहित है। सब कुछ अपनी मुट्ठी में करके भी वह

अपने लिए कुछ भी नही बचा रखता—सुवासिनी का साहचर्य भी नही; जिसके लिए उसमे अन्त तक भावनात्मक दुर्बलता थी। उसके लिए बच रहता है केवल यह बोध कि उसका कर्म-कुलाल-चक्र अपना निर्मित माण्ड उतारकर धर चुका और निस्तरग चैतन्य-समुद्र, निर्मल ज्ञानज्योति-रूप, अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उसे उपलब्धि हो रही है। इससे बडी दूसरी कोई उपलब्धि है भी नही और चाणक्य इसका वास्तविक हक-दार है।

वह चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र बनाना चाहता था, जिसके लिए उसे कठोर और क्रूर बनना पडा, किन्तु उसकी समग्र निर्ममता केवल वर्तमान के लिए है, भविष्य के सुख और शान्ति के लिए-परिणाम के लिए नही। उसका यह आदर्श कि श्रेय के लिए मनुष्य को सब कुछ त्यागने के लिए तत्पर रहना चाहिए—उसे अपने प्रति भी निर्मम बना देता है। वह अविश्वास, कूटचक्र, छलनाओ का ककाल और कठोरताओ का केन्द्र बन जाता है। उसका आत्माभिमान ही उसका एकमात्र मित्र है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त है—ऐसी प्रतिज्ञा पर जिसमे जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य का भी यौवन चमक रहा है। एक भयानक रमणीयता उसके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द छायी हुई है। उसकी अटूट संकल्पशक्ति, अखण्ड आत्मनिर्भरता और अविचल कूटबुद्धि की धुरी उसका आत्म-निर्वासन ही है। वह राज्य करना नही जानता, करना भी नही चाहता, हाँ, वह राजाओ का नियमन करना जानता है, राजा बनाना जानता है। उसकी यह नियामकता राष्ट्रहित और ब्राह्मणो-चित विवेक से जुडी हुई है—वैयक्तिक स्वार्थ उसमें रचमात्र भी नही। व्यक्तिगत अपमान से विक्षुब्ध क्रुद्ध होकर उसने नन्दवश के नाश की भीषण प्रतिज्ञा अवश्य की थी और वैसा उसने कर भी दिखाया, किन्तु यह सारा ताण्डव उसने व्यापक हित के पक्ष मे किया है। दुराचारी और मदान्ध नन्द ने उसका ही सर्वस्वापहरण नही किया, सारी प्रजा को उसने अपने अविवेक से त्रस्त कर रखा है। फिर, नन्द बर्बर विदेशी आक्रामको से देश की रक्षा करने मे भी अशक्त है। अत चाणक्य का उसके प्रति आक्रोश सर्वथा न्याय्य है। उसका ब्राह्मणोचित विवेक राक्षस-सुवासिनी और चन्द्रगुप्त कार्नेलिया के परिणय में देखा जा सकता है। राक्षस उसका चिरशत्रु था, किन्तु अन्त मे उसे अमात्य-पद देकर वह उसकी पात्रता का सम्मान करता ही है। वह दृढनिश्चयी और अडिग सकल्प वाला है। उसने प्रलय के समान अबाधगति और कर्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनने का प्रण किया था और वह वैसा ही बन भी जाता है वह सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों। लक्ष्यसिद्धि के लिए वह स्वर्गीय कुसुम मालविका की भी बलि देने मे नही हिचकता। वह क्रूरता की हद तक दृढ है, क्योकि उसे पता है कि महत्वा-काक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपो में रहता है। परिणाम में भलाई ही उसके काम की कसौटी है। उसमें अतिमानवीय आत्मनिर्भरता है। देश की नियति उसके हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है और उसमें वह अपनी भूमिका यान्त्रिक

निश्चितता के साथ निभाता है। वह जानता है कि वह होकर रहेगा, जिसे उसने स्थिर कर लिया है। अपनी विलक्षण कूटनीति का रहस्य वह किसी के आगे नही खोलता, चन्द्रगुप्त के सामने भी नही, जो उसका प्रमुख कर्मयन्त्र है। कल्याणी की आत्महत्या पर उसका सन्तोष देखकर चन्द्रगुप्त जब उसे क्रूर कहकर आश्चर्य प्रकट करता है, तो वह उसे डाट देता है कि वह अपना काम करे, विवाद करना उसका काम नही।

अन्तिम अंक के निर्णायक युद्ध मे चन्द्रगुप्त से छद्म-कलह करके एक ओर वह उसे आत्मनिर्भर बनने का अवसर देता है और दूसरी ओर भीतर ही भीतर सारी व्यवस्था का संचालन करता रहता है। उसकी पहुँच से न कोई व्यक्ति बाहर है और न कोई स्थिति। उसकी भेदक दृष्टि जैसे सबसे ऊपर होकर सारा कुछ देखती रहती है। प्रणिधि-व्यवस्था मे वह अन्यतम है। उसे सारे समाचार यथासमय पूरी गोपनीयता के साथ मिलते रहते है। अपनी दूरदर्शिता और कूटबुद्धि के कारण वह यहाँ तक अभेद्य है कि कात्यायन को उसका हँसना उसके क्रोध से भी भयानक लगता है। चाणक्य का यह सर्वातिशायी व्यक्तित्व पूरी नाट्यवस्तु पर छाया हुआ है और सभी चरित्र उससे अनुशासित अथवा पराभूत होते है। वह इस नाटक मे नायक न होकर भी सर्वोपरि है और चन्द्रगुप्त नायक होकर भी उसके हाथो की कठपुतली-मात्र। प्रसाद ने चाणक्य के रूप मे ब्राह्मणत्व का तेज साकार कर दिया है। एक कुशल अभिनेता के ही समान वह अपनी विलक्षण बुद्धि से सबको चमत्कृत करके निस्पृह विरक्ति के नेपथ्य में लौट जाता है। दाण्ड्यायन और कात्यायन उसके समवर्गीय पात्र है, किन्तु नाट्य-व्यापार में सक्रिय न होने के कारण उनके चरित्र अधिक नही खुल पाते। दाण्ड्यायन दिव्यदृष्टि वाले सार्वभौम ब्राह्मणत्व के प्रतिनिधि है उनकी भविष्यवाणी मे यथार्थ की दृढता है। चाणक्य अन्तत. उन्ही की तपोभूमि मे कर्म-सन्यास लेता है। कात्यायन या वररुचि विद्वान और सहृदय ब्राह्मण है। वह एक आदर्शवादी बौद्धिक चरित्र है। चाणक्य उसे अपना सहायक अवश्य बनाता है, किन्तु उसके व्यक्तित्व का कोई दूसरा पक्ष सामने नही आता।

मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण भी इस नाटक का एक प्रभावशाली आदर्श चरित्र है। वीरोचित निर्भीकता, उदारता और राष्ट्रभावना उसकी मूलभूत चारित्रिक विशेषताएँ है। अपनी प्रखर बुद्धि और चाणक्य की शिक्षा से उसने राष्ट्र के वर्तमान और भविष्य को जान लिया है तथा अपना दायित्व भी निर्धारित कर लिया है। प्रथम अंक के पहले ही दृश्य मे उसके व्यक्तित्व की प्रमुख रेखाएँ उभरकर सामने आ गयी है। उसमें अपरिसीम साहस और धैर्य है। उसमें राजकुलोचित विनय और कर्तव्य बुद्धि है। अपने गुरु चाणक्य का आदेश वह आँख मूदकर शिरोधार्य करता है। व्यक्तिगत सुख-दुःख की उसे चिंता नही। वह मालव की चिन्ता छोड़कर समूचे आर्यावर्त की सुरक्षा के लिए कृतसंकल्प और समर्पित हो गया है। उसका यह निर्वैयक्तिक निर्भय आत्मविश्वास 'अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को मैं

अपने अनुकूल बना ही लूँगा—उसके चरित्र की रीढ है। अलका के प्रति उसका आकर्षण उसे कर्तव्यपथ से विचलित करने के स्थान पर और अडिग बना देता है। वह रणकुशल योद्धा है। विश्वजयी होने का दभ करने वाला अप्रतिभट सिकन्दर उससे पराजित होता है। उसमे वीरोचित कृतज्ञता और उदारता है। पर्वतेश्वर के प्रति दिखायी गयी उदारता का ऋणशोध वह घायल सिकन्दर को सुरक्षित रूप से यवनो को सौपकर करता है। चन्द्रगुप्त का वह अभिन्न मित्र और कर्मठ सहयोगी है। चन्द्रगुप्त उसे 'कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देनेवाला चिरसहचर' मानता है और है भी वह ऐसा ही। उसकी वीरोचित दीप्ति कई बार नाटकीय सम्प्रभुता पर हावी होने लगती है।

सिकन्दर, सिल्यूकस और फिलिप्स ग्रीक रक्तवाले चरित्र है, अतः उनमे स्वभावत. वीरता का दभ है। वीर वे सचमुच है भी। उनमे वीरोचित निर्भीकता और पराक्रम है। सिकन्दर अद्वितीय वीर होने के साथ-साथ चतुर और उदार भी है। पर्वतेश्वर की वीरता से प्रभावित होकर वह उसे सम्मान देता है। भारत से विदा होते समय वह इस देश की गरिमा से प्रभावित हुए बिना नही रहता।

यवन-सेनापति सिल्यूकस भी असम साहसी, उद्योगी और पराक्रमी है। सिकन्दर के समान वह भी महत्वाकाक्षी है। उदारता और कृतज्ञता भी उसमे सिकन्दर के ही समान है। चन्द्रगु की रक्षा, उसे ग्रीक-शिविर मे अपनी पुत्री कार्नलिया के सम्पर्क मे अतिथि के रूप मे रखना और उसके लिए सिकन्दर के क्रोध का पात्र बनना उसको शेष ग्रीको की अपेक्षा अधिक मानवीय सिद्ध करते है। है भी वह एक भावनामयी कन्या का वीर पिता। कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के परिणय मे उसका ग्रीक स्वाभिमान आड़े अवश्य आया था किन्तु उसकी मानवीय उदारता प्रबलतर साबित हुई सिकन्दर का क्षत्रप फिलिप्स निर्भीक, साहसी और वीर होने के बावजूद बर्बर और निम्नवर्गीय चरित्र है। कार्नेलिया के प्रति उसकी दुहराग्रहपूर्ण धृष्टता असह्य थी और उसका उसे दड भी मिला। उसमे वीरता थी, अत उसे वीरोचित अन्त—चन्द्रगुप्त से द्वन्द्व मे मृत्यु—देकर प्रसाद जी ने उसके साथ न्याय ही किया है। एनीसाक्रीटीज, साइबर्टियस और मेगास्थनीज़ साधारण ग्रीक-चरित्र है और वे सम्पर्क-सूत्र का काम करते है।

अन्य पुरुष-पात्रो मे पर्वतेश्वर, राक्षस और आम्भीक उल्लेखनीय है। क्षत्रिया-भिमानी पौरव पर्वतेश्वर का व्यक्तित्व इस कृति में नाटकीय क्रिया-व्यापार का एक महत्वपूर्ण घटक है। आरम्भ मे वह स्वतत्र और आत्मनिर्भर रहता है, किन्तु तीसरे अक में चाणक्य उसे अपना सशक्त पक्षधर बना लेता है। चन्द्रगुप्त की मगध-विजय मे वह यथाशक्ति पूरा सहयोग देता है। वीरता और विलास उसके चरित्र की दो धुरिया है जो उठाती और गिराती है। जिस आत्मविश्वास और अहं के साथ वह चाणक्य का अनुरोध ठुकराकर अकेले ग्रीक वाहिनी से युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाता है, वह साहस और वीरता की पराकाष्ठा है। वह प्रबल पराक्रमी है विश्वजयी सिकन्दर भी

उसकी वीरता पर मुग्ध होकर उसकी ओर मैत्री का हाथ बढा देता है और इस प्रकार पराजित होने पर भी उसका सम्मान करता है। इस महावीर को अपने पक्ष मे करने के लिए चाणक्य क्या कुछ नही करता। उसकी उच्छृंखल कामवृत्ति उसके पतन का कारण बनती है। अलका से प्रवंचित होकर वह आत्महत्या के लिए उद्यत हो गया था और कल्याणी द्वारा उसकी हत्या कर दी जाती है। पर्वतेश्वर जितना वीर है, उतना ही दभी और विवेकहीन भी। कल्याणी के विवाह का प्रस्ताव वह पहले ठुकरा चुका था, अत अन्तिम अक मे उसका प्रणय-प्रयास उसकी विवेकहीन कामुकता का ही परिचायक है। ऐसा लगता है कि सिकन्दर से पराजित होने के बाद उसका व्यक्तित्व विघटित होने लगा है। उसका क्षत्रियोचित अह स्वार्थी दभ मे बदलते-बदलते क्षुद्रता के इस सीमान्त पर पहुँच जाता है कि वह कल्याणी को बलपूर्वक प्रणयिनी बनाकर पूरे मगध का हथियाने का विचार करने लगता है। उसके साथ विश्वासघात अवश्य हुआ है, क्योकि उसे मगध का आधा राज्य देने का वादा करके पूरा नही किया गया किन्तु उसकी प्रतिक्रिया जितनी क्षुद्र और स्वार्थान्ध है वह उसे उदात्त स्तर से बहुत नीचे ले आती है। उसकी वीरता दभ के कारण फलीभूत नहो हो सकी और विवेकहीनता ने रसिकता या विलासवृत्ति मे घृताहुति देकर उसे चरम विनाश तक पहुँचा दिया।

राक्षस चाणक्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में परम्परा से प्रस्तुत किया जाता रहा है, किन्तु इस नाटक मे उसका चरित्र कुछ विशेष प्रभावी नही बन सका है। वह कलावन्त है, मेधावी है, राजभक्त है और सहृदय है, किन्तु उसमे वह बौद्धिक प्रखरता और राजनीतिक कौशल नही, जो उसे चाणक्य जैसे प्रकाण्ड कूटनीतिज्ञ की समकक्षता के योग्य बना सके। चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा अथवा श्रेय के लिए सब कुछ त्याग दिया है, जबकि राक्षस इस क्षणिक जीवन की घडियो को सुखी बनाने का पक्षपाती है। उसने विवाह नही किया, परन्तु भिक्षु भी न बन सका। बौद्धमत का केवल वह उसकी दार्शनिक सीमा तक समर्थन करता है। संसार को दुखमय मानकर वह कला और विलास के माध्यम से जीवन का भोग करने का आकाक्षी है। सुवासिनी उसकी विलास-लोलुपता पहचानती है और अन्तिम अक मे उसे प्रताडित भी करती है। चाणक्य इसके विपरीत सुवासिनी का प्रस्ताव ठुकरा देता है और अपनी दिशा मे अग्रसर रहता है। राक्षस की चाणक्य से कोई समता नही। चाणक्य के सामने वह बौना लगता है, उससे जैसे कतराने का यथासंभव हर प्रयत्न करके भी वह बार-बार उसके नीतिजाल मे फँसता रहता है और अन्त मे समर्पित और उपकृत होकर ही अपनी कृतार्थता अनुभव करता है। एक बात अवश्य है और वह यह कि अपने को बराबर चाणक्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रचारित करता रहता है। इस असन्तुलित प्रतिद्वन्द्विता मे वह देशद्रोह का कलंक भी ओढता है। सुवासिनी के प्रति उसकी आसक्ति उसे और भी गिराती है, यद्यपि चाणक्य की उदात्तता अत मे उसे वांछित दिशा दे देती है।

तक्षशिला का राजकुमार आम्भीक उद्दंड प्रकृति का दंभी और सुविधापरस्त युवक है। पहले ही दृश्य में उसका अविनयी स्वभाव प्रकट हो जाता है। उसने यवन आक्रमणकारियो के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख रजनी की शान्त निद्रा मे, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल दी है। इस सुविधापरस्त स्वार्थसाधना ने ही उसे इतना दुर्विनीत बना दिया है कि वह आचार्य चाणक्य, वृद्ध पिता गाधारनरेश और बहन अलका तक को अपमानित करता है। अपनी सहोदरा अलका की तो वह राजद्रोह का अभियोग मे हत्या करने के लिए भी तैयार हो जाता है। अलका के विद्रोह पर एक बार वह प्रत्यावर्तन की बात सोचता है, किन्तु वैसा कर नही पाता क्योंकि पुल बन चुका है और यवन सैनिक उसकी छाती पर खडे है। अपने राज्य की सुरक्षा के लिए वह देश को खतरे में डाल देता है। पर्वतेश्वर द्वारा किये गये अपने अपमान का प्रतिशोध भी इसमे एक कारण है किन्तु वह सहयोगी ही है, मुख्य कारण नही। अन्त मे यवनो के दूसरे आक्रमण के समय अलका की ज्वलन्त देशभक्ति और चाणक्य की शिक्षा उसकी बुद्धि पर से दंभ और स्वार्थ का परदा हटा देती है वह आर्य-साम्राज्य मे सम्मिलित होकर देशरक्षा का सकल्प करता है। सिल्यूकस से युद्ध करते हुए, उसे घायल करके वह वीरगति को प्राप्त होता है। पहले वह साधारण धर्मा पशु था, अन्त में विचारशील होकर मनुष्य बन जाता है।

नाटक के शेष पुरुष-पात्र नन्द, शकटार, गाधार-नरेश और मौर्य सेनापति सीमित व्यक्तित्व वाले है। नन्द अविवेकी, क्रूर, उद्दड, क्रोधी, मद्यप और विलासी है। न वह किसी पर विश्वास करता है और न विश्वास पाता है। अन्त मे वह असाध्य रोगी की भाँति चरम विनाश को प्राप्त होता है। शकटार प्रतिशोध का पुतला है। नन्द ने उसे उसके परिवार सहित मृत्यु के अधकूप मे डाल दिया था, जिसका बदला उसने सबके सामने नन्द की हत्या करके लिया। गाधार नरेश पुत्र और पुत्री की परस्पर-विरोधी प्रकृति के बीच कर्तव्यमूढ हो जाते है। उनमे क्षात्रतेज अवश्य है, किन्तु उस पर द्विधा आवरण डाल देती है। मन से अलका के हिमायती होने पर भी वे प्रकटतः आम्भीक का विरोध नही कर सकते। मौर्य सेनापति चन्द्रगुप्त का पिता है और उसमे भी नन्द के प्रति प्रतिशोध-भाव है। वह वीर है, किन्तु अविवेकमयी अधीरता उसके तेज को धूमिल कर देती है। चाणक्य के प्रति उसका असतोष और अन्त में हत्या का प्रयत्न उसे एक साधारण खीझे हुए लडाकू सैनिक के स्तर से ऊपर नही उठने देता।

प्रसाद के नाटकीय पात्रो मे चारित्रिक प्रखरता और दीप्ति और पुरुषों की अपेक्षा नारियो में अधिक लक्षित होती है। प्रत्येक नाटक मे ऐसे नारी-चरित्र मिलेंगे, जो किसी न किसी दिशा में श्रेयपथ से दृढतापूर्वक जुडे रहते है और उसके लिए सर्वस्व निछावर करने को तत्पर रहते है। उनका स्वाभिमान प्रायः ही इस निष्ठा में सहयोग देता है। कुछेक चरित्र भावनाओं के कोमल ताने-बाने से बुने गये हैं और वे इन्ही के माध्यम से

अपनी श्रेय-साधना पूरी करते हैं। महत्वाकांक्षिणी नारियो का एक अलग ही वर्ग है, जो अपनी उग्र स्वार्थपरता के वात्याचक्र मे पडकर या तो विनाश को प्राप्त होती है या फिर पराजित होकर शुद्धि का पथ अपना लेती है। 'चन्द्रगुप्त' मे ऐसी कोई नारी नही है। केवल सुवासिनी मे कुछ अनियंत्रित महत्वाकाक्षा है, किन्तु वह इस वर्ग में रखी जाने योग्य नही। कल्याणी मे अवश्य उग्र स्वाभिमान के साथ अधिकार की राजसी तेजस्विता है, किन्तु नायक मे उसकी अनुरक्ति उसे विपक्ष मे नही प्रतिष्ठित होने देती। कदाचित् प्रसाद इस कृति मे ऐसे चरित्र की संरचना नही करना चाहते थे। यहाँ वे शायद तेजस्विता, उत्साह और भावना के आदर्शात्मक चित्रण का लक्ष्य सामने रखकर चले है, जिसमे उन्हे अपूर्व सफलता मिली है। पिछले नाटको मे तेज, त्याग और आत्माभिमान की जो गरिमा अंकित की गयी है, वह यहाँ अपने प्रकर्ष पर है। एक बात और। प्रसाद के सभी प्रमुख नारी-चरित्र यौवन और सौन्दर्य की जीवन्त प्रतिमाएँ है और वे पहली ही दृष्टि मे मन प्राण पर छा जाते हैं। प्रसाद के सौन्दर्याशंसी कवि हृदय का परिचय इनकी व्यक्तित्व-कल्पना मे पाया जा सकता है।

अधिकतर नाटको की कथावस्तु ऐतिह्य होने के कारण प्रसाद के नारी-पात्र प्राय: ही राजवशीय है, जिसके कारण उनके व्यक्तित्व में एक सहज असाधारणता और उच्च-वर्गीय आभिजात्य लक्षित होता है। इस नाटक में अलका, कल्याणी और कार्नेलिया के व्यक्तित्व ऐसे ही है। अलका गाधार की, कल्याणी मगध की और कार्नेलिया ग्रीक राज-कन्या है। इनमे अलका सर्वाधिक तेजस्विनी है। तेज कल्याणी मे भी कम नही, किन्तु वह व्यक्तिगत मानापमान की कुठाओ मे उलझकर सीमित हो जाने के कारण विशेष उदात्त नही बन पाया है। वह चन्द्रगुप्त के प्रति अनुरक्ति और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध के द्वन्द्व मे उलझी रहती है—एक उद्देश्य की पूर्ति मे वह असफल रहती है और दूसरे की पूर्ति के साथ उसकी इहलीला समाप्त हो जाती है। उसमे राजवशीय अहं सर्वाधिक है। पर्वतेश्वर द्वारा उसके सम्बन्ध की अस्वीकृति उसके आत्मदर्प को आहत करती है। अन्त मे उसका प्रतिशोध अवसर पाकर पर्वतेश्वर की हत्या के रूप में पूरा होता है। आत्म-हत्या वह इसलिए करती है कि उसने जिस पुरुष का मन मे वरण किया था, वह उसके पिता का विरोधी हुआ और उसके साम्राज्य का स्वामी बन बैठा। फिर, उसने उसके प्रेम का भी सम्मान नही किया। नाटकीय फलदृष्टि से भी उसकी आत्महत्या उपयुक्त ही है। जीवित रहकर वह कभी भी चन्द्रगुप्त का समर्थन न करती। यह भी सभव था कि वह प्रतिशोध का कोई दाँव पुनः खेलती। चाणक्य का उसकी आत्महत्या पर चन्द्रगुप्त से यह कहना कि आज वह निष्कंटक हुआ—क्रूरता का सीमान्त होने पर भी तथ्यपरक और आनुभविक है। कल्याणी के चरित्र की रीढ है उसका राजदर्प, जिसके लिए वह मर मिटती है।

इसके विपरीत अलका आरम्भ से ही व्यक्तिगत मानापमान से ऊपर उठी हुई है।

उसमें भी राजरक्त है, किन्तु वह वैयक्तिक अहं का योगवाही न होकर व्यापक आर्यावर्त की भावना का सम्पोषण करता है। ऐसा इसलिए भी है कि वह आरम्भ से ही देशद्रोह और देशभक्ति का द्वन्द्व देखती आ रही है। तक्षशिला के गुरुकुल में आम्भीक के कुचक्र की पोल खोलने वाला सिंहरण उसे अत्यधिक प्रभावित करता है। चन्द्रगुप्त का संयत पौरुष और आचार्य चाणक्य की राष्ट्रभावना भी उसमें राष्ट्रीय चेतना का बीजवपन करती है। वह आम्भीक को शक्ति भर पतन से रोकने का प्रयत्न करने का प्रण करती है, यद्यपि उसे आम्भीक के प्रत्यावर्तन का विश्वास नहीं। मानचित्र वाले प्रसंग में वह विद्रोह की स्पष्ट घोषणा कर देती है और यहीं से आम्भीक से उसका अलगाव हो जाता है। वह जनजागरण की जीवन्त चेतना है। अन्तिम अंक में वह राष्ट्रभैरवी बन जाती है। आर्यपताका धारण किये हुए वह प्रजा का नेतृत्व करती हुई तक्षशिला में उत्तेजना फैला देती है। उसका आह्वानगीत 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' उसके ज्वलन्त तेजोमय व्यक्तित्व के नितान्त अनुरूप है। अलका ने देश के लिए अपना सब कुछ समर्पित कर दिया है। व्यक्तिगत मानापमान की उसे कोई चिन्ता नहीं। चाणक्य की योजना के अनुसार वह पर्वतेश्वर को अपने सौन्दर्य-सम्मोहन में बाँधने के लिए सर्वथा तैयार है और उसका यह नाटक अपना लक्ष्य पूरा भी कर लेता है। उसमें उदात्त सौन्दर्य है, और है सम्मोहन की नारी-जनोचित कला। पर्वतेश्वर को वह पूरी तरह छकाती है। वह युद्धकला में भी निपुण है। मालव-युद्ध के अवसर पर वह सेवाकार्य करती हुई अपनी युद्धवीरता का भी परिचय देती है। वह एक आदर्श नारी रमणी है। प्रेम और विवाह की स्थितियाँ उसके तेज को दमित नहीं करतीं, वरन् उनसे उसे और भी निष्ठा, धैर्य और साहस का सम्बल मिल जाता है। प्रसाद ने समसामयिक स्वराज्य-आन्दोलन की साहस-शीला युवतियों का आत्मतेज देखा था, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में बराबर मिलेगी। अलका की परिकल्पना में यह प्रभाव सर्वाधिक मुखर और जीवन्त है।

ग्रीक राजकुमारी कार्नेलिया में आत्मतेज के स्थान पर राजकुलोचित आभिजात्य की विशिष्टता है। वह भावनामयी कुमारी है। सौन्दर्य-सम्मोहन उसमें इतना है कि चन्द्रगुप्त पहली ही दृष्टि में उसके प्रति आकर्षित हो जाता है। कार्नेलिया भी उसी समय से उसमें रुचि लेने लगती है, क्योंकि वह प्रकृत्या वीरता और महत्व का सम्मान करती है। यह रुचि तब प्रेम का रूप धारण करने लगती है, जब चन्द्रगुप्त उसे फिलिप्स के द्वारा अपमानित और धर्षित होने से बचाता है। यों, वह फिलिप्स के व्यक्तित्व से भी प्रभावित थी; किन्तु उसकी बर्बरता के कारण वह उसे पसन्द नहीं कर सकी। चन्द्रगुप्त की पौरुषमयी शालीनता देखकर उसके मन: पटल पर से फिलिप्स का प्रभाव सम्पूर्णत: मिट गया। कार्नेलिया दुखी है, क्योंकि वह उस व्यक्ति के प्रति आकर्षित है जिसके साथ उसके पिता का निर्णायक युद्ध होने जा रहा है। सुवासिनी से उसका यह कथन कि 'स्मृति बड़ी निष्ठुर है। यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है तो संसार ज्वालामुखी है'—

उसकी मर्मवेदना और सहनशक्ति का परिचय देता है। वह यथाशक्ति अपने पिता को चन्द्रगुप्त के विरुद्ध युद्धरत होने से रोकती है, किन्तु साथ ही अपने ग्रीक रक्त की वीरता को कलंकित भी नही होने देना चाहती। प्रेम और स्वाभिमान का यह द्वन्द्व उसे मथता रहता है। सिल्यूकस की पराजय पर वह एकबार चन्द्रगुप्त का नाम लेकर स्वाभिमान की रक्षा के लिए आत्महत्या करने को प्रस्तुत हो जाती है, किन्तु चन्द्रगुप्त ठीक अवसर पर पहुँच कर उसे बचा लेता है। कार्नेलिया का राजवशीय आभिजात्य उसे इस समय भी समर्पित होने से रोकता है और वह अपना प्रणय-मर्म अपने ही भीतर छिपाये हुए सिल्यूकस से भारत की सीमा से दूर ले चलने के लिए कातर प्रार्थना करती है। यवन-बाला होने पर भी वह आर्य चन्द्रगुप्त के नितान्त उपयुक्त है। भारत-साम्राज्ञी होने योग्य उसमे वशाय और व्यक्तिगत गरिमा है। भारत के प्रति उसका आकर्षण कुछ अधिक दिखा दिया गया है, जो अस्वाभाविक सा लगता है। कदाचित् प्रसाद जी ने ऐसा इस-लिए किया है कि इस विशिष्ट अभिरुचि के कारण वह परिणय के अवसर तक अपनी विदेशीयता से यथासभव मुक्त हो जाय और अधिकाशत भारत की ही लगने लगे। यह और बात है कि इस प्रयत्न मे उन्हे उतनी सफलता नही मिली, जितनी अपेक्षित थी।

इस नाटक के नारी-चरित्रो मे सर्वाधिक मोहक और मर्मस्पर्शी नाम है—मालविका। प्रसाद ने अत्यन्त सक्षिप्त किन्तु कोमलतम ताने-बाने से उसे बुना है। इतनी विरल रखाओ मे इतना पूर्ण और मर्मग्राही चरित्र शायद ही अन्यत्र कही मिले। सिन्धु देश की यह पर्यटनप्रिया बाला सरलता और सहृदयता की जीवित प्रतिमा है। भावुकता, सरलता और कलात्मकता का एक अद्भुत समवाय है उसका व्यक्तित्व। तक्षशिला मे राजकुमारी अलका से उसे कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वह वही रहने लगी। उसके लिए उसने उद्भाड मे सिन्धु पर बनने वाले सेतु का मानचित्र बनाने का खतरा उठाया। अलका ने उसे घायल सिंहरण के साथ भेजा, तो वह सहर्ष मालव-देश चली आयी। उसमे अपूर्व कर्मोत्साह है। न उसे किसी का भय है और न कोई चिन्ता। सरलतापूर्वक वह हर आत्मीय का आदेश-निर्देश पूरा करने को सदैव तत्पर रहती है। नृत्य और सगीत-कला मे वह प्रवीण है। चाणक्य की योजना के अनुसार वह राक्षस-सुवासिनी के परिणय मे व्यवधान डालने के निमित्त नन्द के रगशाला मे अपनी नृत्यकला के ही माध्यम से प्रवेश पाती है। उसके स्वर की स्वर्गीय मधुरिमा थके-हारे चन्द्रगुप्त के लिए वरदान है। रणभेरी के पहले वह मधुर मुरली की एक तान—मालविका का गीत-सुनने का आकाक्षी रहा करता है। प्रकृति का परिवर्तनशील सौन्दर्य मालविका की कोमल भावना-कल्पना को हिलोरता रहता है। विचित्र निस्संगता-भरी लगन है उसमे। मालव के उद्यान के कोने मे बैठी हुई वह सारे राजनीतिक अभिनय देखती रहती है। सेवासुश्रूषा के कार्य मे भी उसे उतना ही सुख मिलता है—चाहे वह घायल सिंहरण की सेवा हो या अन्य किसी सैनिक की। चन्द्रगुप्त उसकी इस सरलता पर मुग्ध हो जाता है। यह

सरल हृदया बाला भी मागध चन्द्रगुप्त के अद्भुत कर्मकौशल और मोहक व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित होती है। अपने प्रति उसका आकर्षण प्रकट होते ही वह द्रवित होने लगती है—उसका हृदय स्नेह से चिकना होने लगता है और वह बिछलने के सुखद भय से अभिभूत हो जाती है।

कुमार सिंहरण की सहृदयता ने भी उसे प्रभावित किया था, किन्तु वह उसकी सहज सरल प्रतिक्रिया मात्र थी, रीझ नही,। रीझती वह चन्द्रगुप्त पर है और अपनी इस रीझ का उसे महत्तम मूल्य चुकाना पडता है। चाणाक्ष चाणक्य उसकी भावनात्मक दुर्बलता पकड चुका है और नायक की रक्षा के निमित्त अपने महायज्ञ मे उसकी बलि उसी की अनुमति से देने का निश्चय कर लेता है। मालविका को चन्द्रगुप्त के लिए मर-मिटने मे भी सुख है। अपने विवेक के विरुद्ध उसने राक्षस-सुवासिनी-परिणय के अवसर पर उसी के लिए असत्य भाषण किया था। अब यदि चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उसका आत्मदान आवश्यक है, तो वह भी शिरोधार्य है। विजय-यात्रा के अन्तिम चरण में उद्विग्न चन्द्रगुप्त उसके आगे अपना हृदय खोलने लगता है—"मालविका, तुम मेरी ताम्बूलवाहिनी नही हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मै दरिद्र हूँ, कि नही, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नही।" मालविका का नारीत्व उमड आता है, जिसके प्रतीक रूप मे वह अपनी बनायी माला उसके गले मे डाल देती है, किन्तु साथ ही वह उसे दुर्बल-विशेषकर अपने लिए नही होने देना चाहती, क्योकि अभी चन्द्रगुप्त के सामने कितने ही भयानक संघर्ष है, क्योकि उस जैसे महापुरुष मे साधारण-जन-सुलभ दुर्बलता न होनी चाहिए, क्योकि चचल वेगशील मन का निग्रह करना ही महापुरुषो का स्वभाव है। चन्द्रगुप्त का मन वह पा चुकी है, अतः उसे पता है कि अभी-अभी कुछ देर बाद घटित होनेवाली योजना का कुछ भी आभास उसे मिल गया, तो फिर सारा घटनाप्रवाह थम जायेगा या अन्यथा मुड़ जायेगा, जिसमें चन्द्रगुप्त की हानि हो सकती है। फिर, उसे अपने को भी तो सम्हाले रखना है। यदि एक बार भाव-प्रवाह मे बह गयी, तो फिर सारे बाँध टूट जायँगे। अत वह कम से कम बोलती है और जितना भी बोलती है, वह बोलने पर अंकुश लगाने जैसा है। चन्द्रगुप्त उस पर पूरी तरह निर्भर करता है और उसके गीत मे डूब जाता है। मालविका अपने प्रियतम को चन्द्रसौध मे भेज देती है—उस समय शयनार्थ और भविष्य में सुखी जीवन बिताने के लिए और वह स्वयं चन्द्रगुप्त की शय्या पर प्राणों मे अभूतपूर्व मादकता का अनुभव करते हुए शयित होती है—अपने चिरदुखी जीवन का अन्त करने के लिए। आज चन्द्रगुप्त की प्राणरक्षा के लिए वह आत्मदान कर रही है, अत. वह अपने अनुराग को रक्त से भी रगीन बना लेती है, स्मृति को अपनी ही तरह सोने का आदेश देती है। अन्यथा स्थिति में मालविका-चन्द्रगुप्त के शब्दो में "वह स्वर्गीय कुसुम" भारत-साम्राज्ञी न बनता, कौन जाने ! कदाचित् इसी आशंका को अन्तिम रूप से निरस्त कर देने के लिए कठोरकर्मा

चाणक्य ने अपनी कूटनीति की वेदी पर उसकी बलि दे दी। मालविका प्रसाद का एक अविस्मरणीय नारी-चरित्र है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना ने केवल राज्य और सुख का त्याग किया था, 'चन्द्रगुप्त' की मालविका अपने प्राण ही निछावर कर देती है। उसने एक बार कहा था—'प्राण तो धरोहर है, जिसका होगा वही लेगा, मुझे भय से इसकी रक्षा करने की आवश्यकता नही—और उसने सचमुच यह धरोहर उसी पर निछावर कर दी, जिसको उसने इसका स्वामी मान लिया था। प्रसाद की चारित्रिक सकल्पनाओ मे वह अन्यतम है—सबसे अलग और सर्वाधिक गरिमामयी। मालविका प्रसाद के कवि-मन का वह गीत है, जो अनगाया ही रहा और फिर भी जो मधुरतम है।

शकटार की कन्या सुवासिनी सुन्दरियो की रानी है। अभिनय और विलास की कलाओ मे वह प्रवीण है। राजकोपानल मे पिता और परिवार के पड जाने पर उसने अन्तत' अभिनय का पथ अपनाया। पहले वह सामाजिक उत्सवो मे प्रजारजन करती थी, किन्तु बाद मे विलासी नन्द उसे अपनी अभिनयशाला की रानी बना लेता है। सामाजिक क्षेत्र मे उसके रूप-गुण की प्रशसा होती है, किन्तु उसे कुलीन युवती का सा सम्मान नही मिल पाता। इसीलिए वह बौद्धमत की ओर अभिमुख होती है। उसके सम्मोहन मे बंधा राक्षस उसी की प्रेरणा से राजचक्र मे बौद्धमत का समर्थन करने के लिए प्रतिश्रुत होता है। पहले वह चाणक्य के प्रति अनुरक्त थी, किन्तु सामयिक अन्तराल, पारिवारिक विध्वस और राजनीतिक उपप्लव के कारण वह राक्षस पर केन्द्रित हो जाती है, उसकी धरोहर बन जाती है। वह महत्वाकाक्षिणी अवश्य है, किन्तु अपने स्त्रीत्व के मूल्य पर कुछ भी पाना उसे स्वीकार नही। वह मगध सम्राट् नन्द की भोग्या—उसकी विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नही रहना चाहती। नन्द की अभिनयशाला में रहना स्वीकार करके भी वह यह नही भूलती कि वह दासी है और उसे मात्र अभिनय करना है। उसमे अपने स्तर का प्रशसनीय स्वाभिमान है। अपने पिता शकटार से उसे गहरी सहानुभूति है। शकटार के प्रकट न होने तक उसने स्वेच्छा से चाहे जो कुछ किया हो, किन्तु उनकी उपस्थिति मे वह उनके मतामत का आदर करने के लिए कृतसकल्प है। इसीलिए परिणय में व्याघात पड जाने पर जब राक्षस उससे पुन. अनुरोध करता है, तो वह उसका प्रणय अस्वीकार न करते हुए भी पिता की अनुमति आवश्यक मानने लगती है। पुरुष-मन की उसे परख है। उसकी गहरी यथार्थ दृष्टि यह भली-भाँति जानती है कि राक्षस उसके रूप-गुण का सच्चा ग्राहक है, परन्तु यदि विवाह के बिना अन्य किसी भी प्रकार से वह उसकी हो जाती तो वह अधिक सुखी होता। चाणक्य के प्रति उसका अनुराग धीरे-धीरे श्रद्धा का रूप धारण करता जाता है। एक बार पाषाणहृदय चाणक्य उसके प्रति दुर्बल होने लगता है, किन्तु वह उसे सम्हाल लेती है, संयत कर देती है।

सुवासिनी की अभिनय-कला नाट्यवस्तु के फलोदय में भी योग देती है। कार्ने-

लिया के हृदय मे पडे हुए प्रणय-बीज को अंकुरित और पल्लवित करना उसी का काम है, जिसके फलस्वरूप वह अभिजातजनोचित सकोचशीला यवनबाला अपने पिता सिल्यूकस के आगे अपना मन उद्घाटित कर सकी। इसी प्रसंग में सुवासिनी के कवित्व और लालित्य का भी परिचय मिलता है। कार्नेलिया से बातें करते हुए प्रेम के सम्बन्ध मे उसकी उक्तियाँ श्रेष्ठ काव्यगुण और भावनात्मक लालित्य से सम्पन्न है। प्रेम और यौवन के शीतल मेघो से प्रतिच्छायित यह लहलही लता-सुवासिनी इस नाटक का एक आकर्षक नारी-चरित्र है।

रस-योजना की दृष्टि से इसमे वीर की प्रधानता है। यो, प्रसाद जी की धारणा के अनुसार शान्तरस सर्वसमाहारी है और अन्य नाटको की भाँति यहाँ भी उसे ही सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया गया है, किन्तु नाट्य-व्यापार की सक्रियता के विचार से वीर को ही प्रधान मानना होगा। वीरता के जितने अधिक और ज्वलन्त आश्रय इस कृति मे है, उतने एक साथ सामान्यत अन्यत्र नही मिलेगे। विशेषता यह है कि प्रत्येक की दीप्ति अपने स्थान पर अलग और अक्षुण्ण है।

चन्द्रगुप्त वीरोत्साह का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है। सिकन्दर के सामने उसकी निर्भीकता, सिल्यूकस से होनेवाले अन्तिम और निर्णायक युद्ध मे उसकी पौरुषमयी आत्मनिर्भरता और युद्ध के अवसर पर उसकी अप्रतिहत त्वरा उसके वीर व्यक्तित्व के अनुरूप ही है। भय जैसी किसी वृत्ति से उसका परिचय है ही नही। वह युद्धवीर होने के साथ-साथ अथक कर्मयोद्धा भी है। उसका वीरोचित औदार्य शालीन दयावीरता का श्रेष्ठ उदाहरण है। सिल्यूकस को पराजित करके भी उसे सम्मानपूर्वक उसके शिविर मे बिना बदी किये पहुँचा देना उसका ही काम है। उसका चिरसहचर सिंहरण भी निर्भीकता और वीरता का अन्यतम उदाहरण है। पहले ही दृश्य में आम्भीक से उसका वार्तालाप उसके वीर चरित्र का उद्घाटन कर देता है और वही भावप्रवाह उसमे अन्त तक विद्यमान रहता है। अद्वितीय वीर सिकन्दर को वह सम्मुख-युद्ध मे घायल कर देता है। पंजाब का राजा पर्वतेश्वर युद्धवीरता में बेजोड है। सिकन्दर को उसमें हर्क्युलिस की आत्मा दिखाई देती है।

नारी-पात्रो में अलका और कल्याणी वीरता की प्रतिमूर्ति है। अलका का उत्साह अक्षय है और वह राजसुख त्यागकर राष्ट्र-जागरण का शख फूंकती है। सम्मुख-युद्ध से भी उसे भय नही। मालव के युद्ध मे उसकी रणकला का परिचय मिल जाता है। कल्याणी पर्वतेश्वर-सिकन्दर के युद्ध में अपनी साहसशीलता का परिचय देती है।

प्रतिपक्षी यवनो मे भी सच्चे वीरो की जीवन्त प्रतिमाएँ है। सिकन्दर अद्वितीय वीर है और उसमें वीरोचित उदारता है। उसका सेनापति सिल्यूकस एक कर्मठ सेनानी है। फिलिप्स भी वीरता में कम नही। चन्द्रगुप्त को द्वन्द्व-युद्ध के लिए सहसा ही ललकार

देना उसकी युद्धप्रियता और वीरोत्साह का एक प्रभावशाली उदाहरण है। प्रतिपक्ष के इन ग्रीक वीरों मे महत्वाकाक्षा और उसकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित सभी कुछ कर गुजरने के लिए तैयार रहने की प्रकृति उन्हे वीररस का उत्तम आश्रय नही बनने देती, किन्तु प्रभावित तो वे करते ही है। यह नाटक वीरताव्यजक उक्तियो का अक्षयकोष है। अलका का गीत 'हिमाद्रि तुग-शृ ग' से भी वीररस की सिद्धि का एक सशक्त उपकरण है।

वीर का सहयोगी शृङ्गार-रस इस नाटक मे अपने प्रकृत रूप मे विद्यमान है। चन्द्रगुप्त का मालविका और कार्नेलिया के प्रति आकर्षण, राक्षस-सुवासिनी का प्रणय-प्रसग तथा सिहरण और अलका का उदात्त प्रेम शृङ्गार-रस के पोषक स्थल है। कदाचित् प्रसाद यहाँ रतिभाव की वैविध्यमयी छवियाँ आकना चाहते थे। उसके उदात्त, गंभीर, चचल, अभिजात, दर्पोद्धत एव वासनाभिमुख पहलुओ को उन्होने बडे कौशल के साथ प्रसंगो की लघुतम सीमाओ में बाँध दिया है। प्रेम की उदात्तता सिंहरण और अलका की आदर्श निष्ठा मे विद्यमान है। उनका रागभाव कर्तव्यबोध की दीप्ति से सदैव भास्वर रहता है, उसे मलिनता की छाया भी नही छू पाती। प्रेम की गंभीरता सर्वाधिक मालविका के व्यक्तित्व मे है। वह अपने प्रियतम के लिए प्राण दे देती है, किन्तु उसे दुर्बल या असफल नही बना सकती। सुवासिनी के प्रेम मे चंचलता का सौन्दर्य है। उसके विलासपूर्ण अभिनय की कला उसका प्रेम मे चचलता का सौन्दर्य है। उसके विलासपूर्ण अभिनय की कला उसका आकर्षण बढा देती है और वह उसी के माध्यम से राक्षस को सम्मोहित किये रहती है। कार्नेलिया के प्रेम मे आभिजात्य है। उसकी सकोचमयी शालीनता अभिजात पारिवारिकता का एक सुखद प्रभाव मन पर छोड जाती है। कल्याणी ने भी केवल एक पुरुष-चन्द्रगुप्त-से प्रेम किया है, किन्तु उसका राजदर्प और स्वाभिमान उसे प्रणय-प्रार्थिनी नही बनने देता। पर्वतेश्वर और नन्द के प्रणय या कि विलास के प्रसंग रतिभाव के वासनात्मक पहलू सामने रखते है। कहना न होगा कि आत्म-तृप्ति के वैयक्तिक स्वार्थभाव का प्राधान्य होने के कारण इन प्रसगो मे रस-संचार की क्षमता नही। कल्याणी का प्रणय भी अपनी एकागिता और रूक्षता के कारण रसदशा तक नही पहुँचता। शेष सारे प्रकरणों में शृङ्गार-रस की सुन्दर व्यंजना मिलेगी। मालवोद्यान मे चन्द्रगुप्त-मालविका तथा यवन-शिविर मे सुवासिनी-कार्नेलिया के वार्तालाप इस दृष्टि से विशेष सुन्दर बन पडे है। कार्नेलिया के प्रति सुवासिनी का रागोद्दीपन-प्रसंग अपनी मोहकता और लालित्य मे अप्रतिम है। प्रसाद का कवित्व जैसे यहाँ अपने सहजतम रूप मे मुखर हो उठा है—'धडकते हुए रमणीवक्ष पर हाथ रखकर उसी कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है। और राजकुमारी! वही काम-सगीत की तान सौन्दर्य की रगीन लहर बनकर युवतियो के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढाया करती है।' मालविका, राक्षस और सुवासिनी के गीत भी शृङ्गार-रस की सिद्ध में योगदान

पूर्ण प्रतीत होते हैं। अंक योजना भी ऐसा ही प्रभाव डालती है। सिकन्दर के प्रतिरोध का कार्य दूसरे अंक में पूरा हो जाता है और लगता है कि कथा पूर्ण हो गयी। तीसरे अंक के अन्त मे नन्द का पूर्ण पतन और चन्द्रगुप्त का सम्राट् बन जाना पुन: फलागम का आभास देता है। अन्तिम अंक मे सिल्यूकस का आक्रमण, उसका पराभव और सौहार्द-सन्धि या सम्बन्ध एक अलग ही वृत्तान्त है, जो अपने आपमे पूर्ण है।

नाटककार ने चाणक्य के उद्देश्य को व्यापकता को आधार बनाकर उपर्युक्त तीन प्रकरणो को संयोजित करना चाहा है किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये तीनो ही प्रसग अपने आपमे इतने पूर्ण है कि प्रत्येक मे स्वतन्त्र नाट्यवस्तु होने की क्षमता है और चाणक्य की व्यापक परिकल्पना के बावजूद वे परस्पर बहुत सम्बद्ध नही प्रतीत होते। यदि सिकन्दर के पराभव और नन्द के विनाश मे कुछ कमी रहने दी गयी होती, तो अन्तिम अंक मे वास्तविक चरमसीमा तथा फलागम दिखाये जा सकते थे और उस रूप मे कथानक मे अपेक्षाकृत अधिक अन्विति आ जाती। किन्तु वैसा न होने के कारण इसमे तीन चरम सीमाओ और तीन कार्यों का आभास होने लगा है। सबको एकान्वित करने का प्रयास श्लाघ्य होने पर भी प्रयास ही है, सिद्धि नही। इस बिखराव का एक कारण यह भी है कि इस नाटक की कथा के तीन केन्द्र हो गये हैं—मगध, मालव और गाँधार-प्रासगिक कथाओ का आधिक्य इस त्रिकेन्द्रीकरण या विकेन्द्रीकरण का ही एक अनिवार्य परिणाम है। नाटककार ने मगध को धुरी बनाकर समग्र कथाचक्र को अन्विति देने का प्रयत्न किया है और इन कथा केन्द्रो की दूरियाँ पाटने के लिए नायक और नियामक बराबर भाग दौड करते रहते है, किन्तु बात कुछ अधिक नही बनती। वस्तु-विन्यास के संदर्भ में अन्तिम प्रभाव यही शेष रहता है कि चन्द्रगुप्त से प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से सम्बन्धित बहुत सारे वृत्तो को क्रमपूर्वक रख दिया गया है और इस प्रकार एक ऐतिहासिक युग का परिदर्शन कराया गया है।

कथानक के इस बिखरावभरे विस्तार के ही कारण नाटककार को कुछ ऐसी नाटकीय युक्तियों का आश्रय लेना पडा है, जिन्हे वह अन्यथा स्थिति में शायद इतना महत्व न देता। संयोगतत्व, पूर्वाभास और हत्याओ का बाहुल्य ऐसो ही युक्तियाँ है जो वस्तुविन्यास की असाध्यता में अपनायी जाती रही है। यो, इनका प्रयोग नाटको मे होता ही रहा है और अधिकतर इनसे नाटकीय सौन्दर्य मे अभिवृद्धि ही होती रही है, किन्तु इनका अपेक्षाधिक्य विन्यास-दौर्बल्य का ही सूचक है। 'चन्द्रगुप्त' मे इनकी भरमार ऐसा ही प्रभाव डालती है। संयोगतत्व का बार-बार उपस्थित होना घटना प्रवाह को अस्वा-भाविक बना देता है। इस नाटक मे ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें किसी पात्र की जीवन रक्षा आकस्मिक रूप से हो गयी है। पराभव और विफलता से क्षुब्ध पर्वतेश्वर आत्म-हत्या करने ही जा रहा है कि चाणक्य प्रकट हो जाता है और उसे सम्हाल लेता है। राक्षस ठीक उसी समय नन्द के विलासकक्ष मे कदम रखता है, जब सुवासिनी उसकी

कामुकता का शिकार बनने ही वाली है। पिता की पराजय से क्षुब्ध कार्नेलिया आत्म-हत्या करने के लिए छुरी निकालती ही है कि चन्द्रगुप्त वहाँ पहुँच जाता है और उसके हाथ से छुरी ले लेता है। चीते से कल्याणी और चन्द्रगुप्त की रक्षा के प्रसग भी ऐसे ही है। पता नही कल्याणी की आत्महत्या के अवसर पर ऐसा ही कोई चमत्कार क्यः नही हुआ। किन्तु उससे कदाचित् अन्तिम प्रयोजन की सिद्धि मे व्यवधान पडता। अतः नाटककार वैसा नही होने देता। पूर्वाभासो की अधिकता कथा की रोचकता मे व्याघात उत्पन्न करती है। दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी के कारण आगे की घटनाएँ देवी विधान या चमत्कार जैसी लगने लगती हैं। अपेक्षाकृत छोटे किन्तु अनेक पूर्वाभास इस नाटक की वस्तुगत रोचकता को घटाते रहे हैं। हत्याओ या आत्महत्याओ का बाहुल्य वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण की कमजोरी का द्योतक है।

इस नाटक मे कई पात्रो को इसीलिए समाप्त हो जाने दिया गया है कि वे असाध्य हो गये थे। पर्वतेश्वर, कल्याणी और मालविका ऐसे ही हतभागी चरित्र है। पर्वतेश्वर और कल्याणी की समाप्ति शायद चन्द्रगुप्त के निष्कटक प्रशासन के लिए अपेक्षित थी, किन्तु बेचारी मालविका ने कौन सा अपराध किया था कि उसकी भावुकता का अनुचित लाभ उठाकर उसकी हत्या करा दी गयी। वह तो यों भी कार्नेलिया को अपने हाथो बधू के वेश में सजाकर चन्द्रगुप्त तक पहुँचा सकती थी। चन्द्रगुप्त के लिए जो बाला प्राण दे सकती है, वह इतनी क्षुद्र और स्वार्थिनी कदापि न होती कि उसकी काम-सिद्धि मे बाधक बने। किन्तु चाणक्य को भरोसा हो, तब न। उसे नायक को निष्कटक साम्राज्य सौंपना है और जिसे भी वह कटक मान लेता है, उसका मर-खप जाना सुनिश्चित है। माल-विका के जीवित रहते शायद सिल्यूकस अपनी बेटी सौंपने को तैयार न होता, शायद कार्नेलिया ही अस्वीकार कर देती, या शायद चन्द्रगुप्त ही कार्नेलिया से विरत हो जाता—किन्तु ये सारी सम्भावनाएँ दूसरे पात्रो की अन्त:प्रकृति से सम्बन्ध रखती है, न कि स्वयं मालविका से। उसने चन्द्रगुप्त से प्रेम किया था, कोई अपराध तो नहीं। स्पष्ट है कि यह सब कथानक के विस्तार को एकसूत्र करने के प्रयास मे चाणक्य को आवश्यकता से अधिक छूट या महत्व देने का परिणाम है। उसकी नीति को फलित होना है, उसके संकल्प या प्रण को पूरा होना है और उसके सोचे हुए को चरितार्थ होना है—इसके अतिरिक्त शेष कुछ गौण है, नगण्य है, साधन या माध्यम मात्र है। अस्तु, कथावस्तु के असामान्य विस्तार के कारण 'चन्द्रगुप्त' में विन्यास-शैथिल्य लक्षित होता है। कथानक के ढांचे में परिवर्तन या संक्षेपण के अतिरिक्त इसका अन्य उपाय था भी नही। प्रसाद जैसा कुशल नाटककार इस स्थिति से अनभिज्ञ न रहा होगा।

वास्तविकता यह है कि शायद अपनी इतिहासपरक गवेषणाओ को समग्रत: सामने रखकर भारत के अतीत गौरव का एक पूर्ण चित्र आँकना चाहते थे और अपने इस उद्देश्य में उन्हे पूरी-पूरी सफलता भी मिली है। उन्हे यह लक्ष्य सामान्य सुविन्यस्त

नाटकीयता से वृहत्तर लगा होगा, अत उसकी कुछ अपेक्षाओ का उपेक्षित होना उन्हें अधिक नही अखरा। यो भी, अपने ऐतिहासिक नाटको मे वे नाटकीयता को अपेक्षा कथ्य के प्रति अधिक प्रतिबद्ध रहे है। इस कृति मे यह प्रतिबद्धता कुछ अधिक आग्रहपूर्ण हो उठी है और जहाँ इसके कारण कतिपय संरचनात्मक दोष उत्पन्न हो गये है, वही इससे कथ्य को उदात्तता के रूप मे बहुत कुछ ऐसा भी दिया है जो श्लाघ्य और अविस्मरणीय है। आर्य वीरत्व का ऐसा भव्य निदर्शन कदाचित् अन्यत्र न मिलेगा। नाटकीय गुणो की भी दृष्टि से यह कृति उपेक्षणीय नही ठहरती। अपनी कमियो के बावजूद यह प्रसाद के श्रेष्ठतम नाटको मे से एक है। काल और घटनाओ के विस्तार-बाहुल्य को जिस कौशल के साथ उन्होने छोटे-छोटे दृश्यो मे समेटा—सहेजा है, वह सराहनीय है। बहुत सारा वृत्त सूच्य के रूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है। अनेक दृश्य, जो पहली दृष्टि मे अनावश्यक लगते ह, अपने मे महत्वपूर्ण सूचनाएँ सहेजे हुए हैं। तत्कालीन देशकाल के सास्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवेश के प्रस्तुतीकरण के लिए ऐसी बहुसख्यक दृश्य योजना एक अनिवार्यता थी।

सक्रियता इस नाटक की दूसरी महत्वपूर्ण विशेपता है। प्रसाद का यह एकमात्र नाटक है, जिसमे एक भी दीर्घसूत्री पात्र नही है। चाणक्य अपनी प्रतिज्ञापूर्ति हो जाने पर कुछ भावुक और दार्शनिक अवश्य हो उठता है, किन्तु एक तो उसकी इस मनोदशा को अधिक प्रसरित नही होने दिया गया है और दूसरे उसकी चारित्रिक परिणति की यह एक स्वाभाविक आकाक्षा थी। सुवासिनी और कार्नेलिया का काव्यमय वार्तालाप भी एक स्पृहणीय नाट्य-प्रयोजन की पूर्ति करता है। यो, उसका कवित्व अपने आप मे एक रमणीय प्रयोजन है। यह कहना शायद ही अत्युक्तिपूर्ण हो कि यह स्थल प्रसाद की गद्य-कृतियो मे सर्वाधिक लालित्यपूर्ण है। विशेषता यह है कि इस भावनात्मक परिवेश मे भी त्वरा और सक्रियता बरकरार रही है। वाक्य छोटे हैं और बहुत थोडे शब्दो मे सब कुछ कह दिया गया है। अन्य कृतियो की भाँति लम्बे स्वगत या संवाद इसमे नही। सवादों की त्वरा इस नाटक मे आद्योपान्त मिलेगी और यही वीररस की प्रतिष्ठा के लिए उपयुक्त था भी। सवादीय त्वरा की विशिष्ट पद्धति कथोद्धात का प्रयोग भी इस प्रतिष्ठा मे योग देता है।

इस नाटक मे कई स्थलो पर आकस्मिक रूप से आगत पात्र तत्क्षण कही गयी बात के किसी अश को दुहराते हुए प्रसंगाक्षेप करते है और नाटकीय सक्रियता को मनोवैज्ञानिक दीप्ति देते है। यहाँ वाक्यरचना और भी सक्षिप्त एव चुस्त हो उठती है। इस कृति का यह एक अलग सौन्दर्य है कि बडी-बडी आवेशपूर्ण बातें भी सधे हुए छोटे-छोटे वाक्यो मे कह दी गयी हैं। पहले दृश्य में ही सिंहरण और आम्भीक का वार्तालाप इस वैशिष्ट्य का परिचय दे देता है। बहस का विषय सैद्धान्तिक होने पर भी खण्डन-मण्डन आवेगमय है और समग्र प्रभाव सक्रियता का ही पडता है। आगे चलकर तो घटनाओ का

घात-प्रतिघात अन्त तक अनवरत चलता रहता है। बिजली के समान जैसा फुर्तीला इसका कथानायक है, वैसी ही क्षिप्र इसकी संवादयोजना भी। क्रिया व्यापारो की तो इसमे एक शृंखला ही बनती चली गयी है। तीन प्रमुख प्रकरण और इतने ही प्रमुख कथा केन्द्र होने के कारण इसकी नाट्यवस्तु स्वाभाविक रूप से ही घटना बहुल है। ये सारी घटनाएँ समसामयिक राजनीति और राष्ट्रनीति से सम्बद्ध है, अत वे प्रकृत्या द्रुत-गामिनी है। उन सबका केन्द्रीय चरित्र चन्द्रगुप्त स्वय बहुत सोचने-विचारने मे विश्वास नही करता और यदि ऐसी तथाकथित दुर्बलता उसमे कभी आती भी है, तो चाणक्य उसे झकझोर देता है कि उसे केवल निर्देशानुसार कर्म करना है—चिन्तन उसका विषय नहीं। नाटकीय त्वरा निश्चय ही इसमे सर्वाधिक है।

द्वन्द्व का तत्व भी इस नाटक की एक उल्लेख्य विशिष्टता है। यो, इसमें बहिर्द्वन्द्व ही प्रधान है, किन्तु अन्तर्द्वन्द्व का भी अभाव नही। प्रथम का सम्बन्ध पुरुषपात्रो से है और द्वितीय का नारीपात्रो से। बाह्य द्वन्द्व के आश्रय है— चन्द्रगुप्त, सिंहरण, चाणक्य, नन्द, पर्वतेश्वर, राक्षस, शकटार, सिकन्दर, सिल्यूकस और फिलिप्स। नाटकीय क्रिया-शीलता बहिर्द्वन्द्व के प्राधान्य के कारण आद्योपान्त बनी रहती है। षड्यन्त्र, कूटचक्र, युद्ध, हत्या, आत्महत्या आदि के रूप मे यह समूची कथा को अन्त तक जीवन्त बनाये रखता है। अन्तर्द्वन्द्व के आधारभूत चरित्र कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका और किसी सीमा तक सुवासिनी है। कार्नेलिया इससे सर्वाधिक ग्रस्त है। एक ओर उसका समर्पण-शील भावुक हृदय है, दूसरी ओर उसका नैतिक कर्तव्यबोध। पिता और प्रेमपात्र— दो में से उसे एक को चुनना है, क्योकि दोनो एक-दूसरे के विरुद्ध खड्गहस्त हैं। द्वन्द्व के चरमबिन्दु पर आकर उमे आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ नही सूझता। सन्धि के कारण उसके द्वन्द्व को समाधान मिल जाता है। कल्याणी को यह समाधान नही मिल पाता, अत उसकी आत्महत्या चरितार्थ हो जाती है। मालविका आत्मदान के कुछ पहले बडे कठोर सयम से अपने को सम्हालती है। उसका मन संघर्ष अनकहा ही रहा है और अपनी इस मूकता मे वह मर्मवेधी भी हो उठा है। सुवासिनी का व्यक्तित्व इतना गहरा नही, किन्तु चाणक्य, राक्षस और शकटार को लेकर वह भी उलझन में डूबी ही है। कथानक के समान ही इस नाटक का द्वन्द्व भी बिखरा हुआ है, अतः उसमे वैसा गाम्भीर्य और तीखापन नही जैसा कि 'स्कन्दगुप्त' में है; किन्तु यदि वैविध्यमयी चरित्र-व्यजना मे कोई सौन्दर्य हो सकता है तो वह निश्चय ही इस नाटक में है।

घटना प्रधान कथानक होने के कारण कौतूहलमयी रोचकता इसकी अनिवार्य आवश्यकता थी, अत. नाटककार ने छोटे-छोटे किन्तु अनेक विरोधो या विरोधाभासो की सृष्टि कर दी। कठोरकर्मा चाणक्य का अपने प्रतिद्वन्द्वी राक्षस की प्रणयानुरक्ता सुवासिनी से लगाव, कल्याणी की पितृद्वेषी चन्द्रगुप्त में अनुरक्ति और चन्द्रगुप्त का यवन आक्रामक की पुत्री के प्रति आकर्षण नाटकीय अन्तर्विरोध के बड़े कोमल, किन्तु दूरगामी तन्तु हैं।

अभिनय और मचसज्जा की दृष्टि से भी इस नाटक मे, कथाविस्तार के अतिरिक्त, कोई कमी नही। तत्कालीन वातावरण का पूरा चित्र यहाँ मिलेगा। अन्य नाटको की भाँति प्रसाद यहाँ भी राजनीति मे धर्म के हस्तक्षेप की समस्या को उभारना नही भूले है। ब्राह्मण-बौद्ध-सघर्ष की चेतना उनके साहित्य मे सर्वत्र मिलेगी। सर्जन के मध्ययुग मे वे बौद्धमत की ओर आकर्षित हुए थे, किन्तु ऐतिहासिक गवेषणा से बौद्धो के राष्ट्रद्रोही सिद्ध हो जाने पर उन्होने परवर्ती कृतियो मे उन्हे पतित और परास्त दिखाया है। यह नाटक उनकी इस अवधारणा का एक पुष्ट प्रमाण है। 'स्कन्दगुप्त' में उन्होने समझौते का मार्ग अपनाया था, किन्तु 'चन्द्रगुप्त' तक आते-आते वे ब्राह्मणत्व के पक्षधर हो उठे, क्योकि भारतीयता की प्रतिनिधि ब्राह्मण-सस्कृति ही हो सकती है, बौद्ध नही। प्रसाद के नाटको मे श्रेष्ठता के विचार से 'स्कन्दगुप्त' के बाद इसे ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। यो, कुछ साहित्य प्रेमी और समीक्षक इस विचार के भी हो सकते है कि यही उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

ध्रुवस्वामिनी अभिनव नाट्यप्रयोग

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की अन्तिम किन्तु अन्यतम नाट्यकृति है। प्रसाद आरम्भ से ही हिन्दी-नाट्यकला को जिस दिशा मे ले जाने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं, उसकी एक निश्चित प्रतिच्छवि 'ध्रुवस्वामिनी' मे देखी जा सकती है। अपनी इस कृति मे वे सर्वाधिक रूढिमुक्त और नाटकीय यथार्थ के आग्रही सिद्ध हुए है। विशेष उल्लेखनीय यह तथ्य है कि 'थीसिस-प्ले' के वर्ग की रचना होते हुए भी यह नाटकीय गुणो से भरी-पुरी है। यह कहना असंगत न होगा कि यह प्रसाद का एकमात्र नाटक है, जिसमे नाट्यवस्तु और नाट्यशिल्प का सम्यक् विनियोजन एवं सामजस्य लक्षित होता है। प्रगतिशील अथवा यथार्थपरक आधुनिक कथ्य को नाटककार ने वैसी ही शैली भी दी है और यही उसकी सबसे बडी उपलब्धि है। यह अकेला नाटक है जिसमे औपन्यासिक प्रवृत्ति का अभाव है। सघर्ष और द्वन्द्व की इतनी सघन नाटकीयता अन्यत्र नही मिलेगी। इसे यथावत् अभिनीत किया जा सकता है, जबकि अन्य नाटकों का मचन बिना काट-छाँट के सभव या कि समीचीन नही। प्रसाद की प्रयोगशीलता का यह एक अभूतपूर्व निदर्शन है। इसीलिए इसे 'अभिनव प्रयोग' कहकर प्रशसित किया जाता है। प्रसाद की स्वच्छन्दतावादी नाट्यधर्मिता जितनी यहाँ सयत है, उतनी और कही नही। कल्पना और कवित्व को यहाँ अप्रत्याशित अनुशासन मे रखा गया है और फिर भी समस्या कोरी बौद्धिक न रहकर भावनात्मक जीवन्तता से ओत-प्रोत रही है। समस्याप्रधान होने पर भी यह समस्या-नाटक नही और वैचारिक नाटक (थीसिस-प्ले) होकर भी तद्वत नीरस व तर्कात्मक नही। प्रसाद मूलत रसात्मक प्रक्रिया के नाटककार है और उनकी यही प्रकृति इस कृति मे भी बरकरार रही है, यद्यपि उन्होने पाश्चात्य नाट्य-पद्धति से सर्वाधिक यही ग्रहण किया है।

प्रसाद के अन्य प्रमुख नाटको की भाँति 'ध्रुवस्वामिनी' का भी वस्तुवृत्त ऐतिहासिक है। प्रसाद की शोधात्मक प्रतिभा भी यहाँ उसी वैशिष्ट्य के साथ देखने को मिलेगी। इतिहास की साहित्यिक अवतारणा मे सभावना के लिए जितनी गुजाइश है, उसका लाभ उन्होने पूरी जागरुकता के साथ उठाया है। उनका यह कथन उनकी एतद्विषयक मनोदृष्टि का स्पष्ट परिचायक है—'क्या होना चाहिए और कैसा होगा, यह तो व्यवस्थापक विचार करें, किन्तु इतिहास के आधार पर जो कुछ हो चुका है या जिस घटना के घटित होने की सभावना है, उसी को लेकर इस नाटक की कथावस्तु का विकास किया गया है।' प्रसाद इस नाटक में अतीत-कथा के माध्यम से आधुनिक नारी की ऊर्जा और ओजस्विता का दिग्दर्शन कराना चाहते थे। अतः उन्हें संभावना की छूट कई स्थलों पर लेनी ही पड़ी है, किन्तु ऐसा अवान्तर या गौण प्रसंगो में ही हुआ है, आधिकारिक

वृत्त मे नही। मुख्य कथा में तथ्यो के विकल्पग्रस्त होने की स्थिति मे उन्होने अपनी शोध-बुद्धि एवं नाटकीय अपेक्षा को प्राथमिकता दी है। प्रसाद की यह विशेषता रही है कि उन्होने इतिहास के सभी उपलब्ध प्रमुख सूत्रो की गहरी छानबीन के बाद निष्कर्ष निकाले है। 'ध्रुवस्वामिनी' के वृत्त-सचय मे उन्होने प्रमुख रूप से विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के प्रकाशित अशो को आधार बनाया है। कुछ इतिहासकारो का मत है कि विशाखदत्त चन्द्रगुप्त की सभा का राजकवि था और उसका उक्त नाटक जीवन-चित्रण जैसा है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उपलब्ध अशो से विदित होता है कि रामगुप्त प्रजा के आश्वासन के लिए शकराज को अपनी पत्नी दने के लिए तैयार हो गया था और चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेश मे शकराज के दुर्ग पर आक्रमण करके उसे समाप्त कर दिया था। इस नाटक के अतिरिक्त 'शृंगार प्रकाश' 'हर्षचरित' और अबुलहसन की बर्कमारीस (विक्रमादित्य) वाली कथा से भी इस घटना की पुष्टि होती है। प्रसाद को इनके अति-रिक्त स्वयं चन्द्रगुप्त की ओर से प्रमाण मिला है। चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्को पर मिलने-वाला 'रूपकृती' शब्द इसी घटना की ओर सकेत करता है। इसी प्रकार ध्रुवदेवी का पुनर्लग्न एक ऐतिहासिक सत्य है। भडारकर ने तो पराशर और नारद की स्मृतियो से उस काल की सामाजिक व्यवस्था मे पुनर्लग्न होने का प्रमाण भी दिया है। प्रसाद भी नारद, पराशर और कौटिल्य के द्वारा दी गयी व्यवस्थाओ तथा विशाखदत्त के 'रम्या चारतिकारणी' श्लोक के आधार पर उसकी पुष्टि करते है।

प्रसाद ने कही-कही ऐतिहासिक तथ्य को सुरक्षित रखते हुए उसे कुछ घुमा-फिरा कर प्रस्तुत किया है। नाटकीयता और भारतीय गौरव की रक्षा के विचार से ऐसा करना उनकी विवशता थी। ऐसा न करने पर इतिहास अवश्य यथावत रहता किन्तु साहित्य के उद्देश्य की पूर्ति न होती। इतिहास के अनुसार चन्द्रगुप्त ने अपने बडे भाई रामगुप्त की हत्या करके उसकी पत्नी से विवाह किया था। 'देवीचन्द्रगुप्तम्, अमोघवर्ष प्रथम के सजन ताम्रपत्र तथा बर्कमारीस वाली कथा से इसकी पुष्टि होती है। आठवी शताब्दी के सजन ताम्रपत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है।—'हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहृ-रद्देवी।' 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के अशो को आधार बनाकर लिखे गये क० मा० मुशी के नाटक 'ध्रुवस्वामिनी देवी' मे भी यह घटना इसी रूप में है। प्रसाद ने इसे किंचित्परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होने रामगुप्त की हत्या एक सामन्तकुमार से करायी है, चन्द्र-गुप्त से नही। भाई द्वारा भाई की हत्या एक सामान्य ऐतिहासिक घटना हो सकती है, किन्तु इसके द्वारा साहित्यिक आदर्श का सम्प्रेषण संभव नही। प्रस्तुत प्रसंग यथावत् रख दिये जाने पर रससिद्धि मे बाधक बन जाता, क्योकि तब चन्द्रगुप्त की चारित्रिक गरिमा धुल-पुँछ जाती। अतः प्रसाद ने भारतीयता और व्यापक रूप मे मानवता के संस्कारो को आघात से बचाते हुए तथ्य को कुछ परिवर्तित कर दिया। ऐसा करने में उन्होंने केवल संस्कार या कल्पना की दुहाई देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नही मान ली,

ऐतिहासिक विकल्प का प्रमाण भी पेश किया।

प्रसाद न प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति के चरित्र की इस प्रकार रक्षा करके भारतीय मन को आश्वस्त किया है और अपने साहित्यिक प्रदेय को सशक्त बनाया है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की और भी कई बातो को उन्होने इसी दृष्टि से छोड या बदल दिया है। उदाहरणार्थ उक्त नाटक मे चन्द्रगुप्त बेताल-साधना से शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील एवं गणिका माधवसेना के प्रति आसक्त दिखाया गया है। प्रसाद के नाटक मे ऐसा नही होता, क्योकि इससे चन्द्रगुप्त का चरित्र विघटित हो जाता और ध्रुवस्वामिनी के मानसिक लगाव को उतनी नैतिक पुष्टि नही मिलती, जितनी उसके क्रान्तिकारी कदम के लिए अपेक्षित थी। उन्होने चन्द्रगुप्त का पौरुषपूर्ण पराक्रम सामने रखने के लिए उसे द्वन्द्व के लिए अकेले ही तैयार दिखाया है। ध्रुवस्वामिनी का उसके साथ शक-शिविर मे जाना इस प्रकरण की एक नयी कडी है, जो कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। चन्द्रगुप्त को गणिका के प्रति अनुरक्त न दिखाकर प्रसाद ने उसे आरभ से ही ध्रुवा के प्रति आकर्षित दिखाया है और इसके द्वारा दोनो की भावी पारस्परिकता के लिए आधारभूमि तैयार कर दी है। बर्कमारीसवाली कथा मे चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को स्वयवर मे प्राप्त करता है और इस प्रकार उसके अनुसार रामगुप्त चन्द्रगुप्त की परिणीता को बलपूर्वक महादेवी बना लेता है।

प्रसाद इतनी दूर तक नही गये, क्योकि इससे ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व बिखर जाता था। राखालदास बनर्जी ने अपने 'ध्रुवा' उपन्यास मे ध्रुवदेवी को चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रसाद भी इसी अनुमान या कल्पना को प्रश्रय देते है। फिर तो प्रयाग-प्रशस्ति के 'कन्योपायनदान' के आधार पर 'आदरसहित लिवा लाने' की संगति बैठ ही जाती है। चन्द्रगुप्त की विक्षिप्तता वाली बात भी प्रसाद ने जानबूझकर छोड दी है और उसे केवल पीड़ित, आशकित बताकर अपने बाहुबल और अदृष्ट पर भरोसा करने वाले साहसी युवक के रूप में चित्रित किया है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्', 'आयुर्वेद दीपिका' 'मजमूउत्तवारीख' आदि ग्रन्थो से यह प्रमाणित होता है कि शकराज के पराजित होने के बाद रामगुप्त चन्द्रगुप्त से आशकित हो गया था और ऐसी स्थिति मे अपनी सुरक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने विक्षिप्तता का अभिनय किया था। प्रसाद ने इस ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना कर दी, क्योकि इससे चन्द्रगुप्त की भीरुता प्रकट होती और अन्ततः चारित्रिक दीप्ति की कमी समस्या और उसके समाधान का पक्ष कमजोर कर देती।

इस नाटक में प्रसाद का उद्देश्य 'इतिहास के अप्रकाशित अश' को प्रकाशित करना न होकर उसके गर्भ में छिपे सनातन मानवीय सत्य का दिग्दर्शन कराना है, अतः अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हे कई काल्पनिक प्रसंगो की भी अवतारणा करनी पड़ी है। ध्रुवस्वामिनी के दाम्पत्य जीवन की कटुता, खड्गधारिणी का अभिनय, बौने-कुबडे आदि का व्यंग्य-विनोद, कोमा और उसका प्रणय, कोमा का शकराज का शव माँगने

आना तथा रामगुप्त के आदेश पर उसकी प्रच्छन्न रूप से हत्या, सम्बन्ध-विच्छेद-सम्बन्धी बहस आदि कल्पित प्रसग है, जो इतिहास के रिक्त अश की पूर्ति करके उसे जीवन्त कथा का रूप देते है और समस्या को फलागम तक पहुँचाने मे योगदान करते है। कुबडे बौने आदि का प्रसग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योकि उसी से चन्द्रगुप्त को स्त्री वेशधारण की युक्ति सूझती है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' मे दासी की उक्ति से यह संकेत मिलता है कि सभवतः ध्रुवदेवी द्वारा दिये गये वस्त्राभूषणादि देखकर चन्द्रगुप्त को यह विचार प्राप्त हुआ हो। प्रसाद ने इसे हीनकोटि के विनोदी चरित्रो के माध्यम से प्रस्तुत करके एक ओर हल्के हास्य-विनोद की सृष्टि कर दी है, दूसरो ओर इसे अधिक विश्वसनीय और ठोस बना दिया है। राजाओ के अन्तःपुर मे ऐसे विकलाग लोग अनेकविध प्रयोजनो से रखे जाते थे और इन्हे वर्षवर या वर्षधर कहा जाता था। इन कुछेक काल्पनिक प्रसंगो तथा पूर्वोक्त कतिपय परिवर्तित तथ्यो के अतिरिक्त इस नाटक की शेष सारी कथावस्तु ऐतिहासिक है।

सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य तो प्रसिद्ध इतिहास पुरुष है ही। उनके बीच का कडी रामगुप्त है, जिसका ऐतिहासिक अस्तित्व काफी बाद में—१९२८ मे डा॰ अल्तेकर की खोजबीन के अनन्तर स्वीकार किया गया। प्रसाद के मतानुसार 'यह कहना कि रामगुप्त नाम का कोई राजा गुप्तो की वशावली मे नही मिलता और न किसी अभिलेख मे उसका वर्णन आया है, कोई अर्थ नही रखता। समुद्रगुप्त के शासन का उल्लघन करके, कुछ दिनो तक साम्राज्य मे उत्पात मचाकर जो राजनीति के क्षेत्र मे अन्तर्धान हो गया हो, उसका अभिलेख वशावली में न मिले तो कोई आश्चर्य नही।' वे भडारकर के इस विचार से पूर्ण सहमत है कि रामगुप्त के अल्पकालीन शासन का सूचक सिक्का भी चला था और 'काच' के नाम से प्रसिद्ध जो गुप्तकालीन सिक्के मिलते है वे रामगुप्त के ही है—भ्रम से 'राम' के स्थान पर 'काच' पढ लिया गया। समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे और वह सदैव पुत्र-पौत्रों के साथ चला करता था। उसके निधन पर ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त सम्राट् बना। वह कायर, दुर्बल और अयोग्य था और युद्धभय से शकपति को अपनी पत्नी समर्पित करने के लिए तैयार हो गया था। चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी के वेश मे शकराज के शिविर में जाकर उसका वध किया और इस प्रकार प्रजा तथा महादेवी का प्रिय बन गया। रामगुप्त की हत्या के बाद शासन-सूत्र उसके हाथ मे आ गया। और उसने ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। ध्रुवदेवी से उसके दो पुत्र हुए थे—कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त। चन्द्रगुप्त के बाद कुमारगुप्त सम्राट् बना था। शकराज भी ऐतिहासिक व्यक्ति है। राजशेखर की 'काव्यमीमासा' में 'खसाधिपति' के नाम से उसी का उल्लेख मिलता है। वह कदाचित् पर्वतीय राजा था। बर्कमारीस की कथा से भी यही संकेत मिलता है। रामगुप्त भी इसी प्रकार अबुलहसन के 'मजमूउत्तवारीख' मे रवाल तथा 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में शर्मगुप्त नाम से प्रस्तुत किया

गया है। स्पष्ट है कि प्रसाद ने इतिहास की विरल रेखाओ को अपनी परिष्कार-बुद्धि और कल्पना के रगो से एक जीवन्त चित्र मे बदल दिया है।

इस ऐतिहासिक वृत्त को 'ध्रुवस्वामिनी' मे बडे सयत्त एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रस्तुतीकरण की पद्धति भी प्रयोगात्मक अथवा नयी है। पूरा नाटक समूचे तीन अंको मे रचा गया है, उसमे दृश्यो का विधान नही है। पात्र अपना अभिनय पूरा करके चले जाते हैं और दूसरे पात्र उपस्थित होकर अपने अनुरूप मचसज्जा स्वाभाविक पद्धति से स्वय ही निर्मित कर लेते है। यह नवीनता कथाक्रम की निरन्तरता एव मचीय सहजता की दृष्टि से अवश्यक ही प्रशसनीय है। कदाचित् इस नवीन अकात्मक सरचना के ही कारण इस नाटक में अनावश्यक व अतिरिक्त प्रकरण स्थान नही पा सके है और पूरा नाट्यवृत्त एक इकाई के रूप मे सामने आता है। अभिनयात्मक अन्विति का यह एक सफल प्रयोग है।

प्रसाद के अन्य नाटको की भाँति इसका भी प्रवेशाक स्थितियो एवं समस्याओ के संदर्भ मे प्रधान चरित्रो का परिचायक हैं। आरम्भ मे ध्रुवस्वामिनी का स्वगत-कथन और खड्गधारिणी से उसका वार्तालाप उसकी मानसिक एव बाह्य स्थितियो का उद्घाटन करता है। वह विक्षुब्ध है, क्योकि राजकुल के अन्त पुर मे उसे निरन्तर नीरव अपमान ही मिलता रहा है। पतिनामधारी सम्राट रामगुप्त का मधुर सम्भाषण भी उसे कभी नही मिल सका, क्योकि विलासिनियो के साथ मदिरा मे उन्मत्त उन्हे अपने आनन्द से अवकाश ही नही मिलता। खड्गधारिणी से चन्द्रगुप्त का आत्मनिवेदन सुनकर वह अपनी अवशता में और कातर तथा चन्द्रगुप्त के प्रति सहानुभूतिशील हो उठती है। दासी के साथ उसके चले जाने पर कुज मे छिपकर उनकी बात सुनता हुआ रामगुप्त प्रकट होता है। खड्गधारिणी से वह कुछ जान सके, इसके पूर्व प्रतिहारी उसे इस सूचना मे उलझा देती है कि शको ने उनका शिविर घेर लिया है और शकराज का दूत सदेश लेकर आया है। रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी के हृदय मे चन्द्रगुप्त के प्रति उद्बुद्ध होने लगी आकाक्षा से आशंकित हो उठा है। उसे शको का अवरोध और सदेश अनुकूल प्रतीत होता है और वह अमात्य शिखर स्वामी के सहयोग से ऐसी योजना बनाना चाहता है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु—यानी चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और शकराज—एक ही चाल में परास्त हो जाएँ। उनकी बात छिपकर सुनने वाली मन्दाकिनी रामगुप्त के इस दुर्विचार से क्षुब्ध होती है और न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करने अर्थात् चन्द्रगुप्त और ध्रुवा का साथ देने के लिए कृतसकल्प होती है। उदास ध्रुवस्वामिनी बौने, कुबडे तथा हिजडे की भद्दी हँसोड चेष्टाओ से चिढ़ जाती है, जबकि रामगुप्त उनमें रस लेता है।

इसी समय शिखरस्वामी—ध्रुवदेवी की उपस्थिति में रामगुप्त को शकराज का संदेश सुनाता है शकराज सान्धिक उपहार के रूप में महादेवी को अपने लिए और मगध-सामन्तो की पत्नियों को अपने सैनिको के लिए माँगता है। रामगुप्त इसके लिए तैयार

है, शिखरस्वामी इसका समर्थन करता है। ध्रुवस्वामिनी रोष से फूल उठती है, तीखे व्यंग्य करती है और अन्ततः इस घोर अपमान से बचने के लिए रामगुप्त के आगे शरण-प्रार्थिनी बनकर उसकी विलास सहचरी तक होने के लिए तैयार हो जाती है, किन्तु रामगुप्त टस से मस नही होता। अपमान का चरम आघात सहती हुई ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो जाती है, किन्तु सहसा चन्द्रगुप्त वहाँ उपस्थित होकर उसे बचा लेता है। चन्द्रगुप्त सारा वृतान्त जानकर स्तम्भित रह जाता है। वह स्वर्गीय आर्य चन्द्रगुप्त के गौरव तथा ध्रुवस्वामिनी के सम्मान की रक्षा के लिए स्वय ध्रुवस्वामिनी के वेश मे अन्य सामन्त कुमारो के साथ शकशिविर मे जाने को तैयार हो जाता है। ध्रुवस्वामिनी भी उसके साथ वहाँ जाने के लिए कृतनिश्चय है। रामगुप्त को दोनो के विपत्तिग्रस्त होने से सतोष हो रहा है और वह इस योजना को स्वीकार कर लेता है। मन्दाकिनी सैनिको मे युद्धोत्साह जगाती है।

इस प्रकार प्रथम अक वस्तु-परिचय एव नाटकीय त्वरा की दृष्टि से अत्यधिक जीवन्त और सफल है। आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्वो को उद्घाटित और विकसित करके उन्हे एक नियत दिशा दे देना इस अक की एक बडी उपलब्धि है। ध्रुवस्वामिनी का विक्षोभ किस प्रकार ग्लानि, करुणा और अमर्ष के थपेडे खाता हुआ दुर्निवार घृणा मे बदल जाता है और किस प्रकार उसके बुझे तथा टूटे हुए मन मे गुप्त रूप से अकुरित अनुराग एक आकस्मिक घटना से दृढता धारण कर लेता है, यह देखते ही बनता है। मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की इतनी त्वरा और फिर भी इतनी सहजता अन्यत्र कठिनाई से ही देखने को मिलेगी। बाह्य सघर्ष के सूत्र भी धीरे-धीरे उभरते ह, स्त्रत सयुक्त होते है और अक के अन्त मे सघन हो जाते हैं। चन्द्रगुप्त की दुराशा और रामगुप्त की आशंका को शकावरोध उभारता और उद्दीप्त करता है। परिणाम के रूप में सघर्ष का त्रिकोण बन जाता है, जिसकी एक भुजा चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी है, दूसरी रामगुप्त और उसके सहयोगी है और तीसरी शकवाहिनी। प्रकटत पहली दो भुजाएँ तीसरी के विरुद्ध परस्पर सहयोग कर रही है, किन्तु उनके बीच की दरार काफी स्पष्ट है। घटनाओ का इतना त्वरित आरोहावरोह शायद ही कही मिले।

कार्यावस्थाओ की दृष्टि से इसमे प्रथम दो—प्रारम्भ और प्रयत्न की स्थिति मानी जा सकती है। रामगुप्त के पत्नी-समर्पण के निश्चय पर अडिग रहने पर ध्रुव-स्वामिनी का उसे 'निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव' कहकर अपमानित करना प्रारम्भ-कार्यावस्था है 'जिसके लिए आरम्भ से ही भूमिका बनायी गयी है। चन्द्रगुप्त का उसके वेश में और अन्ततः उसे साथ लेकर शक-शिविर मे जाने के लिए उद्यत होना 'प्रयत्न' की अवस्था कही जा सकती है, क्योकि ध्रुवस्वामिनी की मुक्ति की दिशा मे चन्द्रगुप्त का यह पहला ठोस कदम है। अभिनेयता की दृष्टि से भी अक सुविधाजनक है। थोडे हेरफेर के साथ पूरे अंक मे शिविर का ही दृश्य बना रहा है। गीत केवल दो रखे गये हैं। यो उनके न

होने से भी नाटकीय प्रभाव मे कोई कमी न आती। मचन मे वे सुविधापूर्वक हटाये जा सकते है। क्रियाशीलता तो इस अक का प्राण ही है। सवादो की तीक्ष्ण त्वरा इसे और सवर्धित करती है। पात्रो के आवागमनो मे भी वही क्षिप्रता है जो कथाप्रवाह मे। महादेवी की आत्महत्या के अवसर पर चन्द्रगुप्त का सहसा उपस्थित हो जाना एक प्रभावशाली नाटकीय स्थल है। इसमे आकस्मिकता या सयोगतत्व की अस्वाभाविकता नही, क्योकि मन्दाकिनी चन्द्रगुप्त तक सारे समाचार पहुँचाने का निश्चय पहले ही प्रकट कर चुकी है और खड्गधारिणी तो वैसा पहले से ही करती आ रही है।

द्वितीय अक मे कथावस्तु एक निश्चित प्रसग को लेकर आगे बढती है। पहले अक जैसा वस्तु-सूत्रा का बाहुल्य इसमे नही। इसका कथाकेन्द्र शक-दुर्ग है। शकराज उद्विग्न मन से सदेश लेकर जाने वाले खिगल की प्रतीक्षा कर रहा है। कभी उसको प्रणय-पात्री, किन्तु आज उपेक्षिता कोमा उसे महत्वाकाक्षा तथा प्रतिशोध के इस अविवेकपूर्ण कृत्य से विरत होने के लिए समझाती है, किन्तु वह चिढ जाता है। इसी समय खिगल जाकर सूचना देता है कि रामगुप्त ने महादेवी तथा सामन्त-स्त्रियो को भेजना स्वीकार कर लिया है। शकराज अत्यधिक प्रसन्न होकर सोने की झाझवाले नृत्य का आयोजन करता है, जिसमें शकराज तथा उसके सैनिक मद्यपन करते है। महोत्सव के बीच खिगल दुर्गतोरण मे शिविकाओ के आ जाने की सूचना देता है और बताता है कि महादेवी शकराज से एकान्त-मिलन चाहती है। कोमा अपने प्रेम के नाम पर पुन. एकबार शकराज को नारी-जाति का अपमान करने से रोकती है, किन्तु वह उसकी उपेक्षा कर देता है।

कोमा के प्रतिपालक आचार्य मिहिरदेव भी उसे राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठने के लिए समझाते है, किन्तु शकराज उन्हें अपमानित करके वहाँ से चला जाता है। मिहिरदेव कोमा से शकराज का कपट-प्रणय भूलकर स्वदेश चलने के लिए कहते है और अमंगलसूचक धूमकेतु की ओर सकेत करते है। कोमा पहले तो द्विधा मे पडती है, किन्तु शकराज की स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति का परिचय—धूमकेतु से सकेतित अमगल की शान्ति के लिए आचार्य को रोकने की उसकी याचना से पुन: पाकर, जाने के लिए दृढ निश्चय कर लेती है और चली जाती है। आशकित शकराज के कक्ष मे स्त्रीवेशधारी चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी आते है। शकराज दोनो को लेकर द्विधाग्रस्त होता है, क्योकि दोनो ही सुन्दर है और दोनो ही अपने को महादेवी बताते है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी छद्म-कलह के बहाने कटार निकाल लेते है, ध्रुवस्वामिनी तूर्यनाद करती है और द्वन्द्व-युद्ध में शकराज मारा जाता है। शिविकाओ मे छिपे हुए सामन्तकुमार शको का संहार करते है। ध्रुव शकदुर्ग की स्वामिनी के रूप मे समादृत होती है।

इस प्रकार का यह अंक प्रासगिक कथा के सहारे आधिकारिक वृत्त को एक

निश्चित विन्दु तक पहुँचा देता है यह अंश जितना सक्रियतापूर्ण है, उतना ही मर्मस्पर्शी भी। कोमा का असफल प्रेम, उसका भावोद्वेग और निराश खिन्नता मे उसका प्रस्थान मन को मथ डालते हैं। शकराज की द्विधा तामसी स्तर की है, अतः वह अपने अनुरूप ही विकर्षणात्मक प्रभाव डालती है। दूसरी ओर ध्रुवस्वामिनी की गौरवान्वित हर्षोत्फुल्लता और चन्द्रगुप्त की आत्मविश्वासमयी दृढ साहसिकता मानो कोमा और शकराज की मानसी स्थितियो का भी प्रतिपक्ष उपस्थित करती है—बाह्य सघर्ष मे तो वे प्रतिपक्षी है ही। जितना उद्वेग और अधकार कोमा और शकराज के हृदय में है, उतनी ही गौरवपूर्ण विश्वास की प्रहर्षित आत्मदीप्ति चन्द्रगुप्त और ध्रुवा के हृदयो मे। यह आन्तरिक प्रतिपक्षता इस अक का एक अतिरिक्त आकर्षण है। चन्द्रगुप्त और शकराज का द्वन्द्व-युद्ध कुछ ही क्षणो का है, किन्तु अपने आप मे वह अत्यन्त जीवन्त और नाटकोचित है। नाटकीय त्वरा और सक्रियता इसमे पपने प्रकर्ष पर है। नृत्य-महोत्सव में मद्यपान का प्रसग कुछ विनोदपूर्ण भी है। गीत केवल एक है और वह पात्र व उसकी स्थिति के अनुरूप है।

कार्यावस्था की दृष्टि से अक का अन्त 'प्राप्त्याशा' मे होता है, क्योकि अब ध्रुवा शकशिविर की स्वतत्र स्वामिनी बन गयी है और चन्द्रगुप्त खुले रूप से उसका सहयोगी हो गया है। मचसज्जा के विचार से भी यह अंक सहजैव अभिनेय है, क्योकि सारी घटनाएँ शकदुर्ग मे घटती हैं और बहुत थोडे हेरफेर के साथ एक ही माहौल बना रहता है। स्वर्णनृत्य, नीललोहित धूमकेतु, लाल-मदिरा और रक्ताक्त कटारें नाटकीय वातावरण को रोमाचक बनाने मे विशेष योगदान करते हैं।

अन्तिम अक नाटक की मुख्य समस्या को वैचारिक मच पर ले आता है और दोनो पक्षो को बहस की खुली छूट देकर समाधान या निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। समस्या पूर्ववर्ती अको मे भी प्रस्तुत की गयी है, किन्तु वहाँ उसे उसके व्यावहारिक सदर्भो में चित्रित किया गया है और क्रमिक घटनाओ के द्वारा उसे अधिकाधिक उभारने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुत- द्वितीय अंक की समाप्ति से पहले ध्रुवस्वामिनी का पक्ष इतना निर्बन्ध और सबल नही हो पाया था कि वह अपने तथाकथित, किन्तु समाजस्वीकृत पति के साथ सम्बन्ध-विच्छेद जैसे नाजुक विषय पर बहस कर सके। अब घटनाओ ने एक ओर रामगुप्त के पतित चरित्र को उजागर कर दिया है और दूसरो ओर ध्रुवस्वामिनी शकदुर्ग की स्वतंत्र अधीश्वरी बन चुकी है। अत' अब उसे किसी का भी भय नही। राजाधिराज रामगुप्त बिना उसकी अनुमित के दुर्ग में प्रवेश नही कर सकता। पुरोहित शान्ति-कर्म के लिए आता है, किन्तु ध्रुवस्वामिनी अपने को महादेवी-पद के दायित्व से मुक्त मानने लगी है। उसके मतानुसार जो रानी शत्रु के लिए उपहार रूप में भेज दी जाती है, वह महादेवी के उच्चपद से पहले ही वंचित हो चुकी होगी। वह रामगुप्त से अपने परिणय को राक्षस-विवाह कहती है, जिसका परिणाम यह सारा रक्तपात है। पुरोहित विचार-

संघर्ष मे उलझकर पुन धर्मशास्त्र देखने के लिए विवश होता है। इसी समय कोमा ध्रुवस्वामिनी से शकराज का शव माँगती है। ध्रुवस्वामिनी खीझ और किंचित् ईर्ष्या के साथ उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेती है। वह अपनी अनिर्णीत स्थिति के कारण उद्विग्न और उन्मत्त जैसी हो उठी है। चन्द्रगुप्त वहाँ से चल देने के लिए उद्यत है, किन्तु मन्दाकिनी की प्रेरणा से वह अपने स्वत्व और अपनी वाग्दत्ता पत्नी की रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है। मन्दाकिनी से यह सूचना पाकर कि रामगुप्त के सैनिको ने शकराज का शव ले जाते हुए आचार्य मिहिरदेव और कोमा का वध कर डाला, सामन्तकुमार विद्रोही हो उठते हैं। रामगुप्त क्रोध मे भरकर सामन्तकुमारो के साथ चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाता है। पारिवारिक मर्यादा के विचार से चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी से प्रेरित होकर भी प्रतिवाद नही करता। ध्रुवस्वामिनी निर्भीकतापूर्वक महादेवी और रामगुप्त की सह-धर्मिणी होना अस्वीकार करती है। इसी समय पुरोहित धर्म निर्णय के लिए उपस्थित होता है और शिखरस्वामी की वर्जना के बावजूद विचलित नही होता। क्रोधाविष्ट और अविवेकी रामगुप्त ध्रुवा को बन्दी बनाने का आदेश देता है।

इस बिन्दु पर चन्द्रगुप्त की सहनशक्ति चुक जाती है। वह आवेश में आकर लोह-शृंखला तोड डालता है और अपने को शकराज के समस्त अधिकारो का स्वामी घोषित करते हुए शिखरस्वामी तथा रामगुप्त को दुर्ग से बाहर चले जाने का आदेश देता है। शिखरस्वामी निर्णय के लिए कुलवृद्धो और सामन्तो की परिषद् का आयोजन करता है। मन्दाकिनी परिषद् में ध्रुवस्वामिनी की ओर से अभियोग प्रस्तुत करती है। पुरोहित व्यवस्था देता है कि रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नही, क्योकि वह मृत या प्रव्रजित न होने पर भी गौरव से नष्ट, आचरण से पतित, और कर्मो से राजकिल्विषी क्लीव है। फिर, यह विवाह माता-पिता के प्रमाणो से भी विहीन है। वह स्पष्ट कहता है कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है। परिषद् के सदस्य रामगुप्त को गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य सिंहासन पर बैठने के लिए अनधिकारी सदस्य रामगुप्त को गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य सिंहासन पर बैठने के लिए अनधिकारी घोषित कर देते हैं। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त को अविलम्ब दुर्ग के बाहर निकल जाने का आदेश देती है। रामगुप्त पीछे से चन्द्रगुप्त को कटार मारना चाहता है, किन्तु इससे पूर्व एक सामन्तकुमार उस पर प्रहार करके उसे गिरा देता है। नाटक राजाधिराज चन्द्रगुप्त और महादेवी ध्रुवस्वामिनी के विजयघोष से समाप्त होता है।

कार्यावस्था की दृष्टि से इस अक में 'नियताप्ति' और 'फलागम' की स्थिति है। रामगुप्त के आहत होने के बाद ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का महादेवी और सम्राट् के रूप में समादृत होना ही फलागम है। इस फल की प्राप्ति इससे कुछ ही पूर्व तब नियत हो जाती है, जब रामगुप्त को ध्रुवस्वामिनी और साम्राज्य के अधिकार से घोषित रूप में परिषद द्वारा वचित कर दिया जाता है। वस्तुतः इस अक के आरंभ से ही नियताप्ति

का आभास मिलने लगता है। ध्रुवदेवी का महादेवी तथा रामगुप्त की सहधर्मिणी होने से इनकार करना और चन्द्रगुप्त का शृंखला तोडकर अपने अधिकार की घोषणा करना इसके ही आरभिक सोपान हैं। परिषद् मे पुरोहित द्वारा ध्रुवदेवी पर रामगुप्त के अधिकार की समाप्ति की घोषणा—इन आरभिक स्थितियो को निश्चित सोपान पर ले आती है और इसके तुरन्त बाद सम्बन्धविच्छेद और साम्राज्याधिकार-हरण की समवेत स्वीकृति होती है, जो कि नियताप्ति की पूर्णावस्था है।

विचारशीलता का प्राधान्य होने पर भी इस अंक में द्वन्द्व का अभाव नही। अन्तर्द्वन्द्व अंक के आरभ मे ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त मे लक्षित होता है। चन्द्रगुप्त को मन्दाकिनी की प्रेरणा कुछ ही क्षणो में निर्द्वन्द्व और निर्दिष्टदिशायामी बना देती है, किन्तु ध्रुवा की निष्कृति इतनी आसान नही। उसे काफी दूर तक यह मनोव्यथा सहनी पडती है। कोमा की मृत शकराज के प्रति निष्ठा उसे और उद्विग्न कर देती है, क्योकि वह चन्द्रगुप्त के लिए प्रकटत कुछ भी नही कर सकती, जबकि चन्द्रगुप्त उसके लिए प्राणो की बाजी लगा चुका है। बाह्य संघर्ष के लिए इसमे अवकाश नही, फिर भी अंक के अन्त में उसका लघु सस्करण है ही।

चारित्रिक ओजस्विता की दृष्टि से यह अक विशेष प्रभावशाली बन पडा है। मन्दाकिनो, ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त, पुरोहित, सामन्तकुमार—यानी रामगुप्त का पूरा प्रतिपक्ष इसमे अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ उभरा हुआ है। मन्दाकिनी का निर्भीक अभियोजन, ध्रुवस्वामिनो की व्यग्य-कटु स्पष्टोक्ति, चन्द्रगुप्त की स्वत्व-घोषणा, पुरोहित की निर्भीक व्यवस्था, सामन्तकुमार का दुर्निवार विद्रोह—सभी कुछ ओजस्वी और प्रभावशाली है। चन्द्रगुप्त का सहसा झटककर लोहशृ खला तोड देना एक श्रेष्ठ नाटकीय स्थल है, जो पाठक या दर्शक को सहसा पूरी तरह अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

विचार प्रधान होने के कारण इसमें गीतो का न होना भी इसका एक नाटकीय गुण है। सवाद बडे ही वेगमय और तार्किक है। व्यग्य की तीक्ष्णता उनमें अतिरिक्त नाट्यगुण उत्पन्न कर देतो है। परिषद् की कार्यवाही की क्रमिकता और वाद-विवाद की त्वरा देखते ही बनती है। दृश्य-योजना इस अंक में सर्वाधिक सहज और स्वाभाविक हैं। परिषद् के लिए उपयुक्त दृश्य का निर्माण मचस्थ पात्र—सैनिक-स्वय ही कर लेते है और वह कथाक्रम का ही एक अंग लगता है, अतिरिक्त नाट्य-प्रबन्ध नही। प्रसाद के अन्य नाटको मे शायद ही कोई वैचारिक स्थल इतना नाटकीय बन पड़ा हो।

'ध्रुवस्वामिनी' की मूल समस्या नारी के सम्बन्ध-विच्छेद और पुनर्लग्न की है। आधुनिक युग के जाग्रत नारी-मानस का एक ज्वलन्त और तेजस्वी चित्र इसमे मिलेगा। पुरुषो ने स्त्रियो को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का जो अभ्यास शताब्दियो से बना रखा है, वह ध्रुवस्वामिनी के साथ नही चलने का। आज की नारी की प्रतिनिधि ध्रुवा अनाचारी, निर्लज्ज, मद्यप और क्लीव पति रामगुप्त की अनुगता होने

के लिए बाध्य नही। अपनी ओर से भारतीय नारी की मर्यादा के भीतर रहने का प्रयास वह अवश्य करती है, और काफी कुछ सहने के लिए अपने को तैयार कर लेती है, किन्तु जब रामगुप्त उसके पत्नीत्व की ही मर्यादा नही मानता, तब वह विद्रोहिणी हो उठती है। मानसिक रूप से वह उसी क्षण इस पाप-सम्बन्ध से मुक्त हो जाती है, जब रामगुप्त उसे उपहार की वस्तु के रूप में शकराज को देने के दुर्विचार पर दृढ रहता है और पतित्व के अधिकार-बल पर उसकी कोई आपत्ति सुनना तक नही चाहता। ऐसी स्थिति मे ध्रुवा के आगे विद्रोह के अतिरिक्त कोई विकल्प नही रह जाता। वह साधारण नारी नही, उसमे रक्त की तरल लालिमा है, उसका हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। प्रसाद उसके इस विद्रोह को नैतिक स्तर पर तो मान्यता देते ही हैं, धर्म का भी समर्थन उसे दिलाते है। पुरोहित की यह उक्ति कि स्त्री-पुरुष के परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग को ही विवाह कहते हैं और ऐसा न होने पर धर्म और विवाह खेल है—प्रसाद की अपनी बात है। अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुरूप ही उन्होंने इस क्रान्तिकारी सामाजिक विचार की पुष्टि इतिहास और धर्मशास्त्र से प्रमाण देकर की है। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि सम्बन्ध-मुक्ति और पुनर्विवाह की व्यवस्था प्राचीन काल मे भी थी। ध्रुवस्वामिनी की इतिहास प्रसिद्ध कथा तथा नारद, पराशर आदि धर्म-व्यवस्थापको की एतद्विषयक उक्तियो को उन्होंने इसके प्रमाण के रूप मे उद्धृत किया है।

इस प्रकार इस नाटक के माध्यम से आधुनिक नारी की समस्या को सनातन समस्या के रूप में प्रस्तुत करते हुए जीवन के एक जटिल प्रश्न को समाधान दिया गया है। इस दृष्टि से इसे 'एक घूट' की ही भाँति प्रमेय या वैचारिक नाटक (थीसिस-प्ले) कहा जा सकता है। समीक्षको ने प्रायः इसे इब्सन, बर्नार्डशा तथा गाल्सवर्दी के समस्या-नाटको के वर्ग में रखना चाहा है, किन्तु यह उस वर्ग में आता नही। यह सही है कि इब्सन, शा आदि के नाटकों में नारी के व्यक्तित्व और अस्तित्व से सम्बद्ध समस्याओ की प्रमुखता रही है, किन्तु उनकी वस्तुभूमि और तर्क-प्रक्रिया सर्वथा भिन्न और विशिष्ट है। उनमे अधिकतर सम-सामायिक जीवन से कथाएँ ली गयी है और यथार्थवादी दृष्टि से उनकी समस्याओ का प्रस्तुतीकरण हुआ है। रुढि-विरोध और समाधान बौद्धिक व तार्किक स्तर पर प्रस्तुत किये गये हैं। उनमे यथार्थ-दृष्टि के अनुरूप प्रत्येक पात्र मे सत्-असत् वृत्तियो का सम्मिलन दिखाया गया है, फलत बौद्धिक वाद-विवाद और विश्लेषण के लिए वहाँ प्रतिपक्ष भी उतना ही मजबूत चित्रित किया गया है जितना कि पक्ष। 'ध्रुवस्वामिनी' की द्विपक्षीयता उस प्रकार की नही।

इसमें नाटककार आरभ से ही प्रमुख पात्र के पक्ष में है, क्योकि विरोधी-पक्ष अव-गुणो का पुंजीभूतरूप है और उसके साथ मानवीय न्याय की भूमि बन पाने का समय ही नही आता। रामगुप्त के पक्ष में भी मानवीय दलीलें दी जा सकती थी, किन्तु वैसा अपनी

पूर्वयोजना के ही अनुसार नही किया गया । कथानक इतिहास से लिया गया है, न कि सम-सामयिक जीवन से । सम-सामयिकता या कि सनातनता व्यग्य अवश्य है, किन्तु वह मुख्य वस्तुविषय तो नहीं । फिर समापन की प्रक्रिया उतनी तार्किक नही, जितनी कि द्वन्द्वात्मक । वस्तुत. प्रसाद इस नाटक मे भी भारतीय मर्यादित वैचारिकता तथा रसवादी मनोदृष्टि से अपने को मुक्त नही कर सके है, यद्यपि उसके लिए इसमे पूरा अवकाश था । अतः इस नाटक की उपलब्धियो का आकलन 'थीसिस-प्ले' की दृष्टि से किया जाना चाहिए, न कि पाश्चात्य समस्या-नाटको की दृष्टि से ।

द्वन्द्व इस नाटक का प्रमुख आकर्षण है । आन्तरिक और बाह्य सघर्षों की जितनी तीक्ष्ण अन्विति इस नाटक मे है, उतनी अन्य किसी मे नही । ऐसा इसलिए भी है कि इसमे वस्तुफलक लघु है और घटनासूत्र विरल तथा आधिकारिक वृत्त से सीधे जुडे हुए है । किन्तु इससे नाटककार के अन्वयन-कौशल का महत्व कम नहीं हो जाता । प्रसाद ने अन्य अनेक लघु रूपको की रचना की है और उनमे भी द्वन्द्व की भूमिका प्रमुख रही है, किन्तु किसी मे भी अन्विति इतनी सघन नही हो पायी है । वस्तुत 'ध्रुवस्वामिनी' का यह वैशिष्ट्य प्रसाद की नाट्य-प्रतिभा के प्रकर्ष का उदघोषक है । 'थीसिस-प्ले' की वस्तुभूमि होने के कारण भी द्वन्द्वात्मक आयामो को निर्दिष्ट दिशा मिलने मे सहूलियत रही है ।

'ध्रुवस्वामिनी' का मूल द्वन्द्व आन्तरिक है, जिसके समाधान मे बाह्य द्वन्द्व सहयोग करता है । बाह्य द्वन्द्व का प्रमुख सूत्र है आक्रामक शकराज का रामगुप्त के प्रति कदर्प प्रस्ताव और उसकी परिणति । रामगुप्त का घरेलू कलह, चन्द्रगुप्त का बदी होना, परिषद् की पक्ष-प्रतिपक्षता और रामगुप्त का पतन बाह्य सघर्ष के अन्य सूत्र है । शक-राज के प्रसग को बीच में रखें, जैसा कि नाटककार ने अकीय योजना मे स्वय किया है, तो इन बाह्य कथासूत्रों मे कारण-कार्य-सम्बन्ध है । ध्रुवदेवी के साथ रामगुप्त का दुर्व्य-वहार मूल कारण है, जिसके फलस्वरूप वह परिषद् द्वारा दडित किया जाता है । इस कारण का और प्रखरता देने के लिए शक-प्रकरण एक सशक्त परिस्थिति के रूप में सामने आता है और प्रद्योतक उपकथा मे से ही अन्तिम कार्य की स्थितियाँ उभर आती है । ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त के सहयोग से शको को परास्त कर उनके दुर्ग पर अधिकार कर लेना मुख्य विपक्षी (रामगुप्त) को और भडकाता है और वह स्वय अपने विनाश के आयोजन मे तीव्रता ले आता है ।

मनोद्वन्द्व का प्रमुख केन्द्र ध्रुवस्वामिनी है । कोमा के प्रसंग मे भी अन्तःसंघर्ष है किन्तु उसकी स्थिति प्रद्योतक सूत्र जैसी है । शकराज के पतन से उसका क्षुब्ध होना और पिता के साथ स्वदेश वापस लौटने को आत्यन्तिक विवशता के साथ तैयार होना उसके मानसिक संघर्ष की स्थितियाँ है । अपनी निष्ठा और आकस्मिक दुर्घटना—शकराज की मृत्यु—उसे निर्णयात्मक स्थिति मे ला देती है, जिसके फलस्वरूप वह ध्रुवस्वामिनी के

मनोद्वन्द्व से जुडकर उसे अतिरिक्त प्रखरता देता है । कोमा का ध्रुवा से शकराज का शव माँगने आना—उसकी अन्तर्कथा की चरम-सामा है जिसके लिए पूर्व प्रकरण में क्रमिक भाव-भूमि बनायी जाती रही है । ध्रुवस्वामिनी के समक्ष दो द्वन्द्व है—दुराचारी पति से मुक्ति और चन्द्रगुप्त से सम्मिलन । उसके इन दोनो द्वन्द्व-सूत्रो में विचित्र अन्योन्याश्रयता है । शायद वह पहले चन्द्रगुप्त की अनुरक्ता और वाग्दत्ता थी, किन्तु रामगुप्त का दुर्व्यवहार उसकी विरक्ति के एक स्वतंत्र कारण के रूप म सामने आता है। चन्द्रगुप्त का सदेश उसे मुक्ति की एक दिशा सकेतित करता है । फिर तो सारी स्थितियाँ दोनो द्वन्द्वसूत्रो को एक मे बाँध कर आगे धकेलती रहती है । कोमा का प्रसग इस समन्वित द्वन्द्व को गहरा बना देता है । वह अपनी स्थिति पर अब गभीरता से विचार करने के लिए बाध्य हो जाती है और उसके इसी उग्र विक्षोभ के निर्णयात्मक स्थिति मे त्वरा आती है । रामगुप्त के विरोध और चन्द्रगुप्त के समर्थन मे खुलकर सामने आने का सत्साहस उसे इसी विक्षोभ से पाप्त हुआ है । परिषद-सम्बन्धी बहिर्द्वन्द्व इसे फलागम तक पहुँचाता है ।

इस प्रकार द्वन्द्वों के अन्वयन की दृष्टि से यह नाटक एक सफल प्रयोग कहा जा सकता है । घात-प्रतिघात की शैली के स्थान पर अन्विति की यह पद्धति प्रसाद की सम-सामयिकता के विचार से निश्चय ही एक अनुरजनकारी नवीनता रखती है । पूर्ववर्ती सभी नाटको मे न्यूनाधिक घात-प्रतिघात की ही पद्धति मिलेगी । ध्रुवस्वामिनी' इस दृष्टि से एक अपवाद है । परवर्ती नाटककारो ने—इस नूतन प्रक्रिया को बडी कुशलता से सवर्धित किया है ।

'ध्रुवस्वामिनी' की रसात्मकता के विषय मे इस द्वन्द्व को ही प्रमाण माना जा सकता है । सघर्ष-प्राधान्य के आधार पर इसे वीररसप्रधान नाटक कहना चाहिए । यों ध्रुवदेवी का चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण शृगार की भी एक व्यापक भूमिका तैयार कर देता है, किन्तु उसे गौण या सहयोगी रस के ही रूप मे लेना समीचीन होगा । इसके दो आधार है । प्रथमत ध्रुवा की मुख्य समस्या रामगुप्त से मुक्ति की है, जिसके लिए उसे विद्रोह का पथ अपनाना ही होगा । चन्द्रगुप्त की उपस्थिति इस उद्देश्य की पूर्ति मे एक सशक्त सम्बल और आगे चलकर उद्दीपन का भी काम करती है, किन्तु वह विद्रोह का मूल कारण नही । फिर, यह लगाव पारिवारिक दृष्टि से अमर्यादित और सामाजिक दृष्टि से अवैध है, अतः इस रतिभाव की उदात्तता बाधित हो जाती है ।

नाटक के अन्त मे रामगुप्त के पतन और चन्द्र-ध्रुवा के अभ्युदय के बाद भी प्रसाद दोनो के परिणय या मिलन का सकेत देने से कतरा गये हैं, यद्यपि पूर्ण घटनाओं के आधार पर वह सहजैव अनुमानित हो जाता है। इस प्रकार इस नाटक का अगीरस वीर है । ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त और मन्दाकिनी इसके आश्रय है । राजपुरोहित की निर्भीकता में धर्मवीरता देखी जा सकती है । चन्द्रगुप्त तो साहस और शौर्य का पुतला ही है । रामगुप्त का दुराचार, शकराज की घृण्य आकाक्षा और शिखरस्वामी की धूर्तता उद्दी-

पन का काम करते है । शकराज से चन्द्रगुप्त का द्वन्द्व-युद्ध और रामगुप्त का चन्द्रगुप्त पर आघात करने के प्रयास मे विफल होकर स्वय धराशायी होना वीररस के अनुरूप अत्यन्त नाटकीय स्थल है । वीरोत्साह और आवेशमयी उक्तियो का तो इस नाटक मे प्राचुर्य है ।

अन्तिम अक मे चन्द्रगुप्त का लौह-शृ खला तोडकर अपने को शकराज के समस्त अधिकारो का स्वामी घोषित करना आत्मविश्वासी वीरदर्प का एक अप्रतिम उदाहरण है । मन्दाकिनी की अग्रसरता भी कम उत्साहजनक नही । जिस उत्साहपूर्ण सौमनस्य से वह सबको एक बार अन्तिम बल से राष्ट्र और सम्मान की रक्षा के लिए रण-प्रेरणा देती है, वह देखते ही बनता है । पहले अक के अन्त मे उसका अभियान-गीत भी वीररस की सिद्धि मे सहयोग देता है । वीर के प्रमुख सहयोगी शृ गार के दो प्रसग इस नाटक मे है । ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के प्रणय मे गहरी आन्तरिकता होने के कारण वह कभी-कभी परकीया-भाव के सगोपनीय माधुर्य से ओतप्रोत हो उठा है ।

प्रथम अक के अन्त मे चन्द्रगुप्त के आकस्मिक आलिगन की स्मृत्यात्मक अनुभूति मे डूबी हुई ध्रुवस्वामिनी क्षणभर के लिए जैसे मुग्धा नायिका ही हो उठती है—'इस वक्षस्थल में दो हृदय है क्या ? जब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है तब ऊपरी मन 'ना' क्यो कहला देता है ।' प्रगल्भ विदग्धता से भरी उसकी यह उक्ति भी कम मोहक नही— 'मेरी सहचरी, तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेश ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का ।' किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस भावात्मक सम्बन्ध मे सास्कारिक मर्यादा आडे आती है और ध्रुवा को निर्णयात्मक बिन्दु पर पहुँच कर यह सोचना ही पडता है कि क्या वह मानसिक पाप कर रही है । पूर्वोद्धृत उक्तियो में रसानुभूति के अबाधित रह जाने का कारण यह है कि वह क्षण चरम अपमान और चरम भावावेश का है, जिसके आगे बडी से बडी मर्यादा नगण्य हो जाती है । स्थिरता आते ही वह अनुभूति पुन बाधित होने लगती है । शृ गार के दूसरे प्रकरण में इस प्रकार के आरोहावरोह के स्थान पर गम्भीर स्थिरता के दर्शन होते है । लम्पट शकराज के प्रति कोमा की लगन टूट नही पाती और वह प्राय उसके साथ ही मानो उसका अनुवर्तन करती हुई समाप्त हो जाती है । विषम और एकपक्षीय प्रेम का यह एक अनूठा उदाहरण है । समग्र दृष्टि से इसे प्रद्योतक प्रकरण कह सकते है, क्योकि कोमा की निष्ठा देखकर ध्रुवस्वामिनी नये सिरे से अपने विषय में विचार करने को विवश होती है ।

अन्य रसो में हास्य उल्लेखनीय है जो बौने कुबडे आदि के प्रसग में है । विनोद के इस प्रसंग मे नाटकीय प्रयोजन का समावेश करके प्रसाद ने उसे अतिरिक्त प्रतीत होने से बचा लिया है । रस के सदर्भ मे अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि इस नाटक की परिणति मे प्रसाद 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' जैसा शमात्मक प्रभाव तो नही उत्पन्न कर सके हैं, किन्तु मुक्ति को मिलन तक न पहुँचाकर उन्होने इसकी एक सभावना अवश्य बनी रहने दी है । रामगुप्त की मृत्यु वाछनीय होने पर भी अपना घटनात्मक

सहज अवसाद उत्पन्न करती ही है और नाटककार पक्षीय सफलता के प्रहर्ष को इसके द्वारा किंचित् धूमिल बनाकर छोड जाता है। न्यूनाधिक यह स्थिति शमात्मक कही जा सकती है।

नारी समस्यापरक एव नायिका प्रधान होने के कारण इस नाटक के नारी चरित्रो मे विशेष प्रखरता और दीप्ति के दर्शन होते है। ध्रुवस्वामिनी, मदाकिनी और कोमा इसके प्रधान नारी चरित्र है। ध्रुवस्वामिनी प्रमुख पात्र है और उसकी समस्या नाटक की प्रमुख समस्या। नाटक के नामकरण का भी यही आधार है। इस ऐतिहासिक वृत्त को प्रस्तुत करने वाली अन्य कृतियो मे ध्रुवस्वामिनी को ध्रुवा, ध्रुवदेवी तथा ध्रुवस्वामिनी देवी की सज्ञाओ से भी विवक्षित किया गया है, किन्तु प्रसाद ने राजशेखर के मुक्तक मे प्रयुक्त प्रस्तुत नाम को स्त्रीजनोचित, सुन्दर, आदरसूचक और सार्थक होने के कारण वरीयता दी।

ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व इस सज्ञा के अनुरूप है भी। उसमें आत्मसम्मान की प्रखर ज्योति है। इसकी रक्षा के लिए वह आत्मविसर्जन तक करने के लिए तैयार है। पुरुषो ने स्त्रियो को अपनी पशुसम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अपना जो अभ्यास बना लिया है, वह उसके साथ नही चल सकता। यदि उसका तथाकथित पति उसकी रक्षा नही कर सकता, अपने कुल की मर्यादा और नारी का गौरव नही बचा सकता, तो वह उसे बेच भी नही सकता। उसमें दृढता है। वह महादेवी के गौरव पद को ठोकर मार देती है और रामगुप्त से सम्बन्ध-विच्छेद करके ही मानती है। उसकी दृढता का यह अर्थ नही कि उसमे स्त्रीजनोचित सौकुमार्य की कमी है। नारीजनोचित कोमलता की उसमे कोई कमी नही, किन्तु आत्मसम्मान की भावना उसकी अपेक्षा कही प्रबलतर है। रामगुप्त तो उसकी भर्त्सना का पात्र है ही, यदि चन्द्रगुप्त भी उसके आत्म-गौरव पर प्रहार करता तो वह उसे भी न बख्शती। अपने स्त्रीत्व और पत्नीत्व की रक्षा के लिए विद्रोह भी वह तब करती है, जब उसके आगे विकल्प नही रह जाता। उससे पूर्व वह रामगुप्त से प्रार्थना करती है और उसकी विलास-सहचरी तक बनने के लिए तैयार हो जाती है, किन्तु इस आत्मसमर्पण के बाद भी विफल होने पर वह क्रोधा-विष्ट सर्पिणी के समान फन फैलाकर खडी हो जाती है और कटुतम शब्द-विष उगलने लगती है। दाम्पत्य-जीवन की यह दुर्वह विसगति उसके भावनात्मक स्त्रीत्व को स्वाभा-विक रूप से ही चन्द्रगुप्त की ओर मोड देती है जो उसकी अन्यथा स्थिति मे भी उसके प्रति अनुरक्त बना रहा है। यही चन्द्रगुप्त जब उसके क्षुद्र, दुर्बल नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा देता है, तो वह उसके उपकार और स्नेह की वर्षा में भीग उठती है। उसका स्त्रीत्व भाव-विगलित हो उठता है और वह चन्द्रगुप्त के स्नेहाधीन पौरुष के आगे बिछ सी जाती है। उसका जीवन-मरण अब चन्द्रगुप्त के साथ बँध जाता है। शक-शिविर में वह अब उसे अकेला नही जाने देगी। मृत्यु और निर्वासन

का सुख वह अकेले ही ले ले, ऐसा नही हो सकता। साहस की उसमें पहले भी कमी नही थी, चन्द्रगुप्त का सान्निध्य उसे दुस्साहस की सीमा तक मजबूत बना देता है।

वह मरण के भय से ऊपर, बहुत ऊपर उठ जाती है, जहाँ तक कि शकदुर्ग मे निर्णायक द्वन्द्व के क्षणो मे भी वह प्रगल्भतापूर्ण हासपरिहास कर सकती है। अपने नाम के अनुरूप ही उसमे ध्रुवता है, विद्रोह करने का साहस है और विपत्तियो से टकराने की शक्ति है। राजकुलोचित शालीनता उसमे अवश्य है, किन्तु उसके छद्म मे वह आत्म-गौरव की बलि नही दे सकती। सामाजिक मर्यादा के प्रति भी उसमें विचारशीलता है किन्तु उसकी रूढिगत प्रवंचना का शिकार होने के लिए वह कदापि तैयार नही। वह सही अर्थों मे आधुनिक जाग्रत नारी का प्रतिनिधित्व करती है।

मन्दाकिनी सत्साहसमयी प्रगतिशील युवती है। मानवता और न्याय के पक्ष का समर्थन करने के लिए वह स्वभाव से ही प्रतिबद्ध है। न उसे शासन का आतंक विचलित कर सकता है और न परम्परायुक्त सामाजिकता का निरर्थक दंभ ही। वह नारी है, अत नारी-मन की व्यथा वह समझती है और उसके निवारण के लिए पूरे आत्मविश्वास के साथ प्रस्तुत रहती है। उसकी उस बँधे-बँधाए रूढिग्रस्त जीवन मे आस्था नही, जो नारी को सरल प्रवर्तन-चक्र मे घूमने से रोक दे। ध्रुवस्वामिनी की द्विधाग्रस्त मानसिकता का अनुभव कर लेने के बाद वह सरल प्रवर्तन अर्थात् रामगुप्त से मुक्ति और चन्द्रगुप्त से सयोग की दिशा मे प्रयत्नशील होती है। उसमे प्रगतिशील आदर्श-बुद्धि है।

उसके व्यक्तित्व का एक पहलू और भी है, जो उसे अतिरिक्त व्यापकता और गौरव प्रदान करता है। यह है उसकी राष्ट्रवादिता। शकराज द्वारा शिविर के घेर लिये जाने पर वह जिस उत्साह के साथ सबको सगठित होकर राष्ट्र और वश के लिए युद्धरत होने की प्रेरणा देती है, वह राष्ट्रवाद का अनूठा उदाहरण है। इतना ही नही वह अवसर आने पर स्वय वाहिनी का नेतृत्व करती हुई अपने प्रोत्साहनमय अभियान-गीत से सैनिको का मनोबल दृढतर करती है। उसका यह रूप 'चन्द्रगुप्त' की अलका का स्मरण कराता है। निश्चय ही मन्दाकिनी की चरित्र-कल्पना मे स्वातन्त्र्य-सग्राम की वीर युवतियो के व्यक्तित्व की छाप है। वह स्वतन्त्र विचार शक्ति से सम्पन्न आधुनिक प्रगतिशील नारी-वर्ग की प्रतिनिधि है। उसमे तदनुरूप ही नारी-सम्मान की प्रखर चेतना है और उसके लिए यथाशक्ति सब कुछ गुज़रने का सत्साहस है। उसकी निर्भीक स्पष्टवादिता उसकी चारित्रिक दृढ़ता का प्रमाण है।

शकराज की अनुरक्ता कोमा भावनामयी सरलहृदया बाला है। उसके जीवन में प्रेम की ऋतु आ चुकी है और वह विश्व का सारा कुछ उसी के आलोक में देखती है। संसार के लिए प्रेम पागलपन, भूल या कि दुःखस्रोत हो सकता है, किन्तु उसके लिए एकमात्र वही काम्य है। उसकी यह निष्ठा यौवनोन्मुख नारी-मन की चंचल भावुकता-

मात्र नही। वह उसकी आन्तरिक वास्तविकता है, उसका जीवन-मूल्य है, उसके समग्र व्यक्तित्व की रीढ है। शकराज से आत्यतिक तिरस्कार पाकर भी उसका स्वदेश लौटने के लिए अपने को तैयार न कर पाना और अन्ततः शकराज के शव के साथ सती हो जाने का निश्चय उसकी गहन निष्ठा के अतर्क्य प्रमाण है। ध्रुवस्वामिनी का कहना सही है कि वह प्रेम के नाम पर इसलिए जलना चाहती है कि उसे जीवित रहने पर अधिक शीतलता मिल चुकी है और उसका जीवन धन्य है।

कोमा के जीवन में आलोक का वह महोत्सव आ चुका है, जिसमे हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है उदार बनता है और सर्वस्वदान करने का उत्साह रखता है। उसी दिन से वह अनुभूतिमयी बन गयी है, जिस दिन शकराज की स्नेह-सूचनाओ की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापो ने उनके मन के नीरस और नीरव शून्य मे सगीत की, वसत की और मकरन्द की सृष्टि की थी। स्त्रीत्व की इस कोमल आनुभूतिकता ने उसे एक ओर जीवन की सहज दृष्टि दी है और दूसरी ओर नारीत्व के सम्मान की चेतना। उसे युद्ध-विग्रह प्रिय नही, क्योकि उसके मूल मे अपने को अभावमयी लघुता मे भी महत्वपूर्ण दिखाने की प्रवृत्ति होती है। शकराज अपने से बडे के प्रति थोडा सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकता था। कोमा के मतानुसार जीवन का प्राथमिक उल्लास-प्रेम मनुष्य के भविष्य मे मगल और सौभाग्य को आमन्त्रित करता है और उससे उदासीन न होना चाहिए। अपनी व्यावहारिक बुद्धि से यदि वह शकराज के राजनीतिक प्रतिशोध का औचित्य स्वीकार भी कर ले, तो उसे उसके वर्तमान व्यावहारिक रूप से असतोष है जिसमें एक नारी को उसके पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए अनर्थ करने की योजना है। किसी सीमा तक उसका यह विरोध सापत्न्य-भाव से भी प्रेरित माना जा सकता है, किन्तु इसका बृहत्तर श्रेय उसकी स्त्रीत्व के प्रति सम्मान भावना को ही देना होगा। शकराज से स्वयं उपेक्षित होकर वह नारी-मन की वेदना का अनुभव करने लगी है, अत नारी होने के नाते उसे ध्रुवस्वामिनी से सहानुभूति हो जाती है। सापत्न्य-भाव से अलग, उसके व्यक्तिगत अह को भी यह सोचकर ठेस लगती है। कि उसके शकदुर्ग में रहने पर शकराज को अपने भाव छिपाने के लिए उससे बनावटी व्यवहार करना होगा, जिसे पग-पग पर अपमानित होता हुआ उसका हृदय नही सह सकेगा। उसके वैयक्तिक अह का ही एक पहलू यह भी है कि वह शकराज को पतित और दुर्बल नही देख सकती। उसने दर्प से दीप्त महत्वमयी पुरुषमूर्ति की पूजा की थी, न कि इस स्वार्थमलिन कलुष से भरी मूर्ति की। अत. शकराज का पतन उसके आत्म-सम्मान को श्रीहत करता है और इस बिन्दु पर आकर वह दृढतापूर्वक शकराज की उपेक्षा करके चल देती है।

यह सही है कि शकराज से उसका यह कहना है कि वह उसे प्यार नही करती—मिथ्या भाषण है, आत्म-प्रवंचना है और इस आत्मतथ्य से वह सुपरिचित भी है, किन्तु

उस जैसी समर्पिता युवती के लिए यह अपमानपूर्ण उपेक्षा-प्रदर्शन ही क्या कम है। कोमा की विशिष्टता यह है कि वह अविचल प्रेममयी होकर भी स्त्रीत्व के आत्मगौरव के प्रति जागरुक रहती है। अपनी भावमयता मे वह प्रसाद की कवि-कल्पना की कोमलतम सृष्टियो मे से एक है।

पुरुष-पात्रो मे चन्द्रगुप्त और रामगुप्त की चरित्र-रेखाएँ विशेष रूप से उभारी गयी है, शेष शिखरस्वामी, शकराज, मिहिरदेव, पुरोहित आदि पात्रो की प्रमुख वृत्ति का अनुकथन पर्याप्त समझा गया है। इस अल्पावधि वृत्त मे इससे अधिक के लिए अवकाश भी नही था। फिर, नारी प्रधान वस्तुविषय होने के कारण इन सबके सर्वांगीण चरित्र-चित्रण का कुछ विशेष औचित्य भी नही। अत नाटककार ने आधिकारिक वृत्त मे सीधे सम्बद्ध पुरुष-पात्रो के ही चारित्रिक विश्लेषण मे रुचि ली है। चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी का प्रमुख अथवा एकमात्र कार्यसाधक है। एक प्रकार से वह ध्रुवस्वामिनी के अधूरे व्यक्तित्व का पूरक है। ध्रुवा का पक्ष मानवीय दृष्टि से औचित्यपूर्ण होने पर भी अपनी फलप्राप्ति के लिए साहस और शक्ति की अपेक्षा रखता है। ध्रुवा के साहस की परिणति वाग्युद्ध में हो सकती है या अधिक से अधिक वह आत्महत्या कर सकती है। अत उसकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए चन्द्रगुप्त एक निर्विकल्प अनिवार्यता है।

चन्द्रगुप्त मे असीम सत्साहस है, अपराजेय पौरुष है और प्रचण्ड पराक्रम है। वश और साम्राज्य के गौरवरक्षण के लिए वह यम से भी टकराने का साहस रखता है। फिर ध्रुवा उसकी वशीय गरिमा की प्रतीक होने के साथ-साथ उसकी अपनी व्यक्तिगत दुर्बलता भी है। नारी होने के नाते भी वह संरक्षण की अधिकारिणी है। शकराज के प्रस्ताव की स्वीकृति के पूर्व उसने अपने वश और साम्राज्य की प्रतिष्ठा बनी रहने देने के लिये ही अपने को अलग कर लिया था, यद्यपि प्रयत्न करके भी वह अपनी वाग्दत्ता और प्रिया की छवि हृदय से नही निकाल सका था। खड्गधारिणी के माध्यम से भेजा गया उसका सदेश उसकी मानव सुलभ दुर्बलता ही है, जिसके लिये वह केवल सहानुभूति का पात्र है। उसमे न तो लम्पटता का विकार ही है और न ही साम्राज्य हथियाने की वह कोई साजिश करता है। उसे इतना ही तो संतोष चाहिये कि कोई उसे विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है। अभ्युदय के लिए उसे अपने बाहुबल और भाग्य पर ही विश्वास है, किन्तु ध्रुवस्वामिनी से रहित अभ्युदय में उसे कोई उत्साह नही। अपनी कोमल दुर्बलता लिए हुए वह उदासीन हो जाता है और जीवित रहने के लिए उसके विश्वास का प्रार्थी बनता है। जब उसे यह विश्वास मंगलाकाक्षा से भी समन्वित होकर मिलता है, तो ध्रुवा के प्रति उसकी निष्ठा और भी गहरी हो जाती है। ध्रुवा के सम्मान-रक्षण के प्रसंग में वशीय, नैतिक और मानवीय औचित्य होने पर भी मुख्यत यही गहन निष्ठा उसे हस्तक्षेप की प्रेरणा देती है। ध्रुवस्वामिनी की उत्तरोत्तर बढती हुई आत्मीयता उसे अधिकाधिक दृढता से बाँधती चली जाती है, किन्तु वह अपनी ही बनायी पारिवारिक

मर्यादा की लक्ष्मणरेखा तब तक नही लाघता, जब तक ध्रुवा के प्रति रामगुप्त का अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच कर उसकी सहनशक्ति का अतिक्रमण नही कर जाता। वैसी स्थिति आ जाने पर वह लौहश्रृङ्खला तोडकर अपने को समुद्रगुप्त द्वारा निर्वाचित युवराज घोषित कर देता है और सारे अधिकार-सूत्र अपने हाथ मे कर लेता है।

चन्द्रगुप्त वीर है और उसका सयम भी वीरोचित है। वह विनयशील है, किन्तु जिस बिन्दु के बाद विनय कायरता कहलाने लगती है उस पर उसे रुककर दिशा-परिवर्तन करना ही पडता है। चन्द्रगुप्त एक तेजस्वी चरित्र है। सामन्ती वीरता के आकाश का वह एक ज्वलन्त नक्षत्र है।

सुरा और सुन्दरियो मे निरन्तर डूबा रहनेवाला रामगुप्त अशक्त, निर्लज्ज और कपटाचारी है। कोई अजब नही यदि वह ध्रुवस्वामिनी से विवाह के अवसर पर द्राक्षसवरस मे डुबकी लगाता रहा हो। वह विलासी है और इससे महत्तर उसे कुछ भी नही प्रतीत होता। साम्राज्य उसे विलास-तृप्ति के लिये ही चाहिये। उसे सुरक्षित रखने की उसमे शक्ति नही, अत वह प्रवंचना का पथ अपनाता है। मेघ-संकुल आकाश की तरह उसका भविष्य घिरा है, अत उसकी दुष्ट बुद्धि बिजली के ही समान चमकती है। वह अशक्त और अविवेकी है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे मूर्ख नही कह सकते। भीतर और बाहर के समस्त शत्रुओ को एक ही चाल मे परास्त कर देने की उसकी कुटिल योजना काफी सुविचारित है। इस योजना के असफल होने पर वह ध्रुवस्वामिनी तथा उसके पक्ष के लोगो को जिस प्रकार वाग्जाल में फाँसने का प्रयत्न करता है, वह भी उसके कूट-चातुर्य का ही परिचायक है। वस्तुतः उसकी दिशा ही गलत है, अतः उसे अपनी योजनाओ के सारे विपरिणाम स्वय भोगने पडते है। ध्रुवस्वामिनी के शब्दो मे वह प्रवंचना का पुतला है और स्वार्थ का घृणित प्रपच। पुरोहित उसे 'गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव' करार देता है। परिषद् के सम्मानित सदस्य उसे अनार्य, पतित, क्लीव और गुप्त-साम्राज्य के पवित्र सिंहासन पर बैठने का अनधिकारी घोषित करते है। रामगुप्त अपने आचरण से इन विशेषणो का वास्तविक अधिकारी है। नाटककार ने उसे इसी रूप मे प्रस्तुत करना भी चाहा है, अन्यथा उसके चरित्र के कुछ और भी पहलू सामने लाये जा सकते थे, जो कि नाटककार द्वारा बलपूर्वक दबाये जाने के बावजूद अपने अस्तित्व का संकेत दे ही देते है और जिनके कारण वह शायद इतना घृण्य और हेय न माना जाता।

ध्रुवस्वामिनी के प्रति उसकी स्वार्थान्ध अनीति के मूल मे उसकी चारित्रिक विकृति अवश्य है, किन्तु मानवीय दृष्टि से वह एकान्त अक्षम्य और अनुचित भी नही। वह निस्सन्देह कायर और विलासी है, किन्तु उसके कुचक्र और निष्ठुर दुष्कर्म का उत्तरदायित्व बहुत कुछ उसकी प्रतिकूल परिस्थितियो पर भी है। वह चन्द्रगुप्त से आशंकित है और ध्रुवा का उसके प्रति अनुरक्त होना एक भयावह भविष्य की ओर संकेत करता

है। खड्गधारिणी का अभिनय मूलत. चन्द्रगुप्त से प्रेरित और उसके पक्ष मे होने पर भी उसे वास्तविक स्थिति का आभास तो दे ही देता है। उसने स्वयं कुज मे छिप कर ध्रुवस्वामिनी के मनोभाव का परिचय पा लिया है। इस स्थिति मे वह उसे अंगीकार करे भी तो कैसे। जो स्त्री दूसरे के शासन मे रहकर किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती है, उसमें एक गभीर और व्यापक रस अवश्य उद्वेलित रहता होगा, किन्तु उससे यह भी तो भय है कि वह न जाने कब चोट कर बैठे। और फिर प्रेमी कोई और नही, उसका प्रबल प्रतिस्पर्धी चन्द्रगुप्त है, अत. भीतर भीतर कुचक्र-रचना की पूरी संभावना है। उसका कहना सही है कि ध्रुवस्वामिनी सोने की कटार है, जिस पर मुग्ध होकर भी कोई उसे अपने हृदय मे नही डुबा सकता। यदि उसकी पारिवारिक स्थिति इतनी विडम्बनापूर्ण न होती, तो शायद वह शकराज के प्रतिरोध या परितोष के लिए कोई अन्य उपाय सोचता। कूटबुद्धि की उसमे कमी नही। शकराज द्वारा शिविर घेर लिये जाने की सूचना पाते ही उसका मस्तिष्क ऐसी कोई योजना बनाने मे व्यस्त हो जाता है, जिससे सारे शत्रु एक साथ समाप्त हो जाएँ। शिखरस्वामी के आगे अपना गूढ मन्तव्य वह धीरे-धीरे प्रकट करता है और अन्तत सारी स्थितियो को अपनी योजना के कार्यान्वयन-बिन्दु पर ले आता है।

वह विलासलोलुप अवश्य है, किन्तु इस सीमा तक नही कि अपना आगा-पीछा भूल जाये। ध्रुवस्वामिनी के सौन्दर्य से अभिभूत होकर भी वह उसके आत्म समर्पण की अवहेलना कर देता है, क्योकि व्यावहारिक कूटबुद्धि का यही तकाज़ा है। उसमे विलास-रसिक पुरुष का सौन्दर्यबोध भी है। ध्रुवा को सोने की कटार कहना उसकी विदग्धता का परिचायक है। निश्चय ही रामगुप्त के चरित्र-चित्रण मे नाटककार की दृष्टि पूर्वाग्रहमयी और एकागी रही है। उसे उतनी मानवीय संवेदना नही प्राप्त हो सकी, जितनी मिलनी चाहिए थी। वह उतना बुरा नही है जितना उसे बना दिया गया है—कुछ नाटककार के द्वारा और बहुत कुछ अमात्य शिखरस्वामी द्वारा, जिस पर उसका अखण्ड विश्वास है। नाटककार की मानवीय सवेदना मिलने पर परिणाम मे वह भले ही वर्तमान दुर्गति को प्राप्त होता, किन्तु पाठक या दर्शक की दृष्टि मे इतना गिरा हुआ निश्चय ही न होता जितना कि है।

शेष पुरुष-पात्रो में शिखरस्वामी की चारित्रिक रेखाएँ विशेष उभर सकी है। वह परले सिरे का धूर्त और स्वार्थी है। चन्द्रगुप्त के शब्दो मे वह 'कुटिलता की प्रतिमूर्ति' है और पुरोहित के शब्दो में 'राजनीतिक दस्यु'। अपनी दुष्ट-बुद्धि और वाक्चातुर्य के बल पर वह सर्वथा गलत काम को नीति का जामा पहना देता है। वह अवसर-चतुर है। जब तक रामगुप्त के हाथ में शक्ति रहती है, वह उसके पक्ष में छद्मनीति की बातें करता रहता है, किन्तु जिस क्षण सारे अधिकार चन्द्रगुप्त के हाथ मे जाने लगते है वह तुरन्त पैतरा बदल देता है और पारिवारिक विवाद के निर्णय के लिए परिषद्

के आयोजन की बात कहता है। उसका यह कथन कितना धूर्ततापूर्ण है कि उसे चन्द्रगुप्त के आधिपत्य से कोई विरोध नही किन्तु सब काम विधान के अनुकूल होना चाहिये। वह दुर्नीति-शास्त्र का वृहस्पति है। अपनी धूर्त-बुद्धि के ही बल पर वह विनाश के टूटते कगार पर पहुँच कर भी छलाग लगाकर उस पार की सुरक्षित भूमि मे पहुँच जाता है।

मिहिरदेव आदर्शवादी सहृदय आचार्य है। राजतन्त्र मे रहकर भी विश्वनीति और विश्वमानव की बात करते हैं। उनमे सदाशयता है, किन्तु शकराज की राजनीति मे उसके लिये स्थान नही। अत उन्हे उसका फल भोगना पडता है। वे राजतन्त्र की मानवीय विडम्बना के शिकार बन जाते हैं। शकराज बर्बर प्रतिहिंसा का क्रूरतम रूप है। कभी उसमे मानवोचित सहृदयता और प्रेम भावना रही होगी, किन्तु अधिकार और शक्ति ने उसे मदान्ध बना दिया है। वह कामुक है और अविवेकी भी। उसकी बर्बर सस्कृति के अनुरूप ही उसमे प्रबल अन्ध विश्वास है। वह गुप्त-साम्राज्य के सैनिक शिविर को घेरने से नही डरता, किन्तु नील-लोहित धूमकेतु के दर्शन-मात्र से गिडगिडाकर शरण याचना करने लगता है। अपने चरित्र के अनुरूप ही वह वीभत्स अन्त को प्राप्त होता है।

पुरोहित आदर्श ब्राह्मणत्व का प्रतिनिधि-चरित्र है। धर्मशास्त्र के व्याख्याता और व्यवस्थापक में जैसी अमलिन विवेक-बुद्धि और उसके अनुकथन के लिए जितनी स्पष्ट-वादिता व निर्भीकता होनी चाहिए, वह उसमे है। राजनीति मे उसका कोई दखल नही, किन्तु धर्मशास्त्र का तो वह एकमात्र मुख है। सारी स्थिति समझ लेने के बाद निर्णय देने में उसे कोई सकोच या घबराहट नही होती। वह केवल धर्म से भयभीत है, अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता है। रामगुप्त के बधिक उसे धार्मिक सत्य कहने से रोक नही सकते। प्रसाद के नाटको मे उभरने वाले आदर्श ब्राह्मण-चरित्रो की शृङ्खला की वह अन्तिम किन्तु सर्वाधिक सशक्त कडी है।

चरित्र-विधान के ही समान इस नाटक के संवाद भी बडे जीवन्त, चुस्त सक्षिप्त और तीखे है। कदाचित् यह प्रसाद का एकमात्र नाटक है, जिसके संवादो मे एक भी पक्ति अनावश्यक या अतिरिक्त नही है। वृत्त की लघुता के कारण घटनाओ एव चरित्रो में जो त्वरा लक्षित होती है, वही कथोपकथनो मे भी है। वाद-विवाद की जैसी प्रखरता और विदग्धता उग्र मतभेद के प्रसगो मे स्वाभाविक मानी जा सकती है, इसमे अपनी पूरी सहजता से विद्यमान है। प्रथम अक में ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त, द्वितीय अक मे चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी तथा अन्तिम अक मे ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त और रामगुप्त, के सवाद इसके श्रेष्ठतम स्थल है। व्यंग्य इसका प्रमुख घटक है। ध्रुवस्वामिनी की उक्तियो में यह तत्व सर्वाधिक है। रामगुप्त के प्रति उसकी इस उक्ति मे कितना चुटीला

व्यंग्य है—'इस प्रथम सम्भाषण के लिए मैं कृतज्ञ हुई महाराज ! किन्तु मैं भी यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त-साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बढा है ?' पुरोहित के प्रति उसका यह कथन—'हाँ, आप और झूठ, नही स्वयं आप ही मिथ्या है' भी उसके हार्दिक विक्षोभ की चुटीली अभिव्यक्ति है। उमडते हुए आक्रोश को दबाकर धीर व्यंग्य की वृत्ति शिखर-स्वामी के प्रति इस उक्ति में देखी जा सकती है—'यह तो हुई राजा की व्यवस्था। अब सुनूं मत्री महोदय क्या कहते है।' वैविध्यपूर्ण तीक्ष्ण व्यग्य शकराज के शिविर मे स्त्री वेशधारी चन्द्रगुप्त के प्रति कही गयी इस उक्ति मे है—'अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्महत्या जैसा प्रसग तो नही है।' यो, विदग्धता सर्वाधिक रामगुप्त की वाणी मे है। विलासी रामगुप्त स्वभावत: वाग्विदग्ध है। एक उदाहरण दिया जा रहा है—

'तुम सुन्दर हो, ओह—कितनी सुन्दर, किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय मे नही डुबा सकता। तुम्हारी सुन्दरता-तुम्हारा नारीत्व-अमूल्य हो सकता है। फिर भी अपने लिए मैं स्वय कितना आवश्यक हूँ, कदाचित् तुम यह नही जानती हो।'

शिखरस्वामी भी वाक्चतुर है। उसके एक-एक शब्द में धूर्तता भरी हुई है।

कुछेक भावात्मक स्थलो को छोडकर इसमें लम्बे तथा काव्यात्मक सवादो का अभाव है। आरभ मे ध्रुवस्वामिनी का आकाशभाषित कुछ लम्बा है, किन्तु पूर्ववृत्त और अन्त पुर की परिस्थिति का परिचायक होने के कारण वह अनुचित नही प्रतीत होता। अब की सीमा तक पहुँचाने वाला विस्तार भी उसमे नही है। फिर, ध्रुवस्वामिनी की विचार-शृङ्खला के एकाधिक सूत्र होने के कारण उसमें एकरसता नही आने पायी है। अन्तिम अक मे परिषद् की कार्यवाही के प्रसग मे मन्दाकिनी कुछ अधिक बोलती है, किन्तु वह भी पक्ष-प्रतिपादन की दृष्टि से आवश्यक ही कहा जाएगा। भावनात्मक विस्तार के स्थल केवल तीन हैं—प्रथम अक मे चन्द्रगुप्त के स्पर्श से उद्वेलित ध्रुवस्वामिनी का आत्मालोचन, द्वितीय अक के आरंभ मे प्रेम और वर्तमान स्थिति को लेकर कोमा की स्वगतोक्ति और तीसरे अंक मे कोमा के जाने के बाद अपनी स्थिति को लेकर उद्विग्न ध्रुवस्वामिनी की आमशीलकता। प्रथम दो मे कवित्व का सम्मोहन है और अन्तिम में वितर्क की तीक्ष्णता। कहना न होगा कि तीनो ही प्रासंगिक दृष्टि से आवश्यक एवं स्वाभाविक है। अनुपयुक्त वे तब कहे जा सकते थे, जब उनमें अनावश्यक बातें होती और वे नाट्य-व्यापार में अवरोध उत्पन्न करते। प्रसाद ने इसका पूरा पूरा ध्यान रखते हुए उन्हें नाटकीय सक्रियता के उपकारक रूप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक का वृत्त ही ऐसा है कि इसमें बाह्य क्रिया व्यापार के लिए अन्तर्मंथन की पृष्ठभूमि एक आवश्य-कता बन गयी है। उपर्युक्त तीनो ही स्थल अन्तर्मंथन के हैं और उनसे बाह्य द्वन्द्व को

सम्बल मिलता है। अन्यत्र ये ही पात्र अल्पतम शब्दो मे त्वरापूर्ण बहस करते है। भावमयी कोमा की शकराज से बहस इसका एक अच्छा उदाहरण है। शकदुर्ग मे चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का वार्तालाप भी ऐसा ही है।

वस्तुत इस नाटक की सवाद-योजना सर्वत्र स्थिति के अनुरूप है। बोलने वाले पात्र के मानसिक और वैचारिक स्तर का भी ध्यान रखा गया है। यदि पुरोहित की उक्तियो मे स्थैर्य और गाम्भीर्य है तो शकराज के सवादो मे असभ्य त्वरा। त्वरा रामगुप्त के सवादो मे भी है, किन्तु सास्कृतिक स्तर उच्च होने के कारण उसमें वैदग्ध्य मिलेगा। शकराज के सैनिको की मद्यपोचित बाते तथा बौने-कुबडे आदि की हल्की विनोदात्मक उक्तियाँ भी सर्वथा समीचीन है। सवादो का इतना सुनियोजित कसाव प्रसाद के अन्य किसी भी नाटक में नही मिलेगा।

प्रसाद की यह अन्तिम नाट्यकृति उनकी प्रयोगधर्मिता के महत्वपूर्ण निष्कर्ष लेकर सामने आयी है। उन्होने भारतीय नाट्य-पद्धति को आधुनिक और अपने समय की दृष्टि से अद्यतन बनाना चाहा था, जिसके विशिष्ट उपकरण उन्हे पाश्चात्य पद्धति में दिखायी पडे थे। उन्होने उनके ग्रहण की प्रक्रिया को धीरे-धीरे विस्तार दिया और अन्त में उसकी एक सतुलित अवतारणा कर दी। 'ध्रुवस्वामिनी' मे इस सतुलित या समन्वित नाट्य-दृष्टि का प्रतिफलन देखा जा सकता है। द्वन्द्व प्राधान्य इसकी प्रमुख विशेषता है। विरोध-तत्व को उन्होने प्रायः सभी नाटको में प्रधानता दी है और इसके कारण उन्हे अपने यहाँ की नाट्यशास्त्रीय मान्यताओ का कुछ मोह निश्चय ही त्यागना पडा है। प्रस्तुत नाटक में यह तथ्य सर्वाधिक उभरा हुआ है। यही कारण है कि सधियो, अर्थ प्रकृतियो तथा कार्यावस्थाओ की परम्परित कसौटी पर यह नाटक भयंकर रूप से असफल प्रमाणित होता है। यो, इन रूढ मान्यताओ का आशिक रूप इसमें अवश्य मिलेगा और अकीय समीक्षा में उसका यथास्थान निर्देश भी किया ही गया है, किन्तु उसे पकड कर समग्रत. पूर्वापर-निर्वाह का शास्त्रीय प्रयास प्रस्तुत सदर्भ में अशास्त्रीय ही कहा जायेगा।

हिन्दी-नाटक को यथार्थ के सन्निकट लाने के प्रयास मे प्रसाद को अनेकानेक रूढियाँ तोडनी पडी है और पाश्चात्य पद्धति की बहुत सी बातो को ग्रहण करना पडा है। यही कारण है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में रामगुप्त, शकराज, शक सैन्य-वर्ग आदि को मच पर बेझिझक मद्यपान करते हुए दिखाया गया है। शकराज और रामगुप्त की हत्या भी अभिनीत की गयी है, जो भारतीय नाट्य-पद्धति की दृष्टि से नितान्त वर्जना का विषय है। रामगुप्त का अन्त तो फलागम के ही साथ दिखाया गया है जिसके कारण नाटक एकान्त सुखात्मक नही रह पाता। शमात्मक पर्यवसान प्रसाद की प्रायः सभी नाट्यकृतियो में मिलेगा, किन्तु मरणात्मक फलागम का यह अकेला

उदाहरण है। ऐसा कदाचित् इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि अपनी सहज गति से सम्पूर्ण वृत्त की नियति सुखान्त होने की ही बन चुकी थी। इस नियति तोडने के लिए यह आकस्मिक आघात अनिवार्य हो गया। ऐसा न होने पर नाटक प्रसादान्त न हो पाता। 'क्लाइमेक्स' भी इसमे दो हो गये है। शकराज से चन्द्रगुप्त का द्वन्द्वयुद्ध पहला 'क्लाइमेक्स' है और परिषद् के निर्णय के बाद रामगुप्त का साघातिक प्रयास दूसरा। पूर्ववती नाट्यकृति 'चन्द्रगुप्त' मे भी यह प्रवृत्ति विद्यमान है। अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य भी पाश्चात्य पद्धति की ही देन है।

समस्यापरक वैचारिकता के कारण जो इसे 'थीसिस-प्ले' का रूप मिला है, वह भी आयातित है। 'एक घूट' मे इसकी भूमिका पहले ही बन चुकी थी। मंचीय यथार्थता और सहजता भी इसका एक नूतन प्रयोग है, जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है। प्रस्तावना, नान्दीपाठ, प्रवेशक, विष्कभक, भरतवाक्य आदि का यहाँ प्रश्न ही नही उठता। उन्हे प्रसाद बहुत पहले से क्रमश छोडते चले आये है। यहाँ तक आकर तो उन्हे उनकी स्मृति भी नही रही। गीतो का मोह वे अवश्य नही त्याग सके, किन्तु उसे न्यूनतम अवश्य कर दिया है। पूरे नाटक मे कुल चार गीत है दो मंदाकिनी के, एक कोमा का और एक नर्तकियो का। इनके न होने से भी चल सकता था। नर्तकियो के गीत की एक नाटकीय उपयोगिता यह कही जा सकती है कि इसके कारण व्यतीत होने वाला समय चन्द्रगुप्त के सैनिको की तैयारी का है। मन्दाकिनी का अभियान-गीत प्रसाद की राष्ट्रीय जागरण-भावना का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका सन्निवेश वे अपने ऐतिहासिक नाटको मे अनिवार्य रूप से करते रहे है। यह उनके युग की राष्ट्रीय चेतना थी, जिसके प्रति वे प्रतिबद्धता अनुभव करते थे। शेष दो गीतो का केवल यही औचित्य है कि वे प्रसाद के कवित्व का प्रतिनिधित्व करते है, जिसे इस कृति मे अल्पतम अवकाश मिल सका है। इसे उनकी व्यक्तिगत दुर्बलता भी कह सकते है।

चरित्र-विधान में प्रसाद यहाँ सर्वाधिक जागरुक और पैने है। कम से कम रेखाओ मे अधिकतम उभारने की कला का यह एक श्रेष्ठ निदर्शन है। खड्गधारिणी के अस्तित्व की कल्पना का एक अलग ही सौन्दर्य है। मूलत. वह चन्द्रगुप्त से प्रेरित है, किन्तु रामगुप्त के पक्ष की दृष्टि से यह एक नाटकीय विडम्बना ही है कि जिस काम के लिए वह उसे नियुक्त करता है, उसके लिए वह पहले से ही चन्द्रगुप्त के प्रति प्रतिबद्ध है। नाटककार का कौशल यह है कि वह उसे बडी सफाई से सुरक्षित रह जाने देता है। रामगुप्त उससे कुछ अधिक जिरह कर सके और उसके अधिक बोलने पर कुछ असलियत ताड सके—इसके पूर्व ही प्रतिहारी उसे शकराज के घेराव और युद्ध विषयक मत्रणा की सूचनाओ मे उलझा लेती है। कुबड़े-बौने आदि का मसखरापन भी एक महत्वपूर्ण

नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि करता है। अंकीय पद्धति की संरचना भी मंचन की दृष्टि से उपयोगी है, क्योंकि इसके कारण दृश्य स्वतः कम हो गये हैं और उनके आयोजन की प्रक्रिया नाट्य-व्यापार का ही अंक बन गयी है। प्रसाद की यह अकेली नाट्यकृति है, जो अपने यथावत् रूप में पाठ्य तथा अभिनेय है। पद्धति की दृष्टि से यह हिन्दी की यथार्थोन्मुख नाट्यविधा का पहला सफलतम प्रयोग है।

●